Prem Ras Siddhant (Hindi)

प्रेम रस सिद्धान्त

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणपारावारीण,
वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य, निखिलदर्शनसमन्वयाचार्य,
सनातनवैदिकधर्मप्रतिष्ठापनसत्संप्रदायपरमाचार्य,
भक्तियोगरसावतार, भगवदनन्तश्रीविभूषित
जगद्गुरु १००८
स्वामि श्री कृपालु जी महाराज

॥ श्रीविश्वनाथो विजयते ॥

श्रीमतां यमनियमाद्यखिलयोगाङ्गानुष्ठाननिष्ठानां, भक्तियोगवशीभूतभगवद्भावानां, धार्मिकभूमण्डलमण्डनायमानानां, विविधविद्याम्भोनिधीनां, जगदुद्धारमहाध्वरप्रवर्त्तकानां वास्तवधर्माचार्याणाम्

श्री १००८ स्वामिकृपालुमहाराजानां

समर्हणायां श्रद्धोपनिबद्धः

पद्यप्रसूनोपहारः

यद्भूषणत्वमहनीयपदोपलब्धि-
प्रादुर्भवत्पदविवेचनचातुरीकः ।
शेषाहिरापमहिमानमशेषमान्यं
विश्वेश्वरो विजयतां स दयापयोधिः ॥ १ ॥

वैराग्यार्कमरीचिशोषितजगद्व्यामोहपङ्कः क्षितौ,
नूत्नःकोऽपि सविग्रहःकृतधियामानन्दपुञ्जोदयः
स्वामिश्रीलकृपालुनाममहितः सद्भक्तिपुष्पावली-
प्रोल्लासाय वसन्ततामुपगतः ख्यातः समुद्योतते ॥ २ ॥

यद्व्याख्याननवीनमेघपटलध्वानेन चित्ताटवी
नास्तिक्योपहतात्मनामपि मुदा सूते विवेकाङ्कुरम् ।
स्फूर्जत्तर्कविचारमन्त्रनिवहव्याविद्धदुर्भाविना-
भूतावेशविमर्दिचरं विजयतामेकोऽयमोझो नृणाम् ॥ ३ ॥

नानादर्शनसंविमर्शनकलाकौतूहलैः कोविदान्
खिन्वन् व्याकुलितान् नरान् नयपथं प्रीत्या मुहुः प्रापयन् ।
तृष्णार्तान् भगवत्कथाऽमृतरसैः सिञ्चन्नसौ धीमतां
वाक्पुष्पाञ्जलिपूजितोऽमितगुणाम्भोधिः समुज्जृम्भते ॥४॥

येनाऽस्मिन्निखिलेऽपि भारतमहादेशे विशेषोल्लसत्-
सान्द्रोज्ज्वलभक्तियोगकलितं संस्थापितं मण्डलम् ।
धर्मोद्धारधुरीणभावभाजिना कीर्त्या समं वर्द्धयन्
धन्यो मान्यजगद्गुरूत्तमपदैः सोऽयं समभ्यर्च्यते ॥ ५ ॥

तदीये लोकानामुपकृतिकरेऽस्मिन्नुपगमे
पुरे शम्भोरुद्यत्कतिपयपदाम्भोरुहभरैः ।
श्रुतिस्मृत्युक्तार्थप्रवचनगुरोः संयमिमणेः
कृपालोस्तस्यैषा विलसतु सपर्या बुधगणे ॥ ६ ॥

काशीस्थपण्डितश्रेणी प्रशस्या कुसुमार्चनात् ।
कृपालुस्वामियोगीन्द्रस्वागतं शुभमेधताम् ॥ ७ ॥

मकरसङ्क्रान्तिः
२०१३ वि.

राजनारायणशुक्लः
न्यायाद्याचार्यः (मन्त्री)

नारायणशास्त्री खिस्ते
महामहोपाध्यायः
साहित्यवाचस्पतिः
(अध्यक्षः)

भवदीयोदयैषिणीः—
काशीविद्वत्परिषत्

जगद्गुरु श्री कृपालु जी महाराज

जगद्गुरु श्री कृपालु जी महाराज का जन्म सन् १९२२ ई. में शरत्पूर्णिमा की शुभ रात्रि में भारत के उत्तर प्रदेश प्रांत के प्रतापगढ़ जिले के मनगढ़ ग्राम में सर्वोच्च ब्राह्मण कुल में हुआ।

आपकी प्रारंभिक शिक्षा मनगढ़ एवं कुन्डा में सम्पन्न हुई। पश्चात् आपने इंदौर, चित्रकूट एवं वाराणसी में व्याकरण, साहित्य तथा आयुर्वेद का अध्ययन किया। १६ वर्ष की अल्पायु में ही चित्रकूट में शरभंग आश्रम के समीपस्थ बीहड़वनों में एवं वृन्दावन में वंशीवट के निकट जंगलों में वास किया।

सन् १९५५ में आपने चित्रकूट में एक विराट दार्शनिक सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें काशी आदि स्थानों के अनेक विद्वान् एवं समस्त जगद्गुरु भी सम्मिलित हुए। सन् १९५६ में ऐसा ही एक विराट संत सम्मेलन आपने कानपुर में आयोजित किया। आपके समस्त वेद शास्त्रों के अद्वितीय, असाधारण ज्ञान से वहाँ उपस्थित काशी के मूर्धन्य विद्वान् स्तम्भित रह गये। उस समय आपके संबंध में काशी के प्रख्यात पंडित, शास्त्रार्थ महाविद्यालय (काशी) के संस्थापक, शास्त्रार्थ महारथी, भारत के सर्वमान्य एवं अग्रगण्य दार्शनिक, काशी विद्वत् परिषत् के प्रधानमंत्री आचार्य श्री राज नारायण जी शुक्ल 'षट्शास्त्री' ने सार्वजनिक रूप से जो घोषणा की थी, उसका अंश इस प्रकार है—(कानपुर १९-१०-५६)

''काशी के पंडित आसानी से किसी को समस्त शास्त्रों का विद्वान् नहीं स्वीकार करते। हम लोग तो पहले शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारते हैं। हम उसे हर प्रकार से कसौटी पर कसते हैं और तब उसे शास्त्रज्ञ स्वीकार करते हैं। हम आज इस मंच से इस विशाल विद्वन्मंडल को यह बताना चाहते हैं कि हमने संताग्रगण्य श्री कृपालु जी महाराज एवं उनकी भगवद्दत्त प्रतिभा को पहचाना है और हम आपको सलाह देना चाहते हैं कि आप भी इनको पहचानें और इनसे लाभ उठायें।

आप लोगों के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि ऐसे दिव्य वाङ्मय को उपस्थित करने वाले एक संत आपके बीच में आये हैं। काशी समस्त विश्व का गुरुकुल है। हम उसी काशी के निवासी यहाँ बैठे हुए हैं। कल श्री कृपालु जी के अलौकिक वक्तव्य को सुनकर हम सब नत-मस्तक हो गये। हम चाहते हैं कि लोग श्री कृपालु जी महाराज को समझें और इनके सम्पर्क में आकर उनके सरल, सरस, अनुभूत एवं विलक्षण उपदेशों को सुनें तथा अपने जीवन में उसे क्रियात्मक रूप से उतारकर अपना कल्याण करें।''

इसके पश्चात् आपको काशी विद्वत् परिषत् (भारत के लगभग ५०० शीर्षस्थ शास्त्रज्ञ, वेदज्ञ विद्वानों की सभा है) ने काशी आने का निमंत्रण दिया।

श्री कृपालु जी के कठिन संस्कृत में दिये गये विलक्षण प्रवचन को सुनकर एवं भक्तिरस से ओत-प्रोत अलौकिक व्यक्तित्व को देखकर सभी विद्वान् मंत्रमुग्ध हो गये। तब सबने एकमत होकर आपको ''**जगद्गुरूत्तम**'' की उपाधि से विभूषित किया। उन्होंने स्वीकार किया कि श्री कृपालु जी जगद्गुरुओं में भी सर्वोत्तम हैं।

....धन्यो मान्य जगद्गुरूत्तम पदैः सोऽयं समभ्यर्च्यते।

यह ऐतिहासिक घटना १४ जनवरी सन् १९५७ को हुई। उस समय श्री कृपालु जी महाराज की आयु मात्र ३४ वर्ष की थी। जगद्गुरु श्री कृपालु जी महाराज विश्व के पाँचवें मूल जगद्गुरु हैं। उनके पूर्व केवल चार महापुरुषों को ही जगद्गुरु की मूल उपाधि प्रदान की गई थी- **जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य, जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य** एवं **जगद्गुरु श्री माध्वाचार्य।**

पूर्ववर्ती आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों को सत्य सिद्ध करते हुए अपना समन्वयवादी दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाले **जगद्गुरु श्री कृपालु जी महाराज** को **काशी विद्वत्परिषत्** ने '**निखिलदर्शन समन्वयाचार्य**' की उपाधि से भी विभूषित किया, तथा उन्हें '**भक्तियोग रसावतार**' की उपाधि दी।

प्रकाशकीय

यह तो आप जानते ही हैं कि विश्व का प्रत्येक जीव आनन्द ही चाहता है किन्तु वह आनन्द क्या है ? कहाँ है ? कैसे मिल सकता है ? इत्यादि प्रश्नों के सही-सही उत्तर न जानने के कारण ही सभी जीव उस आनन्द से वंचित हैं। हिन्दू धर्म ग्रन्थों में अनेक धर्माचार्य हुये एवं उन लोगों ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें परस्पर विरोधाभास-सा है। पाठक उन ग्रन्थों को पढ़कर कुछ भी निश्चय नहीं कर पाता। इतना ही नहीं वरन् और भी संशयात्मा हो जाता है।

इस '**प्रेम रस सिद्धान्त**' ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यही है कि उन समस्त विरोधी सिद्धान्तों का सुन्दर सरल भाषा में समन्वय किया गया है। आचार्य चरण ने वेदों, शास्त्रों के प्रमाणों के अतिरिक्त दैनिक अनुभवों के उदाहरणों द्वारा सर्वसाधारण के लाभ को दृष्टिकोण में रखते हुये, विषयों का निरूपण किया है। वैसे तो ज्ञान की कोई सीमा नहीं है फिर भी इस छोटे से ग्रन्थ में जीव का चरम लक्ष्य, जीव एवं माया तथा भगवान् का स्वरूप, महापुरुष परिचय, कर्म, ज्ञान, भक्ति साधना आदि का निरूपण किया है जिसे जन साधारण समझ सकता है। साथ ही समस्त शंकाओं का भी निवारण कर सकता है।

आचार्य चरण किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं। अतएव उनके इस ग्रन्थ में सभी आचार्यों का सम्मान किया गया है। निराकार, साकार ब्रह्म एवं

अवतार रहस्य का प्रतिपादन तो अनूठा ही है। अन्त में कर्मयोग सम्बन्धी प्रतिपादन पर विशेष जोर दिया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण संसारी कार्यों को करते हुये ही संसारी लोगों को अपना लक्ष्य प्राप्त करना है। इस ग्रन्थ के विषय में क्या समालोचना की जाय, बस गागर में सागर के समान ही सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान भरा है। जिसका पात्र जितना बड़ा होगा वह उतना ही बड़ा लाभ ले सकेगा। इतना ही निवेदन है कि पाठक एक बार अवश्य पढ़ें।

— राधा गोविन्द समिति

विशेष :- इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी (Philosophy of Divine Love) सिन्धी, गुजराती, उड़िया तथा तेलगू भाषा में भी उपलब्ध है।

पहला संस्करण : बसन्त पंचमी सन् 1955
दूसरा संस्करण : (संशोधित) सन् 1965
बारहवाँ संस्करण : गुरुपूर्णिमा 21, जुलाई 2005
तेरहवाँ संस्करण : गुरुपूर्णिमा 11, जुलाई 2006
चौदहवाँ संस्करण: गुरुपूर्णिमा 18, जुलाई 2008
पन्द्रहवाँ संस्करण: गुरुपूर्णिमा 25, जुलाई 2010 (संशोधित संस्करण)

प्राक्कथन

इस पुस्तक में मैंने क्या लिखा है, यह तो आप लोगों को पढ़ने से ज्ञान हो ही जायेगा। इस पुस्तक को मैंने क्यों लिखा है, यह प्रश्न बड़ा ही जटिल-सा है, क्योंकि यदि मैं कहूँ कि जीव-कल्याण के लिये लिखा है, तो आप लोगों में से कुछ लोग कह सकते हैं, ''बड़ा महापुरुष का दादा बना है, जो जीव-कल्याण का कार्य करने चला है।'' यदि मैं कहूँ- ''ऐसे ही कुछ टूटे-फूटे शब्दों की बकबक लिख दी है,'' तो कुछ लोग कह सकते हैं कि व्यर्थ ही ऐसी अनधिकार चेष्टा करने की क्या आवश्यकता थी। यदि मैं कहूँ- ''मुझे श्री राधा-कृष्ण की प्रेरणा हुई थी, स्वप्न हुआ था, या आदेश हुआ था,'' तो भी कुछ लोग कह सकते हैं कि श्री राधा-कृष्ण का बड़ा अन्तरंग बनता है, जो इसको प्रेरणा आदि हुई है। अतएव मैं क्या कारण बताऊँ, मेरी बुद्धि में नहीं आता, जिसे सब लोग मान लें।

इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे प्रवचनों को सुन-सुनकर अधिकांश लोगों ने कहा कि महाराज जी! यदि ये प्रवचन छप जायँ तो बड़ा लाभ हो। मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे ही लोगों के कहने में आकर, जो बुद्धि में आया लिख दिया। साथ में शास्त्रों, वेदों, पुराणों एवं अन्यान्य धर्मग्रन्थों तथा महापुरुषों के आप्त-प्रमाण भी लिख दिये। अब जो कुछ भी है, आप लोगों के समक्ष है। मुझ अकिंचन की भेंट स्वीकार कीजिये एवं मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं श्री राधाकृष्ण के चरणाविन्द मकरन्द का यत्किंचित् पान कर सकूँ।

अब मैं भागवत के एक श्लोक द्वारा वन्दना करते हुए प्राक्कथन को समाप्त करता हूँ।

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

— *कृपाकांक्षी*

जगद्गुरुः कृपालुः

-दिव्य प्रेम-तत्व-

श्री राधाकृष्ण का दिव्य प्रेम नित्यसिद्ध-तत्व है। वह दिव्य प्रेम, एकमात्र दिव्य अंतःकरण में ही ठहर सकता है। किंतु प्रत्येक प्राणी का अंतःकरण मायिक है। अतएव मायिक अंतःकरण द्वारा कर्म, ज्ञान योगादि कोई भी साधन मायिक परिणाम ही दे सकता है। अतः सर्व प्रथम अंतःकरण दिव्य होना अत्यावश्यक है। यह केवल हरि गुरु अनुकंपा से ही संभव है। किंतु हरि गुरु कृपा भी अंतःकरण शुद्ध होने पर ही प्राप्त हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रथम अंतःकरण शुद्ध करना होगा। तदर्थ एकमात्र श्री राधाकृष्ण की निष्काम भक्ति ही साधन है। समस्त भक्तियों में स्मरण भक्ति ही प्रमुख है। क्योंकि स्मरण ही अंतःकरण का विषय है। साथ में उनका नाम, गुण, लीलादि भी रखना है। नामापराध आदि कुसंग से बचना है।

निवेदक:
-कृपालु:-

श्रीः
हरि-गुरु से ही प्यार करु,
है अनन्य-निष्काम ।
इमि जब मन हो शुद्ध तब,
मिलिहैं श्यामा श्याम ॥
कृपालुः

अनुक्रमणिका

"श्री राधे"

जीव का चरम लक्ष्य

विश्व का प्रत्येक जीव बिना किसी प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता, यह एक अनुभवसिद्ध सिद्धान्त है। दर्शनशास्त्र कहता है,

प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्तते।

अर्थात् घोर से घोर मूर्ख भी बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता। अतएव प्रत्येक कार्य का पृथक्-पृथक् प्रयोजन होना भी स्वाभाविक होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है। कार्य अनन्त होते हुए भी प्रयोजन एक ही है। सुनने में यह बात विचित्र सी है किन्तु विचार करने पर साधारण एवं स्वाभाविक है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि बिना प्रयोजन के भी तो कार्य होते हैं; यथा-

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
जे बिनु काज दाहिने बाँये।

अर्थात् दुष्ट बिना प्रयोजन के पर-अपकारी होते हैं। इसी प्रकार—

पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया॥
भूर्ज तरू सम सन्त कृपाला। परहित सह नित विपति विसाला॥

अर्थात् महापुरुष बिना प्रयोजन के परोपकार करता है एवं इसी प्रकार महापुरुषों के आराध्य परात्पर सर्वशक्तिमान् भगवान् भी बिना प्रयोजन के ही परोपकार करते हैं। इस प्रकार दुष्ट, सन्त एवं भगवान् तीनों ही बिना प्रयोजन कार्य करते हैं। तब उपर्युक्त सिद्धान्त तो इसी से खण्डित हो जाता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। इन तीनों का भी कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य है। यथा—

'जो काहू की देखहिं विपती, सुखी होहिं मानहु जग नृपती'

अर्थात् दूसरे को दुःखी देखकर दुष्ट को सुख मिलता है यही उसका गुप्त प्रयोजन है। इसी प्रकार महापुरुष एवं भगवान् भी—

'पर दुख दुख, सुख सुख देखे पर'

अर्थात् दूसरे के दुःख को देखकर दुःखी होते हैं एवं दूसरे के सुख को देखकर सुखी होते हैं। अस्तु सुखी बनने के लिए परोपकार रूपी कार्य करते हैं। इस प्रकार पर-अपकार रूपी कार्य से दुष्ट को एवं परोपकार रूपी कार्य से संत, भगवान् को सुख मिलता है। इस प्रकार सुख-प्राप्ति-रूपी प्रयोजन सिद्ध हुआ।

संक्षेपतः यों समझिये कि दुष्ट को तो पर-अपकार से क्षण-भंगुर सुख मिलता है, एतदर्थ वह वैसा कार्य करता है एवं संत और भगवान् को जो सदा सुखमय हैं, दूसरे को सुखी बनाने में सुख मिलता है, अतएव वे वैसा कार्य करते हैं। अब आप समझ गये होंगे कि इन तीनों का ही मुख्य प्रयोजन सुख-प्राप्ति ही है। अब सर्वसाधारण पर विचार कीजिए। विश्व का प्राणिमात्र एकमात्र आनन्द-प्राप्ति हेतु ही प्रत्येक कार्य करता है। यदि आप कहें कि धन-पुत्र-मित्रादि अन्य प्रयोजन के लिए भी, जो अनुभव सिद्ध हैं, कर्म किया जाता है तो यह समझ लेना चाहिए कि धन-पुत्रादि की प्राप्ति लक्ष्य नहीं है अपितु धन, पुत्रादि के द्वारा भी उसी अव्यक्त आनन्द की प्राप्ति का ही लक्ष्य है—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥

(भाग. 10-14-50)

इस वेदव्यासोक्ति का यही अभिप्राय है। यदि आप कहें कि जीवन, ज्ञान, स्वतन्त्रता, सब पर शासन करना तथा आनन्द आदि पाँच लक्ष्य कुछ दार्शनिकों ने माने हैं, फिर एक ही लक्ष्य आनन्द-प्राप्ति कैसे सिद्ध होगा, तो वहाँ भी यह समझ लेना चाहिये कि अन्य जीवन, ज्ञानादि लक्ष्य उसी आनन्द-प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि विश्व का प्रत्येक जीव, वह चाहे सर्वसाधारण हो या दुष्ट हो या महापुरुष हो या भगवान् हो, एकमात्र आनन्द के ही लक्ष्य से कार्य करता है। यह पृथक् बात है कि यदि आनन्द-प्राप्ति रूपी लक्ष्य का मार्ग सत्य है तो सत्यानन्द प्राप्त होगा, यदि मार्ग असत्य है तो असत्यानन्द अर्थात् दुःख ही प्राप्त होगा।

अब इस एक आनन्दप्राप्ति के लक्ष्य पर गम्भीर विचार कीजिए, क्योंकि जब विश्व में सर्वत्र वैषम्य और वैमत्य है तो अल्पज्ञ से लेकर सर्वज्ञ तक, बिना किसी के सिखाये ही एकमात्र आनन्द ही क्यों चाहता है, इसका कोई महान् वैज्ञानिक रहस्य अवश्य होगा। हाँ, वह रहस्य यह है कि—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

(तैत्तिरीयो. 3-6)

इस वेदोक्ति के अनुसार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। यहाँ तक कि—

आनन्द एवाधस्तात् आनन्द उपरिष्टात् आनन्दः पुरस्तात् आनन्दः पश्चात् आनन्द उत्तरतः आनन्दो दक्षिणतः आनन्द एवेदꣳ सर्वम्।

के अनुसार उसके नीचे, उसके ऊपर, उसके पूर्व, उसके पश्चिम, उसके उत्तर, उसके दक्षिण, उसके बाहर, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द लबालब भरा है। आप कहेंगे कि यह तो आनन्दस्वरूप ईश्वर की बात हुई, पर यहाँ तो प्रश्न जीवों का है। पर बात यह है कि—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(*गीता 15-7*)

इस गीतोक्ति के अनुसार जीव उसी आनन्दस्वरूप ब्रह्म का अंश है, अतएव अपने अंशी के स्वभाव से युक्त होने के कारण स्वभावतः प्रत्येक जीव एकमात्र आनन्द ही चाहता है। वस्तुतस्तु करोड़ों कल्प प्रयत्न करके भी कोई जीव आनन्द-प्राप्ति रूपी लक्ष्य से च्युत नहीं हो सकता।

कुछ दार्शनिक इसी आनन्द-प्राप्ति के लक्ष्य को आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति रूप में प्रतिपादित करते हैं। यथा, सांख्य कहता है —

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा तदभि घातके हेतौ।

अर्थात् दुःखनिवृत्ति ही जीव का चरम लक्ष्य है। वह दुःख तीन प्रकार का होता है—

1. आध्यात्मिक (दैहिक) 2. आधिभौतिक 3. आधिदैविक

1. आध्यात्मिक अथवा दैहिक दुःख दो प्रकार का होता है –
   प्रथम शारीरिक ज्वरातिसारादि रोगों से उत्पन्न दुःख एवं द्वितीय मानसिक काम, क्रोध, लोभादि से उत्पन्न दुःख।

2. आधिभौतिक – मनुष्य, पशु एवं स्थावरादि से उत्पन्न दुःख।
3. आधिदैविक – शीतोष्ण वर्षादि से उत्पन्न दुःख।

पुनः सांख्य दर्शन कहता है —

कुत्रापि कोऽपि सुखी तदपि दुःखशबलमिति दुःख पक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः।

अर्थात् संसार में सुख नहीं है। यदि कोई कहीं सुखी दिखाई भी पड़ता है तो वह भी भ्रान्ति मात्र है, क्योंकि सांसारिक सुख अनित्य, सीमित एवं परिणामी होता है।

इस प्रकार दुःखनिवृत्ति का लक्ष्य भी दूसरे शब्दों में आनन्द-प्राप्ति का ही द्योतक है। इतना ही नहीं, विश्व का प्रत्येक जीव ईश्वरीय सम्पत्तियों से भी बिना किसी के सिखाये पढ़ाये ही स्वभावतः प्रेम करता है, यथा सत्य, अहिंसा, अक्रोध, क्षमा, दया आदि। आप कहेंगे कि विश्व में इने-गिने जीवों अर्थात् महापुरुषों को छोड़कर कौन ऐसा है जो सत्य, अहिंसा आदि से प्रेम करता हो ? पर ऐसा कहना भोलापन है। करोड़ों कल्प प्रयत्न करके भी कोई मूर्ख से मूर्ख जीव भी सत्यादि के विरुद्ध असत्य, चोरी, दुराचारादि से प्रेम नहीं कर सकता। इसे यों समझिये-जैसे यदि कोई चोर यह कहे कि मैं चोरी को अच्छा मानता हूँ तो उसकी कोई प्रिय वस्तु चुरा लीजिये। फिर देखिये उसे एतराज़ होता है या नहीं। यदि होता है तो क्यों ? जब उसका सिद्धान्त चोरी करना है तो उसकी चोरी होने पर उसे दुःख क्यों होता है ? यदि मिथ्याभाषी से कोई झूठ बोलता है तो उसे कष्ट क्यों होता है ? यदि किसी परपीड़नशील को कोई पीड़ित करता है तो उसे कष्ट क्यों होता है ? इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक जीव ईश्वरीय सम्पत्ति से भी प्रेम करता है और इसका भी प्रमुख विज्ञान वही है कि जीव उसी ईश्वर का अंश है, अतएव यह उसका स्वाभाविक स्वभाव है कि वह ईश्वरीय सम्पत्तियों से भी प्रेम करे।

अतः यह भी सिद्ध हुआ कि जीव परमानन्द प्राप्ति के साथ-साथ परमानन्द प्राप्ति के गुणों को भी लक्ष्य बनाये हुए है। यह सब स्वाभाविक रूप से ही है।

अब यह विचार करना है कि क्या कोई ऐसा भी जीव हो सकता है कि जो न दु:ख चाहे न सुख अर्थात् कुछ क्रिया ही न करे ? ऐसा असम्भव है। गीता के अनुसार—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

(गीता 3-5)

अर्थात् कोई भी जीव एक क्षण को भी अकर्मा नहीं रह सकता। आनन्द प्राप्ति के हेतु प्रतिक्षण कर्म करना यह जीव का स्वभाव है। साथ ही यह स्वभावसिद्ध क्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक वह वास्तविक परमानन्द न प्राप्त कर लेगा।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विश्व का प्रत्येक जीव एकमात्र आनन्द ही चाहता है एवं उसी आनन्द की प्राप्ति के हेतु प्रतिक्षण प्रयत्नशील भी है। अब यह विचार करना है कि यह प्रयत्न कब से चल रहा है।

वेदों के अनुसार—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेता. 1-9)

अर्थात् प्रत्येक जीव अज है। उसका प्रारम्भ कभी नहीं हुआ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता 15-7)

इस गीतोक्ति के अनुसार भी जीव सनातन है। भावार्थ यह कि यदि आप से कोई पूछे कि आप कब से हैं तो सीधा सा उत्तर है कि जब से भगवान् हैं। यदि वह फिर पूछे कि आपके भगवान् कब से हैं तो सीधा उत्तर है कि जब

से हम हैं। यदि वह पुनः पूछे कि आप एवं भगवान् कब से हैं, तो स्पष्ट उत्तर है कि जब से 'कब' भी नहीं था, तब से हैं। अर्थात् 'कब' यानी काल तो हमारे एवं भगवान् के पश्चात् ही उत्पन्न हुआ। अतएव वह काल हम लोगों का निश्चय नहीं कर सकता, अतः हम सब अनादि हैं। एक बात और भी विचारणीय है कि—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(गीता 2-16)

इस गीतोक्ति के अनुसार किसी सत्ता का अभाव नहीं हो सकता, अर्थात् यदि हम आज हैं तो पहले भी सदा से थे। यदि आज न होते तो पहले भी कभी न होते। इसलिए भी हम सब—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

(गीता 2-20)

इस गीतोक्ति के अनुसार हम नित्य, शाश्वत एवं अजन्मा हैं।

अब यह सिद्ध हो गया कि लोग अनादिकाल से अर्थात् अनन्तकाल से उसी एक परमानन्द-प्राप्ति के हेतु प्रतिक्षण प्रयत्नशील हैं। किन्तु आश्चर्य है कि अनन्तानन्त जन्मों से अनवरत प्रयत्न करने के पश्चात् भी अद्यावधि आनन्द नहीं प्राप्त हुआ। इसका प्रमुख रहस्य क्या है?

वास्तव में आनन्द इस कारण नहीं प्राप्त हुआ क्योंकि अभी हम लोगों ने यही नहीं समझा एवं निश्चय किया कि आनन्द क्या है? कहाँ है? कैसे मिलेगा? अब आईये विचार करें कि आनन्द क्या है?

वेद के अनुसार —

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।

(छान्दोग्यो. 7-23-1)

अर्थात् आनन्द सदा अनन्तमात्रा का होता है। सीमित मात्रा का होता ही नहीं है, क्योंकि आनन्द-प्राप्ति का अभिप्राय ही यह है कि उसके ऊपर फिर कभी भी दु:ख का अधिकार न हो सके एवं उससे बड़ा कोई आनन्द न हो। जैसे प्रकाश पर अन्धकार का अधिकार नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक बार आनन्द प्राप्त होने पर पुनः दु:ख का अधिकार नहीं हो सकता।

अब यह विचार करना है कि ऐसा नित्य, असीम आनन्द कहाँ है? बस,यह प्रश्न ही बड़ा गम्भीर है। इसी के उत्तर में अनन्तानन्त वादों का विवाद अनादिकाल से चल रहा है, किन्तु आप घबड़ायें नहीं, अभी निश्चय हुआ जाता है।

आनन्द प्राप्त्यर्थ विश्व में जितने भी वादों के विवाद चल रहे हैं, उनको हम दो वादों में विभक्त कर सकते हैं, एक भौतिकवाद एवं दूसरा अध्यात्मवाद। यदि इन दोनों वादों को हम भलीभाँति समझ लें तो यह वाद-विवाद निर्विवाद रूप से हल हो जाय। सर्वप्रथम भौतिकवाद पर ही विचार कर डालिये।

भौतिकवादियों का कहना है कि विश्व की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयादि सब कुछ प्राकृतिक नियमानुसार ही स्वयं होते रहते हैं, ईश्वर नाम का कोई तत्त्व नहीं है। ईश्वर तो बिगड़े हुए दिमाग की उपज है। ईश्वर नाम के तत्त्व को इन्सान ने बनाया है, ईश्वर ने इन्सान को नहीं बनाया एवं उस ईश्वर को बीच में लाना पागलपन की पहचान है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार तत्त्वों से संसार बन गया है।

उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति आनन्द चाहता है और आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब जीव की प्रतिक्षण की वासनाओं की पूर्ति के हेतु

उसके अभिलषित पदार्थ मिलते रहें। बिना इच्छाओं के अनुसार पदार्थ दिये आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, यह सब के अनुभव से स्वयं सिद्ध है।

किन्तु भौतिकवादी यह नहीं सिद्ध कर पाते कि क्या वासनाओं के अनुसार अभिलषित पदार्थ पाने पर वासना की पूर्ति सदा के लिये हो जाती है अथवा पुनः वासना उत्पन्न होती है। यदि पुनः दुगुनी, चौगुनी वासना उत्पन्न होती है, तब तो जलती हुई आग में घी डालने के समान ही भोलापन सिद्ध होगा। यदि उनका यह अनुभव-सिद्ध प्रमाण है कि इच्छापूर्ति से सुख मिलता है, तो मेरा भी यह डंके की चोट पर अनुभव-सिद्ध प्रमाण है कि वासना-पूर्ति के पश्चात् क्षणभंगुर सुख ही मिलता है एवं कुछ क्षण पश्चात् ही बलवती वासना की पुनः उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पदार्थों के प्रदान करने पर वासनाओं की पूर्ति की कहीं भी सीमा नहीं है। क्या भौतिकवादियों के इतिहास में एक भी व्यक्ति ने ऐसा कहा है कि अमुक व्यक्ति को अमुक मात्रा का पदार्थ मिला था एवं उसने अपना अनुभव बताया था कि मैं पूर्णकाम बन गया हूँ? यह असम्भव है। यह तो प्रतिक्षण वर्द्धमान रोग है।

जिस प्रकार खाज को खुजलाने से वर्तमानकाल में सुखानुभूति तो होती है किन्तु पुनः उसका कितना भयंकर स्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार अभिलषित पदार्थों के देने से, क्षणभंगुर वासना की पूर्ति से, आनन्द तो मिलता है किन्तु वह आनन्द सीमित होता है। कुछ क्षण के पश्चात् ही दूसरी वासना का विराट् स्वरूप समक्ष आ जाता है। वास्तव में सांसारिक पदार्थों द्वारा इच्छापूर्ति होने पर लोभ उत्पन्न होता है—

'ज्यों प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'

एवं उसकी अपूर्ति होने पर क्रोध होता है। अतएव वासना के उत्पन्न होते ही दु:ख स्वयं साकार होकर आ जाता है। उससे कोई भी भौतिकवादी नहीं बच सकता।

वेदव्यास जी कहते हैं कि—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(भाग. 9-19-13)

अर्थात् यदि विश्व के समस्त पदार्थ एक व्यक्ति को सहज में प्राप्त हो जायें तो भी वासनाओं का रोग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा, पुनः साधारण सामग्री से वासनापूर्ति का लक्ष्य बनाना कितना हास्यास्पद है।

भौतिकवादी कहते हैं कि देखो हमने अपने भौतिकवाद की कितनी उन्नति की है। हमारे लिए जल, थल, नभ सर्वत्र मार्ग खुल गया है, हम जहाँ चाहें जायें। हमने बड़े-बड़े हाइड्रोजन बम आदि बना लिये हैं। अनेक असाध्य कहलाने वाले लक्ष्यों को सुख-साध्य बना लिया है। पहले लोग जंगली थे अब परम सभ्य बन गये हैं। पहले लोग शरीर के रोग से अधिक दुःखी थे, अब रोगों पर कन्ट्रोल हो गया है इत्यादि। उपर्युक्त बातें अक्षरशः सत्य हैं। हम उसके आगे और भी मानने को तैयार हैं। किन्तु भौतिकवादी क्या मेरे इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं कि उपर्युक्त समस्त उन्नतियों के परिणामस्वरूप अन्तरङ्ग सुख-शान्ति की झांकी की झलक भी क्या प्राप्त हुई है ? क्या सत्य, अहिंसा, मानवता आदि में उन्नति हुई है ? क्या एक व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक में कहीं अन्तरङ्ग शान्ति की झलक भी दिखाई पड़ी है ? यदि नहीं तो उपर्युक्त वस्तु की उन्नति धोखा नहीं तो क्या है ? वर्तमान भौतिकवाद की वस्तु सम्बन्धी उन्नति से सुख-शान्ति की कितनी अवनति हुई है, यह सर्वानुभूत विषय है। आज तक एक भी विशेषज्ञ यह कहने को तैयार नहीं है कि कल विश्व भौतिकवाद की उन्नति का ग्रास न बन जाएगा। जब भौतिकवाद की उन्नति का यह परिणाम है कि वह भौतिकवादी को ही भक्षण करना चाहता है तो फिर सुख-शान्ति का स्वप्न तो करोड़ों कोस दूर की बात है।

भावार्थ यह कि भौतिकवाद की उन्नति से अन्तःकरण की शुद्धि सर्वथा असम्भव है और उसके बिना सुख-शान्ति की आशा करना नितान्त पागलपन है।

अतएव केवल भौतिकवाद के उत्थानमात्र से अन्तरङ्ग सुख-शान्ति की समस्या नहीं हल हो सकती। जैसे सर्वसाधन-सम्पन्न महल में एक पागल व्यक्ति खड़ा कर दिया जाय तो वह भौतिकवाद एवं वादी दोनों का सत्यानाश कर देगा। वैसे ही यदि अन्तःकरण के विचार शुद्ध न होंगे तो भौतिकवाद उल्टे सर्वनाश में ही समर्थ होगा। सुख-शान्ति तो अन्तरङ्ग ही होती है, अतः वह कैसे प्राप्त होगी ? अतएव वासनाओं के अनुसार पदार्थ देकर उसे पूरा करने का लक्ष्य सर्वथा गलत है। इतना अवश्य है कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु भौतिकवाद सर्वथा ग्राह्य है। अब अध्यात्मवाद पर विचार कीजिये।

वेद कहता है —

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

(तैत्तिरीयो. 2-7)

अर्थात् ईश्वर ही आनन्द है, उसे ही प्राप्त करके जीव आनन्दमय हो सकता है।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

(श्वेता. 3-8, 6-15)

अर्थात् उसको जानकर ही दुःखार्णव से जीव उत्तीर्ण हो सकता है, अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ईश्वर नाम का कोई तत्त्व है ? और यदि है तो क्या वेदादि में लिखा है इसलिए उसे मान लिया जाय या कोई ठोस प्रमाण है ? प्रत्यक्षवादी कहते हैं कि हम तो बिना किसी तत्त्व को प्रत्यक्ष किये नहीं मानते क्योंकि हम अन्धविश्वासी नहीं हैं।

अतः अब ईश्वरवादी एवं प्रत्यक्षवादी के मध्य एक विषम समस्या आ गयी, उसे निबटाना है।

जरा प्रत्यक्षवादी महोदय से पूछिये कि आपने अपने आपको देखा है? उत्तर मिलेगा 'नहीं', क्योंकि जीवात्मा तो सूक्ष्म है उसका साक्षात्कार महात्माओं को ही हो सकता है। तो फिर प्रत्यक्षवादी अपने आपको क्या मानता है? पुनः प्रत्यक्षवादी से पूछिये कि आपने अपनी बुद्धि, अपने मन आदि को देखा है? उत्तर मिलेगा – 'नहीं', क्योंकि सूक्ष्म मन-बुद्धि का भी साक्षात्कार सर्वसाधारण को असम्भव है। अच्छा, प्रत्यक्षवादी महोदय, आप केवल 'प' अक्षर का ज्ञान ही प्रत्यक्षवाद से प्राप्त कर लीजिए। यह भी असम्भव है, क्योंकि अक्षरों का उच्चारण एवं पहिचान शब्द प्रमाण माने बिना असम्भव है। भावार्थ यह कि प्रत्यक्षवादी अपने प्रत्यक्षवाद से एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। अच्छा तुम अपने प्रत्यक्षवाद से अपने बाप को सिद्ध कर सकते हो? उत्तर मिलेगा 'नहीं', क्योंकि तब तो हम ही नहीं थे। तो तुम अपने आपको, अपने बाप को एवं अपने मन बुद्धि आदि को भी सिद्ध नहीं कर सकते तो तुम कैसे प्रत्यक्षवादी हो? अच्छा, चक्षुरिन्द्रिय से अणु इन्द्रिय-शक्ति को देख सकते हो? 'नहीं'। तो तुम प्रत्यक्षवाद से कैसे सब कुछ सिद्ध करना चाहते हो? अच्छा, तुमने जब सर्वप्रथम किसी देश या वस्तु को देखा था तो उसके पूर्व तो उसका प्रत्यक्ष नहीं था, फिर तुमने उसे मानकर कैसे तदर्थ प्रयत्न किया था? अच्छा, तुम खाना खाते हो, पानी पीते हो, वायु सेवन करते हो, तो सब को पहले विज्ञान से परीक्षण करके तब सेवन करते हो क्या? सारे राष्ट्रों का संचालन क्या प्रत्यक्षवाद से हो सकता है? क्या तुम किसी बात को बिना प्रत्यक्ष किये नहीं मानते? यदि ऐसा है तब तो मेरी राय से सर्वप्रथम तुम्हें मस्तिष्क का इलाज कराना पड़ेगा पश्चात् प्रत्यक्षवादी या कोई अन्य वाद-वादी बन सकते हो।

अच्छा, यह बताओ कि शब्द का प्रत्यक्ष आँख से कर सकते हो? यदि नहीं, तो क्यों? इसलिए कि शब्द आँख का विषय नहीं है। अच्छा, जब कान का विषय आँख से हल नहीं हो सकता तो इन्दियों से परे मन का विषय किसी इन्द्रिय से कैसे हल होगा? एवं मन से परे बुद्धि का विषय मन से कैसे हल होगा? एवं बुद्धि से परे का विषय बुद्धि से कैसे हल होगा?

ईश्वर यद्यपि अनुमान का भी विषय नहीं है, फिर भी किसी सीमा तक अनुमान से समझा जा सकता है, यथा—

(1) संसार का व्यवस्थित रूप देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसी सुव्यवस्था किसी शासन से ही संभव है और वह शासन सर्वशक्तिमान् ईश्वर का ही हो सकता है, क्योंकि मनुष्य तो उसकी व्यवस्था को समझने में भी असमर्थ पाया जा रहा है।

(2) सूर्यचन्द्रादि लोकों का निर्माण विशिष्ट विज्ञानी भी नहीं कर सकता। निर्माण तो दूर की बात है, उसकी तह का भी परिज्ञान दुःसंभव हो रहा है।

(3) सूर्यचन्द्रादि नियमित रूप से नियम में आबद्ध हैं, इनका नियन्ता अवश्य कोई सर्व-समर्थ ईश्वर है।

(4) पृथ्वी आदि के धारण करने से प्रयत्नवान् ईश्वर सिद्ध होता है।

(5) नियम का निर्माता अवश्य होगा। एवं उसका प्रयोग करने वाला भी कोई सर्वज्ञ ईश्वर अवश्य होगा।

विश्व में कोई भी कार्य तभी संभव होता है जब उसके उपकरण, कर्ता, ज्ञान, इच्छा, कृति, चेष्टा, क्रिया आदि सब संयुक्त होते हैं। इतने विलक्षण जगत् के निर्माण में भी उपर्युक्त सभी साधनों की आवश्यकता है और वह

ईश्वर से ही संभव है। यदि कोई कहे कि हमारी प्रकृति में ही हम उपर्युक्त समस्त शक्तियों को मानते हैं तब तो उसका *नेचर (nature)* शब्द ईश्वर का पर्यायवाची ही सिद्ध हुआ। फिर तो कोई विवाद ही नहीं है। हम लोग जैसे '**कृष्णाय नमः**', '**वासुदेवाय नमः**' कहा करते हैं, वैसे ही '**नेचराय नमः**' कहा करेंगे। हमारे ईश्वर के तो '**अनन्तनामरूपाय**' के अनुसार असंख्य नाम हैं एवं असंख्य रूप हैं। किन्तु यदि प्रकृति जड़ है तो उसमें सृष्टि करने की शक्ति नहीं हो सकती। अतः सृष्टि आदि के लिये ईश्वर को मानना ही पड़ेगा।

हमारे यहाँ न्याय-वैशेषिकादि दर्शन शास्त्रों ने अनुमान-प्रमाण से यह सिद्ध किया है कि सृष्टि को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इसका स्रष्टा अवश्य कोई न कोई सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् भगवान् है। क्योंकि दो प्रकार के कार्य होते हैं एक प्राणिकृत अर्थात् मानवकृत, दूसरे ईश्वरकृत। इनमें मनुष्यकृत कार्य तो आप लोग जानते ही हैं, प्रतिदिन करते ही हैं, किन्तु जो कार्य मनुष्य नहीं कर सकता, वह ईश्वरकृत कहलाता है जैसे, नदी, पहाड़, चन्द्र, सूर्यादि लोक-निर्माण।

न प्राणिबुद्धिभ्योऽसंभवात्

तर्क यह देते हैं कि - '**पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्**' *(न्याय)* अर्थात् जैसे किसी पर्वत पर धुआं दिखाई पड़ता है तो अनुमान लगाया जाता है कि उस पर्वत पर आग अवश्य है, क्योंकि यह नियम है कि जहाँ-जहाँ धुंआ होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है।

यह अनुभव की बात सर्वमान्य है कि किसी भी कार्य की सिद्धि में कई कारणों की आवश्यकता है। जैसे, एक घड़े के निर्माण में यदि कोई प्रश्न करे कि घड़ा कैसे बना तो साधारण उत्तर यह भी हो सकता है कि मिट्टी से बना।

किन्तु क्या मिट्टी स्वयं घड़ा बन गयी। तब दूसरा विशेष उत्तर दिया जाता है कि नहीं, मिट्टी, दंड, चक्र आदि उपकरण भी हों एवं घड़ा बनाने वाला कुंभकार भी हो, तब घड़ा बनता है। किन्तु यदि अच्छे ढंग के घड़े के बनाने की योग्यता किसी कुम्हार में न हो तो भी घड़ा नहीं बन सकता। भावार्थ यह कि घड़ा बनाने की योग्यता भी होनी चाहिये। किन्तु फिर भी घड़ा न बनेगा क्योंकि योग्यता होते हुए भी यदि इच्छा न की जाय, संकल्प न किया जाय, चेष्टा न की जाय तब भी घड़ा न बन सकेगा। भावार्थ यह कि घड़ा बनाने में मिट्टी आदि साधन भी अपेक्षित हैं, कुम्हार भी अपेक्षित है एवं घड़ा बनाने का ज्ञान, घड़ा बनाने की इच्छा, घड़ा बनाने का संकल्प एवं घड़ा बनाने की चेष्टा, ये सभी अपेक्षित हैं, अन्यथा एक छोटा सा घड़ा भी नहीं बन सकता।

अब सोचिये कि जब एक घड़े के बनाने के हेतु उपर्युक्त ६ कारणों की अपेक्षा है तब इतने विलक्षण विश्व के बनाने में इन कारणों की अपेक्षा क्यों न होगी। जब विश्व का चित्र भी बिना किसी चित्रकार के बनाये नहीं बन सकता और यदि कोई कहे कि यह विश्व का चित्र अपने आप बन गया तब बुद्धिमान् व्यक्ति उस वक्ता को पागल कहेगा, तब भला विश्व अपने आप कैसे बन सकता है? अतएव दर्शन-शास्त्र अनुमान-प्रमाण के द्वारा ईश्वर-सिद्धि करते हैं एवं सृष्टि का स्रष्टा ईश्वर को ही बताते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने यहाँ तक सिद्ध किया है कि परमाणु तो विद्युतकलास्वरूप हैं, स्थूल भौतिक पदार्थ नहीं हैं। साथ ही वे परमाणु किसी अव्यक्त, अज्ञात शक्ति की स्पन्दन क्रियाएं हैं। अब आप समझ गये होंगे कि भौतिक विज्ञान जिस तत्त्व को अज्ञात, अव्यक्त शब्द से पुकारता है, वह क्या हो सकता है? हमारा वेद भी ईश्वर को—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्। *(माण्डूक्यो. 7 वाँ मंत्र)*

अर्थात् अज्ञात, अव्यक्त ही कहता है। प्रख्यात वैज्ञानिक प्रो० एडिंग्टन कहता है कि कोई अज्ञात, अव्यक्त कारण ही किसी अज्ञात क्रिया में काम कर रहा है किन्तु हम उसके विषय में कुछ नहीं जानते। किसी-किसी ऐसे अज्ञात मूलतत्त्व का सामना करना पड़ता है जो भौतिक जगत् से अतीत है। अब आप सोचें कि भौतिकवाद कितना अपूर्ण एवं खोखला है। उस अज्ञात तत्त्व को अज्ञात शब्द से पुकारने मात्र से खोज समाप्त नहीं मानी जाती। उस अज्ञात तत्त्व की खोज करनी होगी। तब विज्ञान 'विज्ञान' कहलायेगा अन्यथा तो वह अज्ञान ही रहेगा।

कुछ भौतिकवादी कहते हैं कि परमाणुओं से ही सृष्टि होती है, ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं। वे लोग गम्भीरता से सोचें कि संयोग तो प्रदेश वाले पदार्थों का ही होता है, निरवयव, निष्प्रदेश, परमाणुओं का परस्पर संबंध कैसे होगा एवं बिना उनके परस्पर संयोग के सृष्टि कैसे होगी ? यदि यह भी मान लिया जाय कि परमाणुओं का संयोग हो जाता है, यह नियम विपरीत बात भी हो जाती है, तो भी एक गम्भीर समस्या समक्ष आती है वह यह कि एक सेकेण्ड में एक लाख मील भागने वाले परमाणु अपना ज्ञान दूसरे परमाणु में कैसे डाल सकते हैं और फिर चैतन्य कैसे स्थिर रह सकता है, जबकि 50 वर्ष की पढ़ी हुई चीज़ बुद्धिमान कहलाने वाले मनुष्य को भूल जाती है। यदि यह भी मान लिया जाय तो भी एक गम्भीर समस्या सामने आती है, वह यह कि परमाणुओं का प्रवृत्ति स्वभाव माना जाय या निवृत्ति स्वभाव माना जाय, या दोनों ही स्वभाव माने जायें या दोनों ही न मानें जायें। यदि प्रवृत्ति स्वभाव माना जाय तब तो सृष्टि हो जायगी पर प्रलय कैसे होगा ? जबकि क्लासियस के ताप सिद्धान्त के द्वारा एवं आज के वैज्ञानिकों के सिद्धान्त द्वारा भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि एक दिन प्रलय हो जायगा, पृथ्वी ठंडी पड़ जायगी, सब जीव समाप्त हो जायेंगे।

यदि परमाणुओं का निवृत्ति स्वभाव माना जाय तब प्रलय तो सिद्ध हो जायगा किन्तु प्रमुख प्रश्न तो यह है कि वर्तमान सृष्टि कैसे हुई अर्थात् सृष्टि का प्रश्न कैसे हल होगा। यदि परमाणुओं का स्वभाव दोनों ही माना जाय तो विरोधी स्वभाव होने के कारण न सृष्टि होगी न प्रलय। यदि परमाणुओं का दोनों ही स्वभाव न माना जाय तो ईश्वर की आवश्यकता स्वभावतः सिद्ध है क्योंकि उन परमाणुओं को कन्ट्रोल करने वाला ईश्वर अवश्य है।

एक दार्शनिक सिद्धान्त यह भी सर्वमान्य है, उस पर भी गम्भीर विचार अपेक्षित है। वह यह कि रूपवान् कार्य का कारण सूक्ष्म एवं नित्य होता है और कार्य उससे अधिक स्थूल एवं अनित्य होता है। जैसे वस्त्र को ही ले लीजिये। वह सूत की अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य है। इस नियमानुसार यदि परमाणु रूपवान् हैं तब उनका भी कोई कारण होगा जो और सूक्ष्म एवं नित्य होगा। बस वही तो ईश्वर है।

एक प्रश्न और भी विचारणीय है कि उन परमाणुओं में गंधादि गुण मानने पड़ेंगे अन्यथा उन परमाणुओं से बनी हुई पृथ्वी आदि में गंधादि गुण कहाँ से आयेंगे। अब यह विचार कीजिये कि क्या सब परमाणुओं में एक ही गुण है? यदि एक ही गुण मानें तो गंध-रसादि की उत्पत्ति कैसे होगी? यदि सब परमाणुओं में समता मानें तो जल में भी गंध होगी एवं तेज में भी गंध-रसादि होंगे, यहाँ तक कि वायु में भी रस-गंधादि होने लग जायेंगे।

भावार्थ यह कि परमाणुओं के संयोग से सृष्टि मानना भोलापन है। कुछ लोग कहते हैं कि घड़ी अपने आप चलती है ऐसे ही सृष्टि भी अपने आप हो जायगी, किन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि घड़ी पूर्व में नहीं चलती थी जब किसी ने उसे बनाया तब चलने लगी एवं पश्चात् भी नहीं चलेगी अर्थात् नष्ट हो जायगी, तब फिर बनानी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है

कि घड़ी बनाने वाले ने घड़ी तो बनायी है किन्तु उस घड़ी के लौह परमाणुओं की क्रिया को घड़ी साज नहीं जानता अर्थात् उस पर कन्ट्रोल नहीं कर सकता। उसे कन्ट्रोल करने वाला ईश्वर है। अतएव ईश्वर को सर्वव्यापक होना पड़ता है अन्यथा वे परमाणु ठीक रूप से काम नहीं कर सकते।

ईस्वी सन् से 500 वर्ष पूर्व यूनान में कुछ दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने सृष्टि का कारण प्रकट किया है। थैलीज़ ने कहा कि सृष्टि का आदि कारण जल है। एनेक्सीमैंडर ने कहा पृथ्वी, जल आदि कारण नहीं हैं अपितु कोई अनियत द्रव्य है जिससे पृथ्वी, जल आदि का सृजन होता है।

एनेक्सीमैनीज़ ने कहा यह भी ठीक नहीं है। सृष्टि का मूल तत्त्व वायु है। वायु से ही सृष्टि का निर्माण हुआ है। एनेक्सीगोरस ने कहा यह भी ठीक नहीं है। वस्तुतः अनेक तत्त्वों के मिश्रण एवं ईश्वरेच्छा से सृष्टि हुई है। पीथागोरस ने कहा, एक संख्या से अनेक की उत्पत्ति हुई है।

अब आप एक और विलक्षण सिद्धान्त सुन लीजिये जिसे सुनकर आप हँसेंगे। उन महाशय का नाम डार्विन है। उन्होंने कहा - अमीबा कीड़े से विकास होते-होते रेंगने वाले, फिसलने वाले, फिर मछली, फिर पक्षी, पशु, बंदर, वनमानुष और फिर मनुष्य बने अर्थात् मनुष्यों के पूर्वज बन्दर हैं। उनका कहना है कि अमीबा कीड़ा स्वयं दुगुना हो गया तो हाइड्रा बन गया। इसी प्रकार विकास होते-होते मनुष्य बन गया। लन्दन के म्यूज़ियम में इस विकास क्रम को दिखाने के लिये विभिन्न अस्थि-पंजर रखे हुए हैं।

अब थोड़ा विचार कीजिए। बीज से अंकुर एवं फूल से फल बनने का विकास-युक्त क्रमिक नियम पहले भी था तो आज भी है। फिर मछली से मछली एवं हाथी से हाथी बनने का नियम आज क्यों है? फिर तो आज भी कबूतर से हाथी पैदा होना चाहिए। वह क्रमिक नियम कहाँ नष्ट हो गया? आज तो कबूतर से कबूतर ही पैदा होते हैं। मनुष्य से मनुष्य ही पैदा होते हैं।

पुनश्च, विकासवादियों से कोई पूछे कि यह बताओ कि हड्डी रहित अमीबा आदि जीवों से हड्डी युक्त पशु-पक्षी आदि कैसे बन गये तो वे उत्तर देते हैं कि मानसिक प्रेरणा से ही हड्डी बन गयी। अब जरा सोचिये कि हड्डी से मन का तो कोई सम्बन्ध नहीं है, दाँत भी हड्डी ही तो है, उसमें सुई चुभाओ, कोई कष्ट नहीं होता।

पुनः वे दूसरा उत्तर देते हैं कि कठोर काम करने से हड्डी बन गयी। अब जरा सोचिए कि कठोर काम करने से बहिरंङ्ग घट्टे पड़ सकते हैं, बाहरी काठिन्य हो सकता है, हड्डी कैसे बनेगी ? क्या लोहार आदि के हाथ में हड्डी अधिक बन जाती है ?

पुनः वे तीसरा उत्तर देते हैं कि नस-नाड़ी इकट्ठी होकर हड्डी बन गयी। किन्तु यह तो और भी हँसी की बात है। क्योंकि यदि नस-नाड़ी इकट्ठी होकर दाँत बन जाती है तो फिर दूध के दाँत गिर जाने पर पुनः दाँत कैसे आते हैं ? यदि वे कहें कि नस-नाड़ी तो असंख्य हैं पुनः दाँत बन जाती हैं, तब यह प्रश्न आता है कि पुनः दूसरी बार दाँत गिरने पर बुढ़ापे तक दाँत क्यों नहीं आते ? क्या बूढ़े की नस-नाड़ी समाप्त हो जाती हैं ?

अब उनका अंतिम उत्तर सुनिये। वे कहते हैं परिस्थितिवश हड्डी बन गयी। परिस्थिति का उत्तर तो घोर पागलपन का है। क्योंकि देखिये एक ही परिस्थिति में भाई-बहिन पैदा हुए किन्तु बहिन की दाढ़ी मूँछ नहीं होती। हाथी एवं हथिनी एक परिस्थिति मे हुए लेकिन हथिनी के बड़े दाँत नहीं होते। मोर एवं मयूरी एक ही परिस्थिति में हुए किन्तु मयूरी की लम्बी पूँछ नहीं होती। मुर्गा-मुर्गी एक ही परिस्थिति में हुए किन्तु मुर्गी के सिर पर कलंगी नहीं होती। इतना ही नहीं, विकासवाद के अनुसार क्रमिक विकास में प्राणियों के दाँतों में कोई भी मेल जोल नहीं है। देखिये गाय भैंस के ऊपरी दाँत नहीं होते किन्तु घोड़े के नीचे ऊपर दोनों दाँत होते हैं। पुनः कुत्ते को

देखिये, उसके दूध के दाँत नहीं गिरते और देखिये घोड़े के स्तन नहीं होते, बैल के स्तन अण्डकोष के पास होते हैं। बच्चा पैदा होते समय घोड़ी की जीभ बाहर गिर जाती है।

पुनः देखिये क्रमिक विकास का खोखला तर्क। स्याही के दस स्तन होते हैं, उससे उन्नत होकर चुहिया बनी उसके आठ ही स्तन रह गये। पुनः उन्नत होकर बिल्ली बनी तो 6 स्तन ही रह गये। पुनः उन्नत होकर गाय भैंस बनी उसके चार स्तन ही रह गये। सबसे उन्नत मनुष्य के दो ही रह गये। क्या बढ़िया विकास है।

और भी देखिये। गाय-भैंस आदि के बाल आजन्म एक रंग के होते हैं किन्तु मनुष्य के बाल लड़कपन में सुनहरे रंग के, युवावस्था में काले रंग के, वृद्धावस्था में सफेद रंग के, अति-वृद्धावस्था में पिंगल रंग के हो जाते हैं। पुनः पशु को तैरने आदि की स्वाभाविक योग्यता होती है किन्तु उससे विकसित मनुष्य को यह सब सीखना पड़ता है। और देखिये, पशु आड़े शरीर के होते है, वृक्ष उल्टे शरीर के होते हैं, मनुष्य सीधे शरीर के होते हैं। यह कौन सा क्रमिक विकास है ? वृक्ष दूषित खुराक, गन्दी चीजें ग्रहण करते हैं एवं उससे पुष्ट होते हैं किन्तु अच्छी वायु फेंकते हैं, अच्छे फल फूलादि देते हैं। विकास में विपरीत हो गया कि मनुष्य अच्छी खुराक, अच्छी वायु आदि से पुष्ट होते हैं किन्तु गन्दी वायु आदि फेंकते हैं।

पुनः आयु का क्रमिक विकास देखिये। कछुए की आयु 150 वर्ष, सर्प की 120 वर्ष, उससे विकास होने पर कबूतर की आयु 8 वर्ष की रह गयी। एक हँसी की बात और सुनिये कि 80 मन की छिपकली मानी गयी है, उसकी हड्डी लन्दन के म्यूज़ियम में रखी है। जबकि अस्थिपंजर 80 मन का है तो उसका वजन 200 मन होगा। जब छिपकली 200 मन की है तब मनुष्य को कम से कम 8000 मन का होना चाहिए। दूसरी बात यह कि डार्विन के

मत में पेड़ इतने बड़े माने गये हैं कि जंगल के जलने पर कोयले की खान बन गयी तब तो आदमी को 50 मंज़िले मकान से भी बड़ा होना चाहिये।

अब थोड़ा पृथ्वी की आयु पर विभिन्न वैज्ञानिकों के विचार सुन लीजिये। प्रथम रसायन शास्त्री लोग सृष्टि के मूल तत्त्व 92 मानते थे, अब एक ही मानते हैं। हेकल आदि डार्विन के अनुयायियों का कहना था कि संसार को बने 8 लाख 20 हजार वर्ष हुए हैं जबकि भूगर्भ-शास्त्री लोग कहते हैं कि 10 करोड़ वर्ष हुए। प्रो० पेरी ने रेडियम की खोज द्वारा यह बताया है कि पृथ्वी की आयु 10 करोड़ वर्ष से भी अधिक है। अब सोचिये इसमें क्या सही है ? और यदि हम प्रत्यक्षवाद से सिद्ध करें तो आप चकित रह जायेंगे। अभी कुछ दिन पूर्व नेवादा में मिस्टर जान टी. रोड ने खुदाई में एक जूते की आयु 60 लाख वर्ष घोषित की है जिसकी सिलाई बहुत अच्छी है अर्थात् 60 लाख वर्ष पूर्व मनुष्य पूर्ण विकसित था। अब सोचिये उस पूर्ण विकास में भी तो कम से कम 50 लाख वर्ष लगे होंगे।

भावार्थ यह है कि इस प्रकार उस जूते के सिद्धान्तानुसार एक करोड़ वर्ष के मनुष्य हुए। विकासवादियों, हेकल आदि के मतानुसार अमीबा से 22 कड़ी बाद मनुष्य बना अर्थात् यदि 1 कड़ी में 1 करोड़ वर्ष भी मान लें तो 21 करोड़ वर्ष अमीबा को हुए हुआ होगा। करोड़ों वर्ष बाद अमीबा हुआ होगा। इस प्रकार 22 करोड़ वर्ष तो कम से कम हुए जबकि हेकल 8 लाख 20 हजार वर्ष बताता है। यह सब तीर-तुक्का है। वस्तुत: शास्त्रीय दृष्टि से संसार 1 अरब 95 करोड़ कुछ लाख वर्ष का है। 14 मनु की आयु में 4 अरब 32 करोड़ वर्ष होते हैं। ब्रह्मा की आयु 50 वर्ष की बीत चुकी है, 50 बाकी हैं। यदि किसी एक कुएं में बैलगाड़ी, मोटर, रॉकेट आदि डाल दिये जायं तो जब कभी पृथ्वी से वे खोदे जायेंगे तब किस उन्नति का अनुमान किया जायगा ?

आज का वैज्ञानिक सिद्धान्त ही डार्विन, हेकल आदि की मखौल उड़ाता है और कहता है कि बंदर से मनुष्य नहीं उत्पन्न हुए अपितु मनुष्य से बंदर उत्पन्न हुए हैं। प्राचीनकाल में मनुष्य ने विज्ञान में बहुत उन्नति की इसलिए दिमाग कमजोर हो गया। अतएव वे जंगली बनमानुष, बंदर आदि बन गये। ध्यान देने की बात है कि अब पुनः विज्ञान की अंतिम सीमा आ गयी है, अतएव विज्ञानी लोग सावधान हो जायें, उन्हें बनमानुष एवं बंदर बनना पड़ेगा।

कहाँ तक कहें, स्वयं डार्विन के पुत्र जॉर्ज डार्विन ने 16 अगस्त, 1905 में कहा कि जीवन एवं सृष्टि का रहस्य अब भी उतना ही गुप्त है, जितना पहले था।

मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं कि किसी भी जीवन-कार्य की संगति भौतिकवाद से नहीं हो पा रही है। यहाँ तक कि आँसू तक को सिद्ध नहीं कर पाये। कुछ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड की विज्ञान सभा में डॉक्टर लॉ की बात दुहराई गयी कि आधुनिक विज्ञान की सबसे बड़ी खोज यही है कि हम लोग अभी तक कुछ नहीं खोज पाये अर्थात् मूलतत्त्व नहीं समझ पाये।

डार्विन को यह सन्देह था कि ईश्वर यदि होता और दयालु होता एवं सर्वशक्तिमान् होता, जैसा कि आस्तिक लोग कहते हैं तो वह दुःखमय संसार न बनाता। इतना ही नहीं यदि ईश्वर ने संसार बनाया है तो यह शंका भी स्वभावतः आती है कि ईश्वर ने जीवों को भी बनाया होगा और यदि जीवों को भी बनाया है तो फिर जीव नित्य, अनादि, अज आदि नहीं हैं। पुनः वेद-शास्त्र से घोर विरोध हो जायगा। वेद कहता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वेता. 4-5)

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेता. 1-9)

गीता कहती है -

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता 15-7)

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि॥

(गीता 13-19)

रामायण भी कहती है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

इन दोनों शंकाओं का समाधान सुनिये। ईश्वर ने संसार बनाया ही नहीं। तब तो नास्तिक कहेंगे-बस यही तो हम भी कह रहे थे। किन्तु उससे आगे और सुनिये। ईश्वर ने संसार को प्रकट किया है, नवनिर्माण जीवात्माओं का नहीं किया है। जीव तो अनादिकाल से हैं एवं उनके अनन्तानन्त कर्म भी साथ में हैं किन्तु ईश्वर ने उन्हें प्रकट कर दिया जिससे वे अपनी मुक्ति के हेतु प्रयत्न करें। इसी से वेद कहता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्ष मथोस्वः।

(ऋग्वेद)

अर्थात् जिस प्रकार पूर्व-सृष्टि थी उसी प्रकार ईश्वर ने कल्पना की। बस कल्पना करते ही विश्व बन गया। जब पूर्व क्रमानुसार ही विश्व प्रकट किया गया तब यह प्रश्न ही समाप्त हो गया कि जीव को ईश्वर ने नया-नया बनाया। सृष्टि शब्द का अर्थ ही यह है '**सृज विसर्गे**' अर्थात् छोड़ना। जन्म का अर्थ भी यही है '**जनि प्रादुर्भावे**' अर्थात् प्रकट होना। अर्थात् जन्म या सृष्टि नव-निर्माण के बोधक शब्द नहीं हैं। जल में जैसे बिजली थी उसे

प्रकट किया गया उसी प्रकार प्रलयकाल में ब्रह्मस्थ जीवों को पुनः प्रकट किया गया और जिस योग्यता में प्रलय हुआ था उसी में वे पुनः खड़े कर दिये गये। जिस प्रकार पूर्व असमाप्त क्रिकेट–मैच यथापूर्व आरम्भ हो जाता है।

स्पेन्सर, हेमिल्टन आदि का तर्क है – यदि ईश्वर संसार से बाहर है तो स्वतन्त्र हो सकता है। किन्तु तब उसे संसार का ज्ञान कैसे होगा? और यदि वह संसार में कार्य करता है तो अनंत अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् को सीमित शक्ति में उतारना भोलापन है। और फिर सब से प्रमुख बात तो यह है कि बिना ईश्वर के व्याप्त हुए अचेतन प्रकृति में नियमित एवं ज्ञानपूर्वक विकास असम्भव है।

कुछ लोग कहते हैं कि अचेतन तृण से दूध एवं दूध से दही आदि बन जाता है, इस प्रकार बिना ज्ञानादि शक्ति के सृष्टि हो जाती है। किन्तु यह तर्क भी भोलेपन का है क्योंकि यदि तृण से दूध बन जाता तो बैल तो तृण खाता है उससे दूध क्यों नहीं बनता? इसके अतिरिक्त तृण खाने वाली गाय चैतन्य होती है। अपने आप कभी तृण दूध बना है?

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर एवं प्रकृति मिल कर सृष्टि करते हैं, ऐसा मान लिया जाय। किन्तु ऐसा मानने में ईश्वर अपूर्ण एवं सदोष सिद्ध होगा। सांख्य दर्शन का सिद्धान्त तो अकर्ता एवं अप्राकृत सिद्ध करने मात्र का है।

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर तो चैतन्य है फिर उससे जड़ विश्व कैसे बन सकता है। किन्तु उन्हें जानना चाहिये कि चैतन्य मनुष्य से ही बाल एवं नखादि कैसे होते हैं। पुनः मायाधीश ईश्वर के लिये क्या कठिन है।

कुछ लोग कहते हैं कि समन्वय कर दिया जाय अर्थात् चेतन का रचयिता चेतन ईश्वर एवं जड़ का कारण प्रकृति मान ली जाय। किन्तु ऐसा मानने पर चेतन विकारी सिद्ध होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि काल को सृष्टिकर्ता मान लिया जाय, ईश्वर की क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न भी बड़ा व्यापक है, किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि काल की उत्पत्ति तो ईश्वर से ही होती है—

अक्षरात् संजायते कालः।

(वेद)

पुनश्च गीता कहती है –

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

(गीता 15-16)

कुछ लोग कहते हैं कि कर्म को सृष्टि का कारण मान लेना चाहिए किन्तु यह तो सर्वथा असम्भव है क्योंकि कर्म जड़ है तथा चित् के अधीन भी है। कुछ लोग कहते हैं कि जीव को सृष्टिकर्ता मान लेना चाहिए। किन्तु यह भी असम्भव है क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, साथ ही पराधीन है। यदि जीव स्वाधीन होता तो स्वयं कर्म फल को क्यों भोगना चाहता?

कुछ लोग अन्त में कहते हैं कि जीवनमुक्त परमहंस जो '**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' के अनुसार ब्रह्म हो जाते हैं, उनसे सृष्टि मान ली जाय, किन्तु वेदान्त कहता है '**जगद्व्यापारवर्जम्।**' *(ब्र. सू. 4-4-17)*- संसार आदि बनाने का कार्य परमहंस भी नहीं कर सकते। उनकी ब्रह्म से एकता तो केवल '**भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।**'*(ब्र. सू. 4-4-21)* के अनुसार ब्रह्मानन्द भोगने के दृष्टिकोण से ही मानी गयी है।

भावार्थ यह कि सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानना ही होगा। यह तर्क, शास्त्र एवं युक्ति सभी से सिद्ध है। किन्तु वेदान्त-शास्त्र कहता है कि यद्यपि तर्क से तुम लोग सिद्ध करते हो किन्तु ईश्वर-सिद्धि तर्क का विषय नहीं है। वेद में लिखा है इसलिये ईश्वर को मान लेना चाहिये। जिसे न मानना हो या शंका

हो वह वेद के अनुसार साधना करके देख ले। यदि ईश्वर-प्राप्ति न हो तभी उसे यह कहने का अधिकार है कि ईश्वर नहीं है। अस्तु, यह ईश्वर की सिद्धि हुई।

यहाँ पर एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि यदि भगवान् सर्वव्यापक है तो फिर उसका हमें अनुभव क्यों नहीं होता। रसगुल्ला खाते हैं, चीनी खाते हैं तो हमें उसकी मिठास का अनुभव होता है फिर प्रत्येक परमाणु में व्याप्त आनन्दमय भगवान् के आनन्द का हमें अनुभव क्यों नहीं होता? दूध पीने में दूध का अनुभव होता है, विष खाने में विष का अनुभव होता है, उसी प्रकार भगवान् का भी अनुभव हमें होना चाहिये। आप लोगों का दावा है कि अनुभव में आने वाली वस्तु ही आप मान सकते हैं। अनुभव प्रमाण ही आपको मान्य है। किन्तु अनुभव प्रमाण सबसे निर्बल प्रमाण है। पीलिया रोग के रोगी को सर्वत्र पीला ही पीला दीखता है किन्तु उसका अनुभव भ्रामक है। साँप के काटे हुए व्यक्ति को नीम मीठा लगता है। इसी प्रकार भव-रोग से ग्रस्त जीव को किसी भी वस्तु का अनुभव भ्रामक ही होता है। एक चींटी चीनी के पहाड़ पर चक्कर काटकर लौटी और उससे पूछा गया तो उसने अनुभव यह बताया कि यह पर्वत नमकीन था। बड़ा आश्चर्य हुआ किन्तु जब जाँच हुई तो पता चला कि चींटी के मुख में नमक की डली रखी हुई थी। अस्तु, सर्वत्र शक्कर के ढेर पर भ्रमण करते हुए भी उसे अपने मुख में रखे हुए नमक का ही स्वाद अनुभव में आया। उसी प्रकार जिस इन्द्रिय, मन, बुद्धि से हम संसार को ग्रहण करते हैं वे सब प्राकृत, मायिक, त्रिगुणात्मक एवं सदोष हैं और भगवान् प्रकृत्यतीत, दिव्य, गुणातीत एवं दोषरहित है, फिर हम इनसे उसके ठीक स्वरूप को किस प्रकार से पहचान सकते हैं? जब तक ये दिव्य न हो जायें, इनका अनुभव सही कदापि नहीं हो सकता।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

(छान्दोग्यो. 3-14-1)

ईशा वास्यमिदꣳसर्वम्

(ईशावास्यो. 1)

'सियाराममय सब जग जानी'

'प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना।'

यह सब सत्य होने पर भी सदोष इन्द्रिय, मन, बुद्धि का अनुभव गलत होना स्वाभाविक है। विवेकानन्द, तुलसी, सूर, मीरा आदि का पीलिया रोग अच्छा हो गया था। अस्तु, उन्हें सर्वत्र ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप का अनुभव हो रहा था, किन्तु जब उन्होंने अपना सत्य अनुभव हमें बताया तो हमने उनको नहीं माना और उनकी खिल्ली उड़ाई।

भगवान् दो विरोधी धर्मों का अधिष्ठान है इसलिए उसे समझने में कठिनाई होती है। किन्तु उसे प्राप्त किया जा सकता है और यह वही कर सकता है जिस पर उसकी कृपा हो जाय। उसकी कृपा से ही प्राकृत इन्द्रिय, मन, बुद्धि को दिव्यता प्राप्त हो जाती है जिससे दिव्य ईश्वर ग्राह्य हो जाता है।

विश्व का प्रत्येक जीव आस्तिक ही है। वह करोड़ों कल्प परिश्रम करके भी नास्तिक नहीं बन सकता क्योंकि प्रत्येक अनीश्वरवादी आनन्द को तो मानता ही है और आनन्द ईश्वर का पर्यायवाची है। अतएव आनन्दोपासक स्वयं ही ईश्वरोपासक सिद्ध हो जाता है। उसका ईश्वरीय गुणों में प्रेम भी ईश्वर को सिद्ध करता है। यहाँ तक कि उसकी स्वयं सत्ता ही ईश्वर को सिद्ध करती है।

वाल्मीकि के कथनानुसार—

लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः॥

अर्थात् विश्व में एक भी जीव ऐसा नहीं जो राम का अनुयायी न हो। यह पृथक् बात है कि हम उसकी प्राप्ति का ठीक मार्ग न जानते हों अतएव प्रयत्न विपरीत हो रहा हो, किन्तु ईश्वर को तो मानते ही हैं।

यदि कोई कहे कि मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं ईश्वर का विरोध करूँगा तब तो वह प्रकांड आस्तिक है। जैसे हमारे यहाँ हिरण्यकशिपु आदि हुए। वे प्रकाण्ड आस्तिक इसलिये हैं कि विरोध तो किसी सत्ता से ही हो सकता है। यदि ईश्वर न होता तो वे विरोध किससे करते। पुनः यह भी इतिहास-सिद्ध बात है कि इन राक्षसों को ईश्वर-प्राप्ति भी हुई। क्योंकि उपासना का अभिप्राय ही यह है कि किसी भी भाव से मन को ईश्वर में एक कर देना। वह चाहे अनुकूल भाव से हो अथवा प्रतिकूल भाव से हो—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(भाग. 10-29-15)

इस वेदव्यासोक्ति के अनुसार काम से, क्रोध से, भय से, स्नेह से, सौहार्द से, ऐक्य से, जैसे कैसे भी ईश्वर में मन एक कर देने से ईश्वर की ही प्राप्ति होगी। फिर वह प्रकांड आस्तिक यानी मायातीत महापुरुष स्वयं सिद्ध है। उसे नास्तिक कहना स्वयं की नास्तिकता का द्योतक है। इसके अतिरिक्त कर्म जड़ हैं, वे स्वयं फल नहीं बन सकते। उनको ठीक समय में फल रूप में देने का काम सर्वज्ञ ईश्वर ही कर सकता है। जीव प्रथम तो अल्पज्ञ है, उसे अनन्त जन्मों के अपने कर्मों का ज्ञान नहीं है। दूसरे यदि हो भी जाय तो अपने विरुद्ध कौन कर्मफल भोगना चाहेगा? अतएव ईश्वर को कर्मफल-दाता मानना पड़ेगा। ऐसा न्यायदर्शन का भी मत है।

वस्तुतस्तु ईश्वर की सिद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमान इन दोनों ही प्रमाणों से पूर्णतया नहीं हो सकती। अतएव वेदान्त ने शब्द–प्रमाण से ही ईश्वर को सिद्ध किया है। प्रायः भोले लोग कहते हैं कि शब्द–प्रमाण तो साधारण प्रमाण है, अनुभव–प्रमाण ही सत्य है। किन्तु उन्हें यह जानना चाहिये कि अनुभव तो साधना के पश्चात् ही होता है। शब्द को साधना के पूर्व मानना ही पड़ेगा। पुनः यदि अनुभव–प्रमाण माना जाय तब तो संसार का भी कार्य असिद्ध हो जायगा। यथा एक पित्त–रोगी मीठी–चीनी को कड़वी अनुभव करता है। एक पीलिया का रोगी श्वेत वस्तु को पीली देखता है। सर्प का काटा हुआ व्यक्ति कड़वी नीम को मीठी अनुभव करता है। चींटी नमक के डले को मुँह मे रखकर चीनी के पहाड़ पर भी चक्कर लगाकर उस पहाड़ को नमकीन ही अनुभव करती है, भावार्थ यह कि अनुभव यदि उस कक्षा का न हुआ तो धोखा हो सकता है। अतएव शब्द–प्रमाण के द्वारा ही अनुभव करने पर वास्तविक तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है।

यदि शास्त्रों–वेदों के अनुसार ईश्वर–प्राप्ति की साधना करने पर ईश्वर सिद्धि न हो तभी यह कहने का अधिकार है कि ईश्वर नहीं है। भौतिक जगत की सिद्धि के हेतु भी प्रथम साधना ही की जाती है अन्यथा वैज्ञानिक क्यों साधना करें। जितना अनुभव है उसके आगे न मानें। पर ऐसा नहीं है, वे कहते हैं कि साधना के पश्चात् ही किसी तत्त्व को सिद्ध अथवा असिद्ध किया जा सकता है, प्रथम तो मानना पड़ेगा।

यदि कोई कहे कि ठीक है, ईश्वर होगा, किन्तु उसकी उपासना आदि करने से क्या अभिप्राय है। जैसे अपने देश में कोई अध्यक्ष होता है उसी प्रकार ईश्वर भी सम्पूर्ण विश्व का अध्यक्ष होगा। किन्तु यह बात नहीं है। क्योंकि देश के अध्यक्ष से हमारे नाते सीमित ही हैं और उस ईश्वर से हमारे नाते पूर्ण हैं। पुनः हम स्वार्थी हैं, हमारा स्वार्थ जहाँ भी सिद्ध होगा वहीं हमारा स्वाभाविक

प्रेम हो जायगा, यह अनुभूत बात है। हम वास्तविक नित्य असीम आनन्द चाहते हैं और ऐसा आनन्द एकमात्र ईश्वर में ही है। अतएव ईश्वर से हमारा घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यदि हमें आनन्द की प्राप्ति अन्यत्र कुत्रापि हो सकती तो ईश्वर से हमारा सम्बन्ध देश के अध्यक्ष के समान ही रहता। आप ईश्वर की प्राप्ति के विषय में चिन्तित न हों, वह सर्वसुलभ है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि उसकी प्राप्ति में कोई साधना ही नहीं करनी है। आप कहेंगे यदि साधना नहीं करनी है तो अब तक आनन्द-प्राप्ति क्यों नहीं हुई। हाँ, यह प्रश्न ठीक है। यही सब तो समझना है। थोड़ा धैर्य रखिए, सब समझ में आ जायगा। अब ईश्वर के स्वरूप पर विचार करना है। क्योंकि वेद के अनुसार—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥

(कठो. 2-3-4)

अर्थात् मानवदेह पाकर यदि ईश्वर को नहीं जाना तो पुनः चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाना होगा। उससे बड़ी कोई भूल न होगी। अतएव मानव देह का महत्व समझकर ईश्वर को समझना है जिससे हम अपने परम चरम लक्ष्य परमानन्द को प्राप्त कर सकें।

ईश्वर का स्वरूप

'**नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्**' अर्थात् जो वेद नहीं जानता वह ईश्वर को नहीं जान सकता। अतः सर्वप्रथम वेदों में ही चल कर देखा जाय। वेद कहता है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

(केनो. 2-3)

अर्थात् जो यह समझता है कि ईश्वर समझने का विषय है वह नहीं समझता एवं जो यह समझता है कि ईश्वर समझने का विषय नहीं है वह ईश्वर को समझता है। अर्थात् ईश्वर को कोई नहीं समझ सकता। दूसरी ओर वेद यह भी कहता है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनो. 2-5)

अर्थात् यदि इसी मानव-देह में ईश्वर को जान लिया, तब तो ठीक है अन्यथा महती हानि हो जायगी क्योंकि यह मानव-देह देवताओं को भी अप्राप्य है।

वेदों ने ईश्वर के न जान सकने के कई कारण बताये हैं। एक कारण तो यह है कि—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(कठो. 1-3-10, 11)

अर्थात् इन्द्रियों से परे इन्द्रियों के विषय हैं, विषयों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे जीव है, जीव से परे माया है, माया से परे ब्रह्म है। भावार्थ यह कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि से ईश्वर सर्वथा परे है, अतएव इन्द्रिय, मन, बुद्धि से ग्राह्य नहीं हो सकता, जब कि जीव के पास यही एकमात्र साधन हैं।

दूसरा कारण यह है कि '**दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः**' अर्थात् ईश्वर दिव्य है एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राकृत है। अतएव इन्द्रिय, मन, बुद्धि दिव्य ईश्वर को नहीं ग्रहण कर सकते।

तीसरा कारण यह कि—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(श्वेता. 6-14)

अर्थात् वह प्रकाशक है। उससे इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रकाशित होते हैं। अतएव प्रकाशक ईश्वर से प्रकाशित इन्द्रिय, मन, बुद्धि अपने प्रकाशक की प्रकाशिका कैसे हो सकती हैं? अतएव वह सर्वथा अज्ञेय है।

चौथा कारण—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केनो. 1-5)

अर्थात् उसकी प्रेरणा से इन्द्रिय, मन, बुद्धि अपना-अपना कार्य करने में समर्थ होते हैं अतएव प्रेर्य इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रेरक ईश्वर को ग्रहण करने में असमर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त ईश्वर दो विरोधी धर्मों का अधिष्ठान है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(श्वेता. 3-20)

अर्थात् आप जितनी छोटी कल्पना परमाणु आदि की कर सकते हैं ईश्वर उससे भी छोटा है एवं आप जितनी बड़ी कल्पना आकाशादि की कर सकते हों, ईश्वर उससे भी बड़ा है। छोटे से छोटा होना इसलिये अनिवार्य है क्योंकि उसे छोटी से छोटी वस्तु में भी व्याप्त होना है और बड़े से बड़ा होना इसलिए आवश्यक है कि सबको अपने भीतर स्थिर रखना है एवं प्रलय द्वारा अपने में प्रविष्ट कराना है। यदि इतना ही होता कि वह छोटा होता तो समझ में आता, यदि बड़ा होता तो समझ में आता। सम्भव है दोनों स्थितियाँ भी समझ में आ जाती किन्तु वेद कहता है कि—

'नेति नेत्यस्थूलमनणुः'

अर्थात् न वह छोटा है और न बड़ा है। तब फिर उसे कैसे समझा जाय।

5. पुनश्च—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

(कठो. 1-2-14)

अर्थात् ईश्वर धर्म से परे है, अधर्म से परे है, कार्य से परे है एवं कारण से भी परे है।

6. पुनश्च—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

(श्वेता. 3-17)

ईश्वर समस्त इन्द्रियों आदि से रहित है, किन्तु समस्त इन्द्रियादिकों के विषय को ग्रहण करता है। यहाँ तक कि—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

(श्वेता. 3-19)

अर्थात् उसके पैर नहीं हैं किन्तु दौड़ता है, उसके हाथ नहीं हैं किन्तु पकड़ता है, उसके आँख नहीं हैं किन्तु देखता है, उसके कान नहीं हैं किन्तु सुनता है, वह सब कुछ जानता है, उसे कोई नहीं जानता।

7. दूसरी ओर—

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

(पुरुष सूक्त-1)

अर्थात् उसके अनन्त सिर हैं, अनन्त आँखें हैं, अनन्त पैर हैं, आदि। अस्तु, अगर बिना पैर का होता तो हम उसे लंगड़ा समझ लेते किन्तु दौड़ता है तब लंगड़ा कैसे समझ लेंगे। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों की समस्या है।

8. पुनश्च—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योप. 5)

अर्थात् वह चलता है, वह नहीं चलता है; वह दूर से भी दूर है एवं वह समीप से भी समीप है; वह सब के भीतर है एवं सब के बाहर है।

9. पुनश्च—

अजायमानो बहुधा विजायते, तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः।

(यजुर्वेद)

अर्थात् वह अजन्मा भी है एवं अनन्तानन्त जन्म भी धारण करता है।

10. पुनश्च —

सोऽकामयत्। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति॥

(तैत्तिरीय. 2-6)

अर्थात् उसने इच्छा की एवं तपस्या की जिससे सृष्टि हुई। भावार्थ यह कि वह सृष्टिकर्ता है। एवं —

अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्।

 (श्वेता. 1-9)

अर्थात् वह कुछ नहीं करता।

इसी आशय से गीता भी कहती है —

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता 7-7)

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता 9-4)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

(गीता 9-18)

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

(गीता 10-8)

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

(गीता 10-12)

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता 10-42)

इसी आशय से वेदव्यासजी कहते हैं—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥

(भाग. 2-5-14)

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्।
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति॥

(भाग. 2-6-15)

पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः।
अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु॥

(भाग. 2-6-18)

वेदव्यास की एक परिभाषा तो बहुत ही विलक्षण है—

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः॥

(भाग. 10-85-4)

अर्थात् जो विश्वरूप हो, जिसको विश्व-व्यापार प्राप्त हो, जिससे विश्व की रक्षा होती हो, जिसके लिये विश्व हो, जिसमें विश्व उत्पन्न हुआ हो, जिसका विश्व हो, जिससे विश्व स्थित हो, ऐसा माया एवं जीवों का स्वामी ईश्वर है। रामायण भी यही कहती है—

राम स्वरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर॥
अविगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम वद॥
जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि शंभु नचावन हारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहिं को जाननहारा॥
राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी॥

भावार्थ यह कि ईश्वर सर्वथा अदृष्ट, अव्यवहार्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य, अचिन्त्य है जैसा कि वेद कहता है—

'अदृष्टमव्यवहार्यम्'

वेदव्यासानुसार उसे ब्रह्मा, शंकरादि भी नहीं जानते—

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुतापरे सुराः।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं विनिर्मितं चात्मसमं विचक्ष्महे॥

(भाग. 2-6-36)

वेद कहता है, ऐसा ईश्वर तीन स्वरूप वाला है—

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किं चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥

(श्वेता. 1-12)

अर्थात् तीन प्रकार के ईश्वर को जानना होगा, तब माया निवृत्ति होगी। प्रथम भोक्ता ब्रह्म, द्वितीय भोग्य ब्रह्म, तृतीय प्रेरक ब्रह्म। प्रेरक ब्रह्म के विषय में ऊपर बता ही चुका हूँ। भोक्ता ब्रह्म के विषय में वेद कहता है—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठो. 1-3-3)

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ते त्याहुर्मनीषिणः॥

(कठो. 1-3-4)

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

(कठो. 1-3-9)

अर्थात् आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, ऐसे आत्मेन्द्रिय-मन-बुद्धि-युक्त तत्त्व को भोक्ता-ब्रह्म कहा जाता है। भोग्य-ब्रह्म के विषय में वेद कहता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वेता. 4-5)

अर्थात् वह भी अजा है। इसका भी कभी प्रारम्भ नहीं है, अनादि अनन्त है, उसे माया कहते हैं। यह तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) वाली है किन्तु ऊपर कहा जा चुका है कि ये तीनों बुद्धि से परे हैं।

अब विचारणीय यह है कि—

बुद्धि से भी जब ईश्वर अग्राह्य है तो हम कैसे आशा करें कि वह हमारी समझ में आ जायगा? और बिना जाने विश्वास न होगा, बिना विश्वास के उसकी प्राप्ति न होगी एवं बिना उसकी प्राप्ति हुए परमानन्द का परम चरम लक्ष्य न हल होगा। वेद कहता है—

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेता. 3-8)

अर्थात् उस ईश्वर को जानने वाले भी हुए हैं। एक ओर ईश्वर को सर्वथा अज्ञेय, अदृष्ट आदि कहा जाता है और दूसरी ओर दृष्ट एवं ज्ञेय कहा जाता है, यह समस्या कैसे हल हो? आइये, इस पर विचार करें।

भगवत्कृपा

वेद ने बताया कि

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठो. 1-2-23)

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।

(कठो. 1-2-20)

अर्थात् उसे उच्चतम इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी यद्यपि नहीं ग्रहण कर सकते किन्तु वह जिस पर कृपा कर देता है एवं कृपा द्वारा अपनी दिव्य शक्ति प्रदान कर देता है वह बड़भागी जीव उस अज्ञेय ईश्वर को पूर्णतया जान लेता है एवं उस अदृश्य ईश्वर का पूर्णतया दर्शन कर लेता है। इसी आशय से गीता कहती है—

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता 18-62)

अर्थात् अर्जुन! तुम ईश्वर की कृपा से परमशान्ति एवं उसके शाश्वतानन्दमय दिव्यधाम को प्राप्त कर सकते हो। इसके अतिरिक्त जब अर्जुन को पूर्णज्ञान हो गया एवं अज्ञान का अत्यन्ताभाव हो गया तब भी उसने यही कहा था कि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

(गीता 18-73)

अर्थात् आपकी कृपा से ज्ञान हुआ एवं अज्ञान सदा के लिए समाप्त हो गया। यह ध्यान रहे कि ज्ञान पर अज्ञान का अधिकार कभी नहीं हो सकता, जैसे प्रकाश पर अन्धकार का अधिकार असंभव है। अब पुराणों में आइये। वेदव्यास जी कहते हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(भाग. 10-14-29)

अर्थात् उस ईश्वर को युगों तक परिश्रम करके भी कोई नहीं जान सकता किन्तु उस ईश्वर की जिस पर कृपा हो जाती है वह उसे पूर्णतया जान लेता है एवं कृतार्थ हो जाता है। रामायण भी यही कहती है कि—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं ह्वै जाई॥
तुम्हरिहिं कृपा तुमहिं रघुनन्दन। जानत भगत भगत उर चन्दन॥
राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥

माया-निवृत्ति के सम्बन्ध में भी रामायण का मत है कि—

सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि।
छुटै न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥

भ्रम-निवृत्ति के विषय में भी रामायण ने बताया है कि—

रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानु कर वारि।
यदपि मृषा तिहुँ काल महँ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सो कृपालु रघुराई॥

मानस–रोग–निवृत्ति के लिए भी—

राम कृपा नासहिं सब रोगा।

सत्संग के लिए भी रामायण ने बताया है कि—

बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
अब मोहिं भा भरोस हनुमन्ता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता॥
सन्त विशुद्ध मिलहिं पुनि तेही। राम कृपा करि चितवहिं जेही॥

भावार्थ यह कि वेद से लेकर रामायणपर्यन्त सर्व–सम्मति से यह निश्चित हुआ कि ईश्वर कृपा के बिना हमारी आत्यन्तिक–दुःख–निवृत्ति भी नहीं हो सकती एवं परमानन्द–प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

अब विचार यह करना है कि जब ईश्वर कृपा से ही सब कुछ होना है तो हम लोगों की छुट्टी है। जब वह कृपा करेगा तब सब काम स्वयमेव ठीक हो जायगा। साधनादि का परिश्रम व्यर्थ ही है। एवं इसी आशय से विश्व के अधिकांश प्रिय महानुभाव यह कह दिया करते हैं कि उस ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता। उसकी इच्छा बिना पत्ता नहीं हिल सकता, उसे जैसा करना होता है, करता है। अतएव हम से यदि कोई अनाचार, दुराचार, पापाचार आदि भी होता है तो वही जिम्मेदार है, हम तो निर्दोष हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता 18–61)

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥

आदि के अनुसार हम एक यन्त्रारूढ़ कीट के समान हैं, वह जैसा करता है वैसा ही हम करते जाते हैं। यह सिद्धान्त महान् सर्वनाश करने वाला भी है

एवं महान् उत्थान करने वाला भी है, अतएव इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा।

(1) सर्वप्रथम यह विचार कीजिये कि ईश्वर सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ है। वेद ने कहा है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।

(मुण्डको. 1-1-9)

अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ है। अब यह सोचिये कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ है और वही हमारा संचालक है अर्थात् वही हमारे प्रत्येक कार्य का कर्त्ता है तो हमारे द्वारा अल्पज्ञता के कार्य क्यों होते हैं?

(2) यह सोचिये कि यदि ईश्वर कर्त्ता है तो हम अपने आपको कर्त्ता क्यों महसूस करते हैं, फिर तो हमें अशान्त ही न होना चाहिए?

(3) यदि ईश्वर कर्त्ता है तो वही भोक्ता होना चाहिए या अपने आपको उसे क्षमा कर देना चाहिए किन्तु हमें तो भोक्ता न बनाना चाहिए। यह तो साधारण मनुष्य भी न करेगा कि कार्य स्वयं करे एवं फल दूसरा भोगे। देवदत्त खाना खाय एवं विष्णुदत्त का पेट भरे या देवदत्त खाना खाय, विष्णुदत्त उल्टी करे, यह कैसे होगा?

(4) यदि ईश्वर कर्त्ता है तो उसने अपना विधान, अर्थात् वेदों में जीवों के लिए कार्याकार्य का विधान निर्माण क्यों किया, फिर तो वह यह कह देता कि जीवों को कुछ नहीं करना है, मैं जैसा चाहूँगा, कराऊँगा?

(5) यदि ईश्वर कर्त्ता समदर्शी है तो एक को प्रह्लाद आदि का परम पद देकर सदा के लिए आनन्दमय कर दिया एवं दूसरे को काम, क्रोध, लोभादि के पिटारे में बंद करके वासनाओं की दासता भोगवा रहा है,

ऐसा अन्याय कैसे हो सकता है ? पुनश्च 84 लाख योनियों का विधि-निर्माण ही क्यों करता ?

(6) यदि कहो कि यह तो ईश्वर का अभिनय मात्र है, सुख, दुःख जीव को मिलता ही नहीं है, तब तो हमें ब्रह्म-ज्ञानादि की आवश्यकता ही नहीं है।

उपर्युक्त दोषारोपण के परिणामस्वरूप यह निश्चय हुआ कि यदि हम ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं तो ईश्वर कोई आततायी तत्त्व सिद्ध होगा एवं साथ ही हमारी उच्छृङ्खलता उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी; हम आलसी बनते जायेंगे एवं हमारी प्रत्येक क्रिया पैशाचिक होने लग जायगी। ऐसे ही हम पर्याप्त उच्छृङ्खल हैं फिर ईश्वर को कर्त्ता मानना तो महान् पतनकारक है।

कुछ लोग कहते हैं ईश्वर तो निर्दोष है, वह कर्त्ता नहीं है, किन्तु हमारे भाग्य का ही दोष है। जैसा भाग्य में लिखा है, ईश्वर वैसा ही कराता है। अतएव इसलिये भी हम निर्दोष हैं—

हरिणापि हरेणापि ब्रह्मणापि सुरैरपि।
ललाटलिखिता रेखा परिमार्ष्टुं न शक्यते॥

(सूक्ति)

किन्तु ऐसे भाग्यवादी सर्वप्रथम विचार करें कि भाग्य क्या तत्त्व है। वे कहेंगे '**पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते**' अर्थात् पूर्व जन्मों के किये गये पुरुषार्थ पश्चात् जन्म में भाग्य कहलाते हैं। भावार्थ यह कि भूतकाल के कर्म भविष्य काल में भाग्य की संज्ञा पा जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमने भूतकाल में पुरुषार्थ किया है। भूतकाल में हम पुरुषार्थ करने में स्वतन्त्र थे, केवल वर्तमान में ही ईश्वर का नियम बदल गया कि हम पुरुषार्थ नहीं कर सकते ? क्या हँसी की बात है! हमारा पिछला जन्म भी तो उस समय

वर्तमान ही था। तब भी हमें यही कहना चाहिए था कि वर्तमान में कर्म नहीं कर सकते और यदि सदा यही कहना चाहिये था तो किस भूतकाल में कर्म किया जिसका फल अनंत भविष्य काल तक भोगना पड़ रहा है ? यदि भूत में कर्म किया है तो आज भी कर सकते हैं, यदि आज नहीं कर सकते तो भूत में भी न किया होगा, यह तो साधारण बुद्धि वाला भी समझ सकता है। अतएव भाग्य के नाम पर उच्छृङ्खलता करना और भी नासमझी है। वेद-शास्त्र या लोक भी यह नहीं कहता कि तुम्हें कुछ नहीं करना है, बस भाग्य के अनुसार सब होता जायगा। हम सांसारिक कार्यों में न ईश्वर को कर्त्ता मान कर अकर्मण्य बनते हैं और न भाग्य को समक्ष रख कर आलसी ही बनते हैं। वहाँ तो धन, पुत्रादि के हेतु प्रतिक्षण द्रुतगति से प्रयत्नशील हैं, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति के विषय में यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि हमें कुछ करना नहीं है।

कुछ लोग काल को दोष देकर उच्छृङ्खल हो जाते हैं। उनका कहना है कि समय सब करा लेता है। कुछ लोग परिस्थिति की ओट लेकर कि परिस्थिति से मनुष्य पापकर्मादि करता है, ऐसा कह कर पापाचार में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यह सब अपनी नासमझी का परिणाम है। वस्तुतः ईश्वर, भाग्य, कालादि का कोई दोष नहीं है। हम आपको एक आश्चर्य बतायें, कतिपय देशों में परिस्थिति वश पाप करने का सिद्धान्त है जिन्हें हम प्रकांड नास्तिक मतावलम्बी कहते हैं, कुछ देश ईश्वरेच्छावादी हैं जिन्हें हम प्रकाण्ड आस्तिक देश कहते हैं। किन्तु न तो उस नास्तिक देश में और न इस आस्तिक देश के इतिहास में ही कभी ऐसा हुआ कि लोगों को अपराध का दण्ड न दिया जाये, जबकि नास्तिक के मत से परिस्थिति ही दोषी है एवं आस्तिक के मत से ईश्वरेच्छा ही दोषी है। भावार्थ यह कि अपने दोषों को छिपाने एवं बढ़ाने के दृष्टिकोण से ही कतिपय भोले लोगों ने वास्तविक सिद्धान्त का अनर्थ किया

है। वस्तुतः व्यक्ति ही कार्याकार्य का जिम्मेदार है। तुलसीदास जी कहते हैं कि—

नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्द मति, आतम हन गति जाइ॥

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय॥

अर्थात् वह आत्मा का हनन करने वाला है जो काल, कर्म, ईश्वर को दोषी ठहरा कर मनमाना पाप करता है। उसे इस लोक में भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती एवं परलोकादि के सुखों की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतएव सिद्ध हुआ कि ईश्वर-कृपा की ओट में अकर्मण्य बने रहना, यह सर्वाधिक सर्वनाश का मार्ग होगा। अतएव यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ईश्वर-कृपा भी किसी आधार पर आधारित है। वह किसी कारण की अपेक्षा रखती है, बस कारण जो भी हो। जिसने उस कारण की पूर्ति कर दी उस पर ईश्वर की कृपा हो गयी और वह कृतार्थ हो गया। वे ही सन्त महात्मा हैं।

राधे राधे गोविंद गोविंद राधे। राधे राधे गोविंद गोविंद राधे॥

शरणागति

पुनः वेदों में चलिये। वेद कहता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(श्वेता. 6-18)

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च

(श्वेता. 6-21)

अर्थात् हम उस परमेश्वर की शरण में हैं, जिसकी कृपा से आत्मा एवं बुद्धि में प्रकाश प्राप्त होता है, जो ब्रह्मा आदि का सृष्टिकर्ता है। भावार्थ यह कि शरणागति से ही उसकी कृपा हो सकती है। गीता कहती है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता 18-62)

अर्थात् हे अर्जुन! तू उसी ईश्वर की शरण में जा तब उसकी कृपा होगी, तब तू मेरा परमधाम एवं परम शान्ति प्राप्त कर सकेगा, क्योंकि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता 7-14)

अर्थात् मेरी दैवी त्रिगुणात्मिका माया को वही पार कर सकता है जो केवल मेरी ही शरण में आता है। वेदव्यास कहते हैं कि—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।।

(भाग. 11-12-14)

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥

(भाग. 11-12-15)

अर्थात् हे उद्धव! तू अनेक प्रकार के त्रिगुणात्मक कर्म प्रपंच को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जा क्योंकि सभी आत्माओं का परम आत्मा मैं हूँ। तभी तू निर्भय होकर मायातीत हो सकता है। रामायण कहती है—

मन क्रम वचन छांड़ि चतुराई। भजतहिं कृपा करहिं रघुराई॥

अर्थात् सर्वात्म-समर्पण से ही माया से मुक्ति एवं भगवत्कृपा का लाभ हो सकता है। भावार्थ यह कि हमें ईश्वर के शरणागत हो जाना है। ऐसी शरणागति के आधार पर ही ईश्वर-कृपा निर्भर है। जो जो जीवात्माएँ उसके शरणागत हो गयीं, वे-वे अपने परम चरम लक्ष्य परमानन्द को प्राप्त कर चुकीं, जो-जो शरणागत नहीं हुई हैं उन्हीं के ऊपर ईश्वर की कृपा नहीं हुई एवं वे ही अपने लक्ष्य से वञ्चित होकर 84 लाख योनियों में काल, कर्म, स्वभाव, गुणाधीन होकर चक्कर लगा रही हैं।

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा॥

अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह तो सांसारिक सौदा हो गया कि हमने कुछ दिया तब ईश्वर ने कृपा की। किन्तु ऐसा समझना भोलापन है, क्योंकि शरणागति का अभिप्राय ही यह है कि हम कुछ न करें। कुछ न करने

का नाम ही शरणागति है। जब तक नवजात बालक कुछ नहीं करता तब तक माँ सब कुछ करती रहती है; जब बालक कुछ कुछ करने लगता है तो माँ भी कुछ कुछ करना कम कर देती है; जब बालक सब कुछ करने लगता है तब माँ कुछ नहीं करती। बस यही उदाहरण पर्याप्त है। जब तक हम कर्तृत्वाभिमान रखते हैं तभी तक हमें कर्मबन्धन है एवं हम कर्ता घोषित किये जाते हैं, जहाँ हमारा कर्तापन समाप्त हुआ, हम अकर्ता सिद्ध हो गये और—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।

(गीता 9-22)

इस गीतोक्ति के अनुसार हमारा योगक्षेम ईश्वर वहन करने लगा। अतएव यदि कुछ न करने रूपी शरणागति से माया से मुक्ति, त्रिगुण, त्रिकर्म, त्रिताप, पंचकोशादि से मुक्ति, परमानन्द, परम शान्ति की प्राप्ति हो जाय तो इससे बड़ी कृपा और क्या मानी जायगी? यदि हम कुछ भी करते एवं पुनः ईश्वर की कृपा होती तब तो कुछ कहने का अवसर था किन्तु शरणागति से अर्थात् सब कुछ समर्पित कर देने से सब कुछ प्राप्त हो जाना अकारण-कृपा ही है। सब कुछ समर्पित करने में हमारा क्या परिश्रम है? एक पक्षी अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये जब तक भागता है, अन्य पक्षी उसका पीछा करते हैं एवं वह एक क्षण को भी चैन नहीं पाता है। जैसे ही वह सब कुछ समर्पित कर देता है बस अवकाश प्राप्त कर लेता है। भावार्थ यह कि ईश्वर कृपा का कोई मूल्य भी देना चाहे तो असम्भव है क्यों कि जो वस्तु ईश्वर देते हैं वह दिव्य है एवं जो मूल्य जीव देगा वह प्राकृत एवं सदोष ही होगा। पुनः ईश्वर को उस प्राकृत वस्तु से क्या अभिप्राय है।

जब द्रौपदी का चीरहरण हो रहा था, द्रौपदी ने प्रथम पाँचों पतियों का बल मस्तिष्क में रखा। जब वे पति मौन हो गये तब बड़े-बड़े धर्माचार्य-द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर, भीष्म पितामह आदि का अवलम्ब सोचने लगी। जब इधर

से भी निराशा हुई तब अपने दाँत से साड़ी दबायी। तब भी भगवान् नहीं आये। जब दु:शासन के एक ही झटके से दाँत से साड़ी नीचे गिरी तब पूर्णतया शरणागत हो गयी, यानि सब कुछ करना, सोचना बंद कर दिया। सब काम बन गया। भगवान् गीता में कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता 18-66)

अर्थात् अर्जुन! तू धर्माधर्म के चक्कर को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आ जा तो मैं न्यायी भगवान् अपने न्याय को समाप्त करके कृपा द्वारा तेरे समस्त जन्मों के समस्त पापों को क्षमा कर दूँगा। सोचिये यदि कोई अपराधी शरण में भी जाता है तो भी कोर्ट पिछले अपराधों का दंड देती है, किन्तु ईश्वर इतना कृपामय है कि यदि तुम एक बार पूर्ण शरणागत हो जाओ तो अनन्त जन्मों के अनन्तानन्त शुभाशुभ कर्मों से मुक्त करके अर्थात् क्षमा करके भविष्य में अनन्त काल के लिये योगक्षेम वहन करते हुए परमानन्द प्रदान कर देगा। यह कृपा नहीं तो और क्या है ? अल्पज्ञ भी सोच सकता है। अतएव उपर्युक्त प्रश्न समाप्त हो गया कि ईश्वर मूल्य लेकर कृपा करता है। पुत्री के विवाह में केवल माँगने मात्र से बजाज का वस्त्र दे देना और उसके लिये कोई मूल्य कभी न माँगना कृपा है। धोबी का बिना मूल्य वस्त्र धोना कृपा है। ईश्वर का धोया अन्त:करण पुन: मैला नहीं होता है। पत्नी पति की शरण में आते ही पति की सारी संपत्ति की अधिकारिणी हो जाती है, परन्तु ईश्वर शरणागति उससे भी अत्युच्च है,

'तस्य कार्यं न विद्यते'

(गीता 3-17)

अब यह विचार करना है कि शरणागति किसकी की जाय, हमारे पास शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, मन आदि है। पंचदशी कहती है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

(*ब्रह्मबिन्दूपनिषद्–2*)

अर्थात् बन्धन एवं मोक्ष का कारण मन ही है।

वेदव्यास कहते हैं—

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

(*भाग. 3–25–15*)

अर्थात् मुक्ति एवं बंधन में मध्यस्थ कारण केवल मन ही है। अतएव हमें मन को ही ईश्वर के शरणागत करना है। मन के शरणागत होने पर सबकी शरणागति स्वयमेव हो जायगी। हम लोग शारीरिक क्रियादिकों से तो ईश्वर की शरणागति सदा ही करते हैं किन्तु मन की आसक्ति जगत में ही रखते हैं अतएव मन की आसक्ति के अनुसार जगत की ही प्राप्ति होती है। यह अटल सिद्धान्त है कि मन की आसक्ति जहाँ होगी, बस उसी तत्त्व की प्राप्ति होगी। यदि हम शारीरिक कर्म अन्य करें एवं मानसिक आसक्ति अन्यत्र हो तो बस मन की आसक्ति का ही फल मिलेगा। अर्थात् यदि शरीरेन्द्रियों से हम शुभ या अशुभ कर्म करें एवं मन से कुछ न करें, केवल ईश्वर–शरणागत ही रहें तो कर्म का फल न मिलेगा, केवल ईश्वरीय लाभ ही मिलेगा। अतएव मन की शरणागति ही वास्तविक शरणागति है। जैसे पैरों को बाँध कर मार्चिंग नहीं हो सकती, मुख बंद करके स्पीच नही हो सकती, वैसे ही मन को अन्यत्र आसक्त करके ईश्वरोपासना भी नहीं हो सकती। वस्तुतस्तु मन की आसक्तिही ईश्वरीय क्षेत्र में उपासना कहलाती है एवं जगत क्षेत्र में आसक्ति कहलाती है।

दुइ कि होहिं इक संग भुआलू, हँसब ठठाइ फुलाउब गालू।

के अनुसार मन संसार में भी आसक्त हो एवं ईश्वरोपासना भी होती रहे यह सर्वथा असम्भव है क्योंकि एक मन एक काल में एक ही क्षेत्र में आसक्त

हो सकता है। फिर मायिक एवं ईश्वरीय क्षेत्र परस्पर विरोधी क्षेत्र भी हैं। एक कथानक आप लोगों ने सुना होगा, मथुरा के चौबों का। बस, उसी प्रकार जैसे चौबे भाँग के नशे में लौह शृंखला में नाव को बाँध कर सारी रात उसे खेते रहे, अन्ततोगत्वा प्रातःकाल अपने आपको उसी स्थान पर पाया, उसी प्रकार मन को धन, पुत्र, स्त्री, पति आदि में आसक्त करके ईश्वरोपासना अनन्तकाल तक करने पर भी अपने आपको मायिक जगत में ही पावेंगे। ईश्वरोपासना तो की ही नहीं, केवल शारीरिक रूप से ही पूजापाठ आदि किया, अतएव मन की आसक्ति का ही परिणाम प्राप्त होगा। गोपियों ने उद्धव से बड़ा ही सुन्दर कहा था, सूर के शब्दों में—

ऊधो! मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो श्याम संग को अवराधे ईस॥

अर्थात् एक ही तो मन है, अगर अनेक मन होते तो एक मन को अन्यत्र एवं दूसरे को अन्यत्र एवं तीसरे को अन्यत्र लगा देते। इस प्रकार जगदुपासना एवं ईश्वरोपासना दोनों ही चलती रहतीं, किन्तु ईश्वर पहिले ही जानता था कि अगर दो मन भी दे दिये तो जीव '**मामेकं शरणं व्रज**' अर्थात् केवल मेरी ही उपासना न कर सकेंगे। अतएव मन की शरणागति ही ईश्वर-शरणागति है, कर्म चाहे जो हों, उनसे कोई अभिप्राय नहीं।

अब यह विचार करना है कि मन की शरणागति में कठिनाई क्या है? कठिनाई यह है कि चूँकि हमारा मन अनादिकाल से सांसारिक विषयों में ही आसक्तरहा है अतएव दृढ़मूल आसक्ति हो चुकी है। यदि हमारा मन, न संसार में आसक्त होता न भगवान् में आसक्त होता तब तो सुगमता होती। अतएव सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम संसार का वास्तविक स्वरूप समझें एवं वहाँ से मन को उदासीन करें, तभी ईश्वर-शरणागति सम्भव है।

आत्म-स्वरूप, संसार का स्वरूप तथा वैराग्य का स्वरूप

आत्म-स्वरूप

अब आप यह विचार करें कि आप कौन हैं एवं आप अपना आनन्द चाहते हैं या किसी और का चाहते हैं। आप कहेंगे कि मैं कौन हूँ यह तो नहीं जानता किन्तु इतना जानता हूँ कि मैं केवल अपना ही आनन्द चाहता हूँ। यदि आप मायिक तत्त्व होते तो मायिक पदार्थों से आपको आनन्द-प्राप्ति हो जाती, किन्तु आप ईश्वर के अंश है अतएव ईश्वरीय दिव्यानन्द से ही आप आनन्दमय हो सकते हैं। तर्कसम्मत सिद्धान्त भी है, साथ ही अनादिकाल के अनुभव से भी सिद्ध है कि यदि मायिक आनन्द से दिव्य जीव को दिव्य आनन्द मिलना होता तो अनन्तानन्त युगों से अब तक मायिक सुख मिलते हुए हम इस प्रकार दुःखी, अशान्त, अतृप्त, अपूर्ण न रहते। यह अनुभव-प्रमाण ही यह बोध कराने में समर्थ है कि हम मायिक नहीं हैं। फिर भी हमें इस तत्त्व पर गम्भीर विचार करना है।

कुछ भोले प्रत्यक्षवादी कहते हैं कि इन्द्रियादि की भाँति आत्मा भी देह का परिणाम है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु बस इन्हीं 4 तत्वों से देह एवं 'मैं' बना है। अर्थ एवं काम दो पुरुषार्थ हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमाण है। इन प्रत्यक्षवादियों में भी कोई देह को, कोई चक्षुरादि को, कोई प्राण को आत्मा मानते हैं, सांसारिक विषय-सुख को ही स्वर्ग एवं वियोगादि दुःख को ही नरकादि मानते हैं। उनका कहना है कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

अर्थात् जब तक जिये, सुख से जिये, कर्जा करके घी पिये।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

(चार्वाक्)

मरने के बाद शरीर के साथ 'मैं' समाप्त हो जायगा।

मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ आदि व्यवहार ज्ञान से देख कर यह कहना कि मैं देह हूँ, भोलापन है क्योंकि बाल्यादि अवस्था के परिवर्तन होने पर भी मैं वही हूँ यह ज्ञान सदा रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। यदि मैं बालक हूँ, तो युवावस्था में यह ज्ञान न रहना चाहिये कि जो मैं बालक था, वही मैं युवा हूँ, इत्यादि।

बाह्य पृथ्वी, आदि महाभूतों में चैतन्य न दीखने से चैतन्य को भूतों का धर्म नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि देहाकार में परिणत भूतों का ही धर्म चैतन्य है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि मृतावस्था में देह के रहते चैतन्य नहीं रहता।

यदि समुदायभूत अवयवी को चैतन्य कहा जाय तो एक अवयव के नष्ट होने पर सब अवयव नष्ट हो जाने चाहिए।

यदि एक-एक अवयव को चैतन्य कहा जाय तो परस्पर सदा विरोध रहेगा एवं ऐसा किसी के अनुभव में नहीं आता। देह के रहने पर ही ज्ञानेच्छादि का प्राकट्य देख कर देह में आत्मभाव मान लेना भोलापन है, क्योंकि काष्ठादि के न होने पर यदि अग्नि प्रकट नहीं दीखता तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि अग्नि तत्त्व ही नहीं है।

यदि भौतिक पदार्थों के अनुभव को चैतन्य कहा जाय तो फिर यह आपत्ति आयेगी कि वे तो विषय हैं। जैसे अग्नि सर्वदहनसमर्थ है पर स्वयं को नहीं

जला सकती, नट अपने कंधे पर नहीं बैठ सकता, वैसे ही यदि चैतन्य भौतिक धर्म हो तो भौतिक पदार्थ को विषय नहीं बना सकता। जैसे प्रकाश के अभाव में दीपक की उपलब्धि नहीं होती क्योंकि उपलब्धि दीपक का धर्म नहीं है, वैसे ही आत्मा देह धर्म नहीं है।

इसके अतिरिक्त अनुभव द्वारा भी विचार कीजिये। जब आप जाग्रत में रहते हैं तब ऐसा बोलते हैं कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सूँघता हूँ, आदि। अर्थात् आप मानो इन्द्रियाँ ही हैं। किन्तु जब आप स्वप्नावस्था में स्वप्न बनाने लगते हैं तब, यद्यपि शरीरेन्द्रियाँ आपकी खाट पर पड़ी रहती हैं फिर भी आप स्वप्न में न जाने किस आँख से देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, इत्यादि। इससे सिद्ध होता है कि आप इन्द्रियाँ नहीं हैं, भले ही मन हों, किन्तु जब आप गहरी नींद, सुषुप्ति अवस्था में सो जाते हैं तो कुछ भी अनुभव नहीं करते - '**न किंचिदहमवेदिषम्**' अर्थात् हमने कुछ नहीं जाना। ऐसा अनुभव सिद्ध करता है कि दु:खाभाव-स्वरूप सुख ही की उस अवस्था में अनुभूति होती है जिससे वह कहता है - '**सुखमहमस्वाप्सम्**' अर्थात् मैं सुख से सोया। भावार्थ यह कि उस अवस्था में अहमर्थ का अनुभव नहीं होता। क्योंकि अहमर्थ सदा इच्छायुक्त होता है और सुषुप्ति में इच्छा का अभाव अनुभव में होता है।

सुषुप्ति में अविद्या-युक्त चैतन्य अज्ञान का अनुभवकर्ता होता है एवं अन्त:करण-युक्त-चैतन्य 'स्मर्ता' जाग्रत में होता है।

भावार्थ यह कि गहरी नींद में मन का भी अभाव रहता है अतएव आप मन आदि भी नहीं हैं। साथ ही यह व्यवहार में भी बोलते हैं एवं अनुभव करते हैं कि हमारा मन है, हमारी आँख हैं, हमारे कान हैं, हमारा शरीर है। तब फिर जो हमारा है, वह 'मैं' नहीं हो सकता। 'मैं' तो सदा 'मेरे' से पृथक् ही होगा। यदि तर्कयुक्त 'मैं' को पूछा जाय तो इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि जो मेरा न हो, वही 'मैं' है।

तात्पर्य यह कि 'मैं' प्राकृत पदार्थ नहीं। शेष, अन्तःकरण एवं इन्द्रियादि, सब प्राकृत हैं। 'मैं' आप्त वाक्यों के अनुसार—

चिन्मात्रं श्री हरेरंशं सूक्ष्ममक्षरमव्ययम्।
कृष्णाधीनमिति प्राहुर्जीवं ज्ञानगुणाश्रयम्॥

(वेद)

अर्थात् मैं ईश्वर का अंश हूँ, जिसे गीता में भी कहा है —

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता 15-7)

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।

(रामायण)

अब यह सिद्ध हो गया कि 'मैं' इन्द्रिय, मन आदि नहीं अपितु ईश्वरीय अनादिकालीन नित्य अंश हूँ। अतएव हमारा सुख ईश्वरीय होगा। संसार में हमारा सुख तर्क एवं अनुभव दोनों के विरुद्ध है। यही कारण है कि यद्यपि मन आदि अनन्त युगों से प्रतिक्षण मुझे यह धोखा देना चाहते हैं कि अब की बार मुझे अमुक वस्तु से सुख मिल जायगा, वह वस्तु मिलती भी है, परन्तु सुख नहीं मिलता। यदि हम मन बुद्धि के सजातीय होते तो उसके बहकाने में आ जाते किन्तु मै दिव्य तत्त्व हूँ अतएव जब तक नित्यानन्द न प्राप्त हो जायगा तब तक महत्तम मायिक पदार्थों के पाने पर भी 'मैं' आनन्दमय नहीं हो सकता।

अब आप संसार के सूक्ष्म एवं स्थूल रूप पर विस्तृत मीमांसा करें, क्योंकि यहाँ पर ही मन अटका हुआ है एवं बुद्धि का भी यह निश्चय सा बना हुआ है कि ससांर में सुख अवश्य है एवं अवश्य मिलेगा तभी तो हम तदर्थ प्रतिक्षण प्रयत्नशील हैं।

संसार का स्वरूप

'संसरतीति संसारः', 'गच्छतीति जगत्', के अनुसार नित्य गतिशील का नाम ही संसार है। संसार माया से बना है। माया एक ईश्वरीय अनादि शक्ति है। वेद कहता है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

(श्वेता. 4-10)

अर्थात् माया खिलवाड़ या वहम नहीं है, अपितु एक शक्ति है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वेता. 4-5)

इस वेदमंत्र के अनुसार एवं **'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया',** इस गीतोक्ति के अनुसार **'सो दासी रघुवीर की समुझे मिथ्या सोपि'**, इत्यादि रामायण के अनुसार , माया ईश्वरीय शक्ति है। इसी से यह संसार बना है। अतएव मन एवं सांसारिक पदार्थ सजातीय होने के कारण एक दूसरे के सहयोगी हैं। ईश्वर दिव्य है, अतएव मन का आकर्षण स्वभावतः ईश्वर की ओर नहीं होता।

संसार दो प्रकार का होता है, एक वासनात्मक संसार, दूसरा स्थूल संसार। वासनात्मक संसार उसे कहते हैं जो प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में, अनादिकालीन संस्कारों के द्वारा, स्थूल संसार के पदार्थों की वासना के रूप में रहता है। स्थूल संसार उसे कहते हैं जो उस वासनात्मक जगत् का विषय स्वरूप है। इन दोनों में सूक्ष्म वासनात्मक जगत् बलवान् है, क्योंकि यदि स्थूल संसार के पदार्थ नहीं भी होते तो भी यह वासनावाला जगत् चिन्तन द्वारा

अपना कार्य करता है। मान लीजिये, एक पति–परायणा स्त्री का पति इंग्लैण्ड में है, फिर भी वह दिन–रात उसके वियोग की ज्वाला में जलती रहती है। किन्तु यदि स्थूल जगत् भी होता है तब तो सूक्ष्म वासना–जगत् और भी बलवान् हो जाता है। ऐसा भी होता है कि स्थूल पदार्थ का साक्षात्कार होते ही सूक्ष्म संसार वासना–रूप में स्वयं प्रकट हो जाता है। इसका प्रमुख विज्ञान यह है कि अन्तरंग वासना नित्य अन्तःकरण में रहती है। कभी–कभी तो वासना बिना स्थूल पदार्थ के ही बलवान् होकर अशान्त कर देती है एवं कभी–कभी अन्तरंग वासना का भान न होते हुए भी स्थूल पदार्थ के दर्शनादि से वासना प्रकट हो जाती है। फिर भी यह तो अनुभवसिद्ध बात है कि अन्तरंग वासना बाह्य स्थूल पदार्थ के अभाव में भी बलवान् होकर दुःखी किया करती है। किन्तु यदि अन्तरंग वासना किसी प्रकार समाप्त कर दी जाय तो बाह्य स्थूल पदार्थ किंचित् भी अशान्त नहीं कर सकते। अशान्ति पदार्थों से तभी तक होती है जब तक उन–उन पदार्थों की वासना अन्तःकरण में विद्यमान रहती है। अतएव प्रमुख स्थान वासना को ही दिया है। यदि वासना का अत्यन्ताभाव हो जाय तो बाह्य जगत् के पदार्थ होते हुए भी न होने के बराबर रहेंगे।

इतना अवश्य है कि यदि बुद्धि में यह निश्चय हो जाय कि बाह्य जगत् के पदार्थों से अपना परमानन्द प्राप्ति का प्रयोजन हल न होगा तो अन्तरंग वासना स्वयमेव समाप्त हो जायगी। अतएव सर्वप्रथम बुद्धि के द्वारा यह विचार एवं निश्चय जमाना है कि संसार में कुत्रापि आनन्द नहीं है।

सर्वप्रथम यह विचार कीजिये कि संसार के किसी भी पदार्थ में आनन्द नहीं है। आप कहेंगे कि हम लोगों को जब धन, पुत्र, स्त्री, पति आदि में आनन्द मिलता है तब हमारी बुद्धि यह कैसे मान ले कि संसार में आनन्द नहीं है ? किन्तु गम्भीरता–पूर्वक विचार करने पर बुद्धि अपना निश्चय बदल देगी। अच्छा यह बताइये कि वह कौन सी वस्तु है जिसमें आनन्द है ? यदि किसी

एक वस्तु में आनन्द होता तो एक तो वह आनन्द सबको मिलता, दूसरे उस आनन्द का वियोग न होता अर्थात् उस पर दुःख का अधिकार न हो पाता। किन्तु ये दोनों ही बातें किसी पदार्थ से सिद्ध नहीं होतीं। यथा, मदिरा को ही ले लीजिये। मदिरा के नाम से एक घोर पियक्कड़ शराबी को आनन्द मिलता है, पुनः पीने से तो मिलता ही होगा किन्तु उसी मदिरा से एक धर्मात्मा पंडित को महान अशान्ति होती है। यदि खाने के साथ शराबी के आगे शराब रख दी जाय तो वह बहुत खुश होगा जबकि वह कर्मकांडी पंडित बहुत दुःखी होगा। तो शराब में शराबी के अनुभव में आने वाला सुख है या पंडित जी के अनुभव में आने वाला दुःख है ? यदि आप कहें कि पण्डित जी ने शराब को पिया नहीं, देखकर ही अशान्त हो रहे हैं, यदि पीते तो उन्हें भी शराबी की भाँति आनन्द ही मिलता, तो यह कहना भ्रान्तिजनक है, क्योंकि यदि पंडित जी को शराब पिला दी जाय तो उल्टी हो जायगी और शायद धर्म के नाते जीवन भर दुःखी रहेंगे।

कल्पना कीजिये कि उमेश नामक व्यक्ति है, उसके स्त्री है, एक बच्चा भी है, एक मित्र है, एक नौकर है, एक पड़ोसी है एवं एक कर्जदार पड़ोसी भी है। उस उमेश की अचानक मृत्यु हो गयी। उसकी स्त्री ने सुना और सुनते ही दुःख में मूर्छित होकर गिर पड़ी, पुत्र ने सुना, वह मूर्छित तो नहीं हुआ किन्तु अत्यन्त अधीर होकर रोने लगा, मित्र ने सुना, वह अधीर होकर नहीं रोया किन्तु दो चार आँसू निकल ही आये, नौकर ने सुना, उसे आँसू तो नहीं आये किन्तु हल्की सी वेदना अवश्य हुई। अब पड़ोसी ने भी सुना कि उमेश संसार से चल बसे, उन्हें न दुःख हुआ न सुख। उन्होंने अपनी झाड़ू लगाती हुई पत्नी से कहा 'अरी सुनती हो, वह पड़ोसी उमेश थे न, उनकी अभी मृत्यु हो गयी'। स्त्री को न दुःख हुआ न सुख हुआ, किन्तु सभ्यता के नाते उसने यह अवश्य कहा कि 'राम राम, बड़ा बुरा हुआ, उसका बच्चा अभी छोटा ही है,

स्त्री युवती है। भगवान् की जैसी इच्छा।' ऐसा कहती हुई झाड़ू लगाती रही। झाड़ू लगाना उसने बन्द नहीं किया। अब दूसरे पड़ोसी को देखिये, उसने सुना कि उमेश मर गया तो उसे बड़ा सुख मिला, क्योंकि वह उसका कर्ज़दार था, सोचा, चलो कर्ज़े से छुट्टी मिली।

थोड़ी देर बाद ही उमेश जीवित हो गया। वास्तव में वह मरा नहीं था, अभिनय कर रहा था। उसको जीवित सुनकर उसकी स्त्री पुनः खुशी से बेहोश हो गयी, पुत्र ने सुना वह खुशी के आँसू बहाने लगा। दोस्त ने सुना, वह विशेष खुश हुआ, किन्तु पुत्र से कम। नौकर ने सुना, उसे भी हल्की खुशी हुई। पड़ोसी ने सुना तो उसने फिर अपनी झाड़ू लगाती हुई पत्नी से कहा 'अरी सुनो तो, वह पड़ोसी जो मर गया था पुनः जीवित हो गया।' झाड़ू लगाते-लगाते ही स्त्री ने कहा, 'चलो अच्छा हुआ बिचारे की गृहस्थी को कौन सम्हालता।' कर्ज़दार पड़ोसी ने सुना उसे महान कष्ट हुआ क्योंकि उसे कर्ज़ का रुपया देना पड़ेगा।

अब आप यह बताइये कि उमेश में सुख है या दुःख है ? या दोनों नहीं हैं ? यदि सुख है तो जितना स्त्री को मिला है उतना सुख है या उससे कम जो पुत्र को मिला है उतना सुख है या उससे कम जो मित्र को मिला है उतना सुख है ? अथवा यह बताइये कि जो कर्ज़दार पड़ोसी को दुःख मिला है, वह दुःख है ? अथवा यह बताइये कि जो पड़ोसी को न सुख मिला न दुःख वह है ? कौन स्थिति उमेश में है ? सबका अनुभव भिन्न है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि उमेश में न सुख है न दुःख है। जिसने जितना सुख, स्वार्थपूर्ति की दृष्टि से, उमेश में मान लिया था बस, उसे वही अपना माना हुआ, उतनी ही मात्रा का सुख मिल रहा है और वह भोलेपन में यह समझ रहा है कि उमेश से सुख मिल रहा है। भावार्थ यह कि जिस वस्तु में जितनी मात्रा का सुख जो व्यक्ति मान लेता है, उस वस्तु से उतनी मात्रा का सुख उस व्यक्ति को मिलने लगता

है और वह भ्रान्तिवश यह समझ बैठता है कि अमुक वस्तु से अमुक मात्रा का सुख मिल रहा है।

एक नियम यह भी समझ लेना चाहिये कि जब किसी वस्तु में सुख नहीं है तो किसी वस्तु से दुःख भी नहीं मिल सकता। दुःख मिलना केवल सुख मिलने पर निर्भर है। देखिये, उमेश के मरने पर सर्वाधिक दुःख स्त्री को, उससे कम पुत्र को, उससे कम मित्र को, उससे कम नौकर को, न सुख न दुःख पड़ोसी को एवं सुख कर्ज़दार पड़ोसी को मिला। इसका भावार्थ यह है कि जिस व्यक्ति को जिस वस्तु के मिलने से जितना आनन्द मिलता है उस व्यक्ति को उस वस्तु के वियोग में उतना ही दुःख भी मिलता है। वस्तुतः उस वस्तु में दुःख नहीं होता, वह हमारी ही काल्पनिक मान्यता का परिणाम मात्र है।

दूसरी बात यह भी है कि जिस वस्तु से जिसे जो सुख मिलता है वह भी प्रतिक्षण घटता हुआ होता है। जैसे, एक माँ अपने खोये हुए पुत्र के लिये दो दिन से रो रही है। उसकी अभिलाषा है कि एक बार पुत्र मिल जाता तो उसको दौड़ कर चिपटा कर प्यार कर लेती। मान लीजिये वह मिल गया। अब उसने दौड़ कर 'बेटा! बेटा!' कह कर बेटे को चिपटाया, बड़ा आनन्द मिला। दूसरी बार चिपटाया, आनन्द कम मिला, तीसरी बार और कम, दसवीं बार न आनन्द न दुःख, ग्यारहवीं बार माँ यह कहने लगी कि 'बेटा जाओ, खेल आओ।' मगर बेटा अब भी गोद में चिपटा रहना चाहे तो माँ को दुःख भी होने लगता है और वह झल्ला कर कहती है, 'क्या तुम एक अनोखे बेटे हो जो हमेशा तुम्हें छाती पर चढ़ाये रहें और भी तो काम करना है।'

आप लोग रसगुल्ला खाते होंगे। जब पहला रसगुल्ला खाते हैं तो बड़ा सुख, दूसरे में उससे कम सुख, तीसरे में और कम, दसवें में न सुख न दुःख। ग्यारहवें में दुःख एवं पन्द्रहवें में इतना दुःख मिलता है कि आप चिल्ला पड़ते

हैं कि 'अरे भाई मर जायेंगे, अब न खिलाओ, उल्टी होने वाली है।' यदि रसगुल्ले में सुख है तो यह कमीबेशी क्यों? एवं पुनः दुःख क्यों? यह सब धोखा है यह हमारी ही कल्पना का परिणाम है।

प्यास लगने पर पानी प्रिय लगता है, प्यास समाप्त होते ही पानी अप्रिय लगता है। कामयुक्त पुरुष को स्त्री अच्छी लगती है, काम-रहित होने पर वही स्त्री भार सी लगती है। यह सब का स्वयं का अनुभूत विषय है। अतएव यह भ्रान्ति समझ में आ जानी चाहिए कि संसार की किसी वस्तु में सुख नहीं है, यह तो हमारी स्वयं की ही कल्पना का दुष्परिणाम है। देखिये, आप लोग यह समझते हैं कि सुन्दरता में सुख है, किन्तु आपकी अनुभूति इसके विपरीत होती है। जैसे, एक माँ का कुरूप पुत्र मेले में खो गया है। वह कोतवाली में इकट्ठे अनेक बच्चे देखती है, किन्तु उसे सुख नहीं मिलता, उसे तो अपना काना कुरूप बच्चा ही सुखप्रद हो सकता है।

एक सुन्दर स्त्री को एक व्यक्ति रिवाल्वर से मारने जा रहा है एवं दूसरा व्यक्तिउस सुन्दरी को बचाने के लिये स्वयं सीना ताने खड़ा है। ऐसा क्यों? पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वह सुन्दरी रिवाल्वर मारने वाले की स्त्री है किन्तु सीना ताने हुए व्यक्ति से प्रेम करती है। अब सोचिये सुन्दरता में सुख होता तो दोनों को बराबर-बराबर मिलता।

शराब में बदबू आती है किन्तु शराबी को खुशबू आती है। प्याज लहसुन न खाने वाले को उसमें बदबू आती है किन्तु उसके प्रेमी को खुशबू आती है। हम कितना स्पष्ट कहें, गन्दगी के कीड़े को उसी में खुशबू आती है यदि उसे इत्र में छोड़ दिया जाय तो मर जायगा। अतएव सौंदर्य या सुगन्ध आदि में सुख नहीं है, जिस वस्तु में बार-बार सुख का चिन्तन किया जाता है उसी वस्तु में आसक्ति हो जाती है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

(गीता 2-62)

और उस वस्तु से सुख मिलने लगता है एवं उसके वियोग में दुःख।

संसार की किसी वस्तु को पाने के पूर्व एवं पाने पर तथा पाने के पश्चात् छिन जाने पर अर्थात् उस वस्तु के वियोग में दुःख ही दुःख मिलता है। फिर भी व्यक्ति आशा में प्रयत्नशील है। कल्पना कीजिये एक स्त्री को पुत्र चाहिये। उसे पुत्र की प्राप्ति के लिये विवाह करना पड़ता है, पति की आधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। किसी कारणवश यदि पुत्र फिर भी न हुआ तो औषधि आदि उपचार करने पड़ते हैं। खैर, कल्पना कीजिये गर्भाधान हो गया, अब तो सुख मिलना चाहिये। किन्तु एक क्षण को सुख मिलते ही यह दुःख सामने आया कि अब 9 मास तक कष्ट सहना है, जब पुत्र पैदा हो जायगा तब सुख मिलेगा। 9 मास तक कितना बड़ा तप एक माँ करती है, उसे वह माँ भी नहीं महसूस कर सकती क्योंकि उसे भविष्य में होने वाले पुत्र की आशा की खुशी है। खैर, मान लो पुत्र हुआ। अब एक क्षण को खुशी हुई पुनः उसके संरक्षण की चिन्ता प्रारम्भ हो गयी, एवं उसके नष्ट हो जाने के भय की चिन्ता प्रारम्भ हो गयी। इस चिन्ता में पूरे जीवन परेशान रही। यदि कुपूत निकला तो दुःख, और मर गया तो घोर दुःख। भावार्थ यह कि सांसारिक किसी वस्तु की प्राप्ति के पूर्व तन्निमित्त प्रयत्न में कष्ट, वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् उसकी रक्षा एवं उसके नष्ट होने के भय में कष्ट एवं नष्ट होने पर कष्ट ही कष्ट हैं।

एक बात यह भी ध्यान में लाने की है कि किसी भी इच्छा की पूर्ति होने पर क्षणभंगुर सुख तो मिलता है किन्तु तत्क्षण ही लोभ उत्पन्न हो जाता है, एक लाख तो मिल गया, अब दो लाख कैसे मिले ? बस प्लानिंग (Planning), प्रेक्टिस (practice) प्रारम्भ हो गई, फिर वही गोरखधंधा। और यदि इच्छा

की पूर्ति न हुई तो क्रोध उत्पन्न होता है। इच्छा की पूर्ति या अपूर्ति में से एक अवश्य होगा, अतएव दु:ख भी अवश्य ही होगा। यदि कहो कि इच्छा ही न की जाय तो यह असंभव है, क्योंकि जब तक वास्तविक परमानन्द न मिल जायगा तब तक कामनाओं का बनना स्वभावसिद्ध विषय है, उसे कोई भी व्यक्ति समाप्त नहीं कर सकता।

संसार–सम्बन्धी सुखों की एक बहुत बड़ी भ्रान्ति यह भी है कि प्रत्येक व्यक्तियह समझता है कि जितने पदार्थ हमारे पास हैं उतने से सुख नहीं मिल सकता है। जैसे, एक लखपति सोचता है कि यदि हम करोड़पति हो जायें तो बस, सब ठीक हो जायगा, इत्यादि, किन्तु यह भ्रममात्र है। कल्पना कीजिये कि प्रीमियर (Premier) कहीं जा रहा है। देहात के किसी स्थान पर उसकी मोटर खराब हो गई, वह दूसरी मोटर से चला गया। उस बिगड़ी हुई मोटर की बनावट, चमक एवं उसके अन्दर की सीट, रेडियो आदि देखकर एक घोर मूर्ख ग्रामीण यह सोचता है कि यदि कभी एक सेकेण्ड को भी इस मोटर पर बैठने को मिल जाय तो कितना सुख मिलेगा। अस्तु, कल्पना कीजिये वह ऋणी होने पर दिल्ली अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ चला गया। वह ड्राइवर था, उससे ड्राइविंग करना सीख लिया और संयोगवश उसी प्रीमियर (Premier) का वह ड्राइवर हुआ। अब देहात का मूर्ख एक देश के एक प्रीमियर (Premier) के बराबर सीट पर उसी मोटर पर बैठा है, जिस पर बैठने की एक सेकेण्ड के लिए ही उसकी कामना थी। यह ठीक है कि उसे बड़ा सुख मिला किन्तु थोड़े दिन बाद ही किसी दिन जब ड्यूटी अधिक देनी पड़ी तो अपनी स्त्री से कहता है कि भिक्षा माँग कर खाना अच्छा है किन्तु ड्रायवरी की नौकरी कुत्ते की नौकरी है। छ: घंटे की ड्यूटी है पर साहब 8 घंटे की ड्यूटी लेते हैं। अब इस मोटर को देखते ही ज्वर सा आता है। वह आनन्द कहाँ गया जिसकी उसने कल्पना की थी ? अर्थात् किसी वस्तु के पाने के पूर्व

इस भ्रांतिजन्य आशा में सुख मिलता है कि भविष्य में सुख मिल जायगा। किन्तु वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् सुख तो दूर रहा, दु:ख मिलने लगता है। अतएव यह भोलापन छोड़ देना चाहिए कि यदि अधिक अच्छे पदार्थ मिल जायें तो अच्छे दर्जे का सुख मिलेगा। एक भिखारिन को जितना सुख अपने काने कुरूप पुत्र के आलिंगन में मिलता है उतना ही सुख एक राजमाता को अपने सुन्दर सुकुमार के आलिंगन में मिलता है। आनन्द में कोई अन्तर नहीं है, देखने में महान अन्तर प्रतीत होता है। एक गाय को हरी घास में जो आनन्द आता है, वही आनन्द एक सम्राट को 56 प्रकार के व्यंजन में मिलता है, यद्यपि देखने में महान अन्तर प्रतीत होता है।

जब बच्चे या बूढ़े किसी वस्तु को प्रदर्शनी आदि में प्रथम बार देखते हैं तो बड़ा आनन्द आता है। दूसरी बार वे प्रदर्शनी में ही नहीं जाते। कहते हैं, 'अरे भाई, हम देख चुके हैं, अब उसे बार बार देखने को क्या जायें', अर्थात् सुख समाप्त हो गया। जब दुल्हन प्रथम दिन ससुराल आती है तब बिना बुलाये दर्शकों की भीड़ लगी रहती है, किन्तु पश्चात् बुलाने पर भी कोई नहीं जाता। दोष सब निकालते हैं; यह लम्बी है, ठिगनी है, बहुत बोलती है या गूंगी है, ढीठ है या ऐंठू है, देहाती है या टिपटॉप (tiptop)है। भावार्थ यह कि दोनों पक्ष में उसकी बुराई ही बुराई होती है। अस्तु यह सिद्ध हुआ कि वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। एक हाईकोर्ट जज (Highcourt Judge) के चपरासी को यह समझाना कठिन है कि तुम्हें जो आनन्द साइकिल में मिलता है, वही आनन्द तुम्हारे साहब को मोटर में आता है, उससे थोड़ा भी अधिक नहीं है।

कल्पना कीजिये, आज एक चपरासी ने बड़ी मुश्किल से 5-5 रुपया जोड़कर साइकिल प्रथम बार खरीदी है। आज उसे बड़ी खुशी है। साइकिल लिये अनावश्यक दौरा कर रहा है। उधर साहब ने भी प्रतिमाह रुपये बचा कर

आज प्रथम बार मोटर खरीदी है। वह भी उतना ही खुश है एवं अनावश्यक रूप से ही मोटर लिये हार्न (horn) बजाता दोस्तों में घूम रहा है। किन्तु कुछ दिनों बाद साहब 6 घण्टे का दौरा करके घर आया तो थकान के मारे बड़बड़ाने लगा कि दौरा करना बड़ा कष्टप्रद है। उधर चपरासी भी 6 घण्टे साइकिल चला कर घर आया। वह भी अपनी स्त्री से ऐसा ही कहता है। किन्तु जब चपरासी को यह बताया गया कि तुम्हारा साहब भी ऐसे ही परेशान है तो उसने उसे 1/100 भी नहीं माना और हँसने लगा कि हाँ साहब, गरीबों की खिल्ली ऐसे ही उड़ाई जाती है। वह यदि यह समझ ले कि जिस क्लास (class) में व्यक्ति कुछ दिन रह लेता है, उसमें उसे सुख नहीं मिलता तो उस न्यून क्लास (class) वाले की दौड़धूप ही बन्द हो जाय और वह शान्त हो जाय क्योंकि कामना-समाप्ति ही दुःख-निवृत्ति है।

यदि हम आपको सुखों की मात्रा का नाटक स्पष्ट बतायें तो आपको आश्चर्य होगा। अच्छा सुनिये, वेद में लिखा है कि—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। *(तैत्तिरीयो. 2-8)*

अर्थात् यदि कोई व्यक्ति सम्पूर्ण पृथ्वी का एकमात्र शासक हो एवं युवा हो, स्वस्थ हो, बुद्धिमान हो, प्रजा अनुगत हो, सर्व सांसारिक सुख-सम्पन्न हो तो वह मानव-लोक का सबसे बड़ा सुख है। किन्तु वेद कहता है—

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः।

अर्थात् उपर्युक्त ऐसे सैकड़ों राजाओं का सुख एक मानव-गन्धर्व के सुख के बराबर होता है। पुनः वेद कहता है—

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः।

अर्थात् उपर्युक्त ऐसे सैकड़ों मानव–गंधर्व का सुख मिल कर एक देवगन्धर्व के सुख के बराबर होता है पुनः—

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः।

अर्थात् उपर्युक्त ऐसे सैकड़ों देवगंधर्वों का सुख मिलकर एक पितृलोक के सुख के बराबर होता है। पुनः वेद कहता है —

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः।

अर्थात् उपर्युक्त ऐसे सैकड़ों पितृलोकों का सुख मिलकर एक आजानज देव के सुख के बराबर होता है। पुनः वेद कहता है —

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः।

अर्थात् उपर्युक्त ऐसे सैकड़ों आजानज देवों का सुख मिलकर एक कर्मदेव के सुख के बराबर होता है। पुनः वेद कहता है—

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः।

अर्थात् ऐसे सैकड़ों कर्मदेवों के आनन्द मिलकर एक देव के आनन्द के तथा ऐसे सैकड़ों देवों के आनन्द मिलकर एक इन्द्र के आनन्द के बराबर होते हैं। ऐसे सैकड़ों इन्द्र के आनन्द मिल कर एक बृहस्पति के आनन्द के बराबर होते हैं।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः।

(तैत्तिरीयो. 2–8)

अर्थात् ऐसे सैकड़ों बृहस्पति के आनन्द मिल कर एक प्रजापति के आनन्द के बराबर होते हैं तथा ऐसे सैकड़ों प्रजापति के आनन्द मिलकर एक ब्रह्मा के आनन्द के बराबर होते हैं।

किन्तु, उपर्युक्त समस्त ब्रह्मलोक पर्यन्त के आनन्द में सर्वत्र एक सी ही अशान्ति, अतृप्ति एवं अपूर्णता रहती है। वास्तविक आनन्द इन सबसे करोड़ों कोस दूर है, जिसे पाने के पश्चात् व्यक्ति पूर्णकाम हो जाता है, सदा के लिये आनन्दमय हो जाता है, तृप्त हो जाता है, अमृत हो जाता है। गीता कहती है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

(गीता 8-16)

अर्थात् हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक वास्तविक सुख नहीं है। वहाँ भी जाकर पुनः भवाटवी का चक्कर लगाना पड़ेगा। पुनः -

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।

(गीता 8-16)

केवल मुझको एवं मेरे लोक को प्राप्त करके ही जीव मुक्त हो सकता है, परमानन्द प्राप्त कर सकता है। अब सोचिये, जब ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य में भी आनन्द नहीं तो करोड़पति बन कर आनन्द चाहते हैं, कितना बड़ा आश्चर्य है! कैसा भोलापन है। वेदव्यास जी कहते हैं—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(भाग. 9-19-13)

अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ स्त्री आदि, यदि एक व्यक्ति को दे दिये जायें तो भी उसकी कामना उसी प्रकार बनी रहेगी, जैसे प्रारम्भ में थी। वेदव्यास जी पुनः कहते हैं—

गिरिर्महान् गिरेरब्धिर्महानब्धेर्नभो महत्।
नभसोऽपि परं ब्रह्म ततोऽप्याशा दुरत्यया॥

अर्थात् पहाड़ बड़ा होता है। उससे बड़ा समुद्र होता है। उससे बड़ा आकाश होता है। उससे बड़ा भगवान् होता है, जिसे अनन्त कहा जाता है किन्तु, उससे भी बड़ी एक वस्तु है, उसका नाम है वासना। भावार्थ यह कि अज्ञेय भगवान् को जाना जा सकता है, अचिंत्य भगवान् का चिन्तन किया जा सकता है, अदृष्ट भगवान् को देखा जा सकता है, अव्यवहार्य भगवान् को व्यवहार में लाया जा सकता है किन्तु अनादि काल से अब तक के इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं हुआ, न आगे होगा, जो इन्द्रियों के विषयों के सामान को पाकर पूर्णकाम हो जाय, वे सामान भले ही ब्रह्मलोक की कक्षा के हों। आप लोग सुनते होंगे, शास्त्रों में लिखा है कि कहीं स्वर्ग है, वहाँ बड़ा सुख है। कुछ लोग तदर्थ प्रयत्न करते हैं। किन्तु, वेद कहता है—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥

(मुण्डको. 1-2-9)

अर्थात् घोर मूर्ख लोग स्वर्ग लोक के हेतु प्रयत्न करते हैं, क्योंकि वहाँ भी अज्ञान है, अशान्ति है, अतृप्ति है। वे स्वर्गादिक लोक शोक से परिपूर्ण हैं, सीमित हैं। कुछ दिन के पश्चात् स्वर्गलोक से नीचे गिरा दिया जायगा और मानवदेह भी छिन सकती है। परिणामस्वरूप कूकर, शूकर, कीट, पतंग आदि योनियों में दु:ख भोगना पड़ेगा। इसी आशय से वेदव्यासजी ने कहा कि

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥

(भाग. 11-14-11)

गीता में बताया कि—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालंक्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

(गीता 9-21)

रामायण ने बताया कि

स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदायी।

भावार्थ यह कि स्वर्गादिक लोक भी हमारे लोक की भाँति प्राकृत हैं। वहाँ भी माया का आधिपत्य है। अतएव हमारा आध्यात्मिक सुख वहाँ भी सर्वथा अप्राप्य है।

आश्चर्य यह है कि शास्त्र-वेद के माननेवाले भी इस उपर्युक्त बात पर विश्वास नहीं करते। तभी तो जगत् के पदार्थों द्वारा आनन्द की आशा में प्रयत्नशील हैं। यह मानव देह देव-दुर्लभ बतायी गयी है। वेदव्यासोक्ति के अनुसार—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

(भाग. 11-20-17)

रामायण कहती है '**सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थनि गावा।**' अस्तु जब देवता लोग मानवदेह चाहते हैं, तब मानव यदि स्वर्ग की जनता बनना चाहे तो कितना भोलापन होगा। आप कहेंगे, बात तो ठीक है, किन्तु आश्चर्य होता है कि स्वर्ग के लोग मानवदेह क्यों चाहते हैं? वहाँ उच्चकोटि के सुख प्राप्त हैं। मानव के मृत्युलोक के सुख तो उनके समक्ष नगण्य हैं। किन्तु, यदि आप यह रहस्य समझ लें तो आश्चर्य न होगा। स्वर्ग केवल भोग-योनि ही है। वहाँ केवल कर्म को भोगवाया जाता है, आप आगे कुछ नहीं कर सकते। किन्तु मानवदेह में भोग भोगने के साथ-साथ उन्नति करके अपने कर्मबन्धनों से

छुटकारा पाने का भी सौभाग्य प्राप्त है। मानव साधना द्वारा सदा के लिये माया से उत्तीर्ण होकर आनन्दमय बन सकता है किन्तु स्वर्ग कर्मयोनि न होने के कारण इससे वंचित है। अतएव स्वर्ग-सम्बन्धी कामना की भावना से प्रयत्न करना घोर नासमझी है। आप लोग अपने पिता आदि पूज्यों के मरने पर कहा करते हैं कि हमारे पूज्य का स्वर्गवास हो गया किन्तु यह रहस्य समझ लेने पर आप ऐसा न कहेंगे, क्योंकि वेदानुसार स्वर्ग जानेवाला जब घोर मूर्ख है तो आप अपने पूज्य को घोर मूर्ख क्यों बनायेंगे।

भावार्थ यह कि स्वर्ग या ब्रह्मलोक में आनन्द नहीं है। फिर हम मृत्युलोक के आंशिक ऐश्वर्य से आनन्द प्राप्ति की कामना करें, यह महान पागलपन है। हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिये कि ईश्वर को छोड़कर जीव का वास्तविक आनन्द अन्यत्र कुत्रापि नहीं हो सकता क्योंकि शेष सब प्रकृति के आधीन हैं एवं प्रकृति के राज्य में आत्मा का सुख सर्वथा असम्भव है।

अब संसार का एक विलक्षण परिवर्तनशील स्वरूप समझिये। विश्व के प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में सत्त्व, रज, तम - तीनों गुण नित्य विद्यमान रहते हैं एवं तीनों गुण परिवर्तनशील रहते हैं अर्थात् किसी क्षण सात्त्विक, किसी क्षण राजस एवं किसी क्षण तामस गुणों के आधीन अन्तःकरण हुआ करता है। जब जो गुण अन्तःकरण पर बलवान् बनकर अधिकार किये रहता है, तब उसी गुण के विचार स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं। भावार्थ यह कि इन तीनों गुणों के आधीन होने के कारण व्यक्ति दिन में कई बार सात्त्विक, कई बार राजस एवं कई बार तामस चित्तवृत्ति वाला बना करता है।

एक बात यह भी विचारणीय है कि इन तीनों गुणों में कौन गुण कब बलवान् हो जायगा, इसका कुछ निश्चय नहीं रहता। प्रायः ऐसा होता है कि जिस गुण का वातावरण बाह्य जगत में अधिक मिलता है, वही गुण बलवान् हो जाता है, शेष दो दब जाते हैं।

एक बात और विचारणीय है कि सात्त्विक गुणों के विचारों की कमी के कारण सात्त्विक वातावरण अधिक मिलने पर ही कभी–कभी मनुष्य सात्त्विक प्रवृत्ति वाला होता है। किन्तु, राजस विचाराभ्यास के बाहुल्य के कारण राजस वातावरण थोड़ा भी मिलने से रजोगुण बलवान् हो जाता है। उसी प्रकार तामस तो सबसे बलवान् है ही। जैसे, कल्पना कीजिए कि आप देवोपासना कर रहे हैं, सात्त्विक जगत में हैं, इतने में आपकी स्त्री अथवा पुत्र प्यार के शब्द एवं प्यार का व्यवहार करते हुए आये। आपने उनका दर्शन तथा स्पर्श प्राप्त किया बस, आप तत्क्षण राजस बन गये। इतने में ही आपका पड़ोसी आया और उसने आते ही कहा, 'क्यों बे तू नंबरी बदमाश है', बस इतना सुनते ही राजस गुण का परित्याग करके क्रोधयुक्त तामस प्रवृत्ति वाले बन गये एवं मारपीट की नौबत आ गयी। यह परिवर्तनशील गुणों का प्रतिक्षण का नाटक है।

अब यह सोचिये कि ये तीनों गुण प्रत्येक जीव में अनिश्चित काल से परिवर्तित हो रहे हैं तो फिर ईश्वर या महापुरुष के प्रति हमारे विचार एक रूप के कैसे रह सकते हैं? कभी हम भगवान् को दयालु मान लेते हैं, कभी न्यायी मान लेते हैं और कभी क्रूर। कभी कहते हैं दयालु नहीं है, हमारे कर्म का फलमात्र देता है और कभी उसे कोसने लगते हैं। कहते हैं, 'देखो, ईश्वर के घर में अंधेर है पड़ोसी के 12 बच्चे थे, वह परेशान था, अब तेरहवाँ हो गया और मेरे एक ही बच्चा था, वह भी आज मर गया', इत्यादि। भावार्थ यह कि यद्यपि भगवान् एवं महापुरुष इन तीन परिवर्तनशील गुणों से अतीत हैं, फिर भी हमारी परिवर्तनशील त्रिगुण की वृत्ति के अनुसार वे तीन प्रकार के दिखते हैं। आश्चर्य यह है कि देखनेवाला यह नहीं जान पाता कि हम ईश्वर को ऐसा देख रहे हैं या हमारे विचार ही ऐसे हो रहे हैं।

अब यह सोचिये कि जब दो व्यक्तियों में परस्पर यही रोग हो अर्थात् जब स्त्री–पति, पिता–पुत्रादि सब में उपर्युक्त तीनों परिवर्तनशील गुण चक्कर लगा रहे हों, तब उन दोनों की मैत्री कैसे संभव है ? हाँ, जब कभी संयोगवश दोनों सात्त्विक हो गये या दोनों राजस हो गये, तब शायद कुछ देर के लिये मैत्री संभव है।

एक बात और विचारणीय है, वह यह कि यदि दो व्यक्तियों के गुण एक भी हों एवं मात्रा का भेद हो तो भी मैत्री शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। जैसे, किसी पुरुष ने अपनी स्त्री से कहा, 'आज चलो पिक्चर देख आवें'। स्त्री भी रजोगुण से युक्त थी, उसने भी कह दिया, 'बड़ा अच्छा है, चलो।' बस दोनों चल दिये। किन्तु मार्ग में किसी महात्मा का प्रवचन हो रहा था अब उस प्रवचन के वातावरण ने दोनों पर हमला किया, किन्तु जिसका रजोगुण कम मात्रा का था, उस पर विजयी हुआ एवं जिसका अधिक बलवान रजोगुण था, उससे हार गया। भावार्थ यह कि मान लीजिये, स्त्री पर सत्त्वगुण विजयी हो गया। स्त्री ने अपने पति से कहा 'आज चलो लेक्चर सुन लें, पिक्चर कहाँ जाती है, कल देख लेंगे।' किन्तु पति का रजोगुण अधिक मात्रा का था, उसने कहा, 'तुम बड़ी भगतिन हो तो जाओ लेक्चर सुनो। हम तो पिक्चर देखने जायेंगे।' बस, फिर क्या था, पति पिक्चर गया एवं स्त्री लेक्चर में गई। तीन घंटे बाद दोनों अपने–अपने शौ से जब घर पहुँचे तो वहाँ खूब विरोधात्मक लेक्चर चला। एक अच्छी खासी पिक्चर तैयार हो गयी। यह गुणों की मात्रा के भेद का परिणाम है।

अब आप लोग सोचिये कि जब मात्रा का भेद हो जाने पर भी मैत्री तत्क्षण समाप्त हो जाती है तो भला यह सोचना कि मेरी स्त्री सदा मेरे अनुकूल रहे या पति अनुकूल रहे! कितना असम्भव है। फिर कमाल यह कि आप लोग सम्पूर्ण विश्व से यही आशा रखते हैं कि सब हमारे अनुकूल रहें। इतना ही

नहीं आप ऐसा समझते भी हैं कि हमारे अनुकूल बहुत से लोग हैं और यदि एक भी प्रतिकूल होता है तो आपको आश्चर्य एवं दुःख होता है। अगर आप इन परिवर्तनशील गुणों का नाटक समझते होते, तब तो यदि एक भी व्यक्ति एक दिन के लिये भी आपके अनुकूल होता तो आपको आश्चर्य होता, किन्तु यहाँ तो विपरीत ही ज्ञान है कि एक भी व्यक्ति जब प्रतिकूल होता है, तब आपको आश्चर्य होता है। संसार में कोई न तो किसी के प्रतिकूल है, न तो अनुकूल ही है। बस, इन्हीं तीनों गुणों की मैत्री से कुछ क्षण के लिये मैत्री हो जाती है, पुनः विरोध होने से विरोध हो जाता है। अतएव यदि यह सिद्धान्त समझ में आ जाय तो किसी के प्रतिकूल होने पर दुःख न हो एवं सब को अनुकूल करने का व्यापार भी बन्द हो जाय।

देखिये, यदि कोई पागल आपको गाली देता है और जवाब में आप भी उसे गाली देते हैं तो लोग कहते हैं कि यह भी पागल हो गया, क्योंकि पागल की बात पर विचार करके बुरा मानता है। यह तो बिचारा दुर्भाग्यवश पागल है ही, किन्तु यह तो आज तक समझदार था, आज यह कैसे पागल हो गया? ठीक इसी प्रकार, जब संसार का प्रत्येक व्यक्ति परिवर्तनशील तीनों गुणों के आधीन बरबस हो रहा है तो उसकी किसी बात पर दुःख क्यों माना जाय। वह तो त्रिगुण का पागल है। वह तो बेचारा दयनीय है। क्रोध करना या दुःखी होना अपना ही पागलपन है।

आपसे किसी ने कहा कि 'आप बुरे हैं' तो आप बुरा मानते हैं। बस, यह बुरा मानना ही सिद्ध करता है कि आप बुरे हैं। यदि आप अच्छे होते और वह बुरा कहता तो आपको सोचना चाहिये था कि वह गुणों का पागल है। यदि आप सचमुच ही बुरे हैं, तब भी बुरा मानने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि वह तो सच ही है। आप उन दोनों से नीचे चले गये जो एक वाक्य से अशान्त

हो गये, क्रोध के चंगुल में फँस गये एवं स्पर्धायुक्त होड़ द्वारा अन्यान्य गलत कदम उठाने लगे, इत्यादि।

देखिये कितनी आश्चर्यजनक बात है। आप किसी से कहिये कि आप जरा क्रोधी हैं, बस, यह सुनते ही वह क्रोध से भर जाता है और कहता है, 'जबान संभाल कर बोलो, मैंने कब क्रोध किया है?' अब जरा सोचिये कि वक्ता महोदय क्रोध में ही यह कह रहे हैं कि मैंने कब क्रोध किया है, फिर भी उत्तर की अपेक्षा में हैं। बस यही नाटक है कि जिसके ऊपर जो दोष अधिकार कर लेता है उसे यह नहीं प्रतीत होता कि मेरे ऊपर कोई दोष आया है। क्योंकि जाननेवाली मशीन पर ही तो गुणों का अधिकार होता है, फिर वह अपने प्रतिकूल निर्णय कैसे करे? अकबर से किसी शराबी ने नशे में कहा, 'क्यों बे! हाथी बेचेगा?'

जरा सोचिये तो, संसार में किसी हेड कान्स्टेबिल का कोई परिचय कराता है कि आप हेड कान्स्टेबिल हैं तो वह मूँछ पर हाथ फेरता हुआ खुश हो जाता है लेकिन गुस्सा नहीं होता कि हमें कम से कम एस०पी० तो कहा होता। एक अंधे को लोग सूरदास कहते हैं, वह बुरा नहीं मानता। फिर बात क्या है कि जब हम दिन में पचासों बार कामी, क्रोधी, लोभी आदि हुआ करते हैं तो हमें यदि कोई कामी, क्रोधी, लोभी आदि कह देता है तो अकारण ही बुरा मान कर अशान्त हो जाते हैं एवं उस ज्वाला में दिन-रात जलते रहते हैं? उसका चिन्तन, मनन, फिर लोगों से कीर्तन, फिर क्रिया, भावार्थ यह कि नवधा-भक्ति सरीखी करने लगते हैं। क्या बढ़िया नाटक है।

प्राय: संसार के सभी लोगों को एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है। वह यह कि लोग हमारे अनुकूल हैं, हमसे प्रेम करते हैं। मैं चैलेंज के साथ कह सकता हूँ कि विश्व में एक भी मायिक स्त्री अपने पति के सुख के लिये प्यार नहीं कर सकती। विश्व का कोई भी मायिक पति अपनी स्त्री के सुख के लिये प्यार

नहीं कर सकता। विश्व का एक भी मायिक पिता अपने पुत्र के सुख के लिये उसे प्रेम नहीं कर सकता। भावार्थ यह कि जब स्त्री, पति एवं पिता, पुत्र एक दूसरे के सुख के लिये प्यार नहीं कर सकते तो अन्य से आशा करना तो पागलखाने के पागल से भी बढ़कर पागलपन है, जो हम लोग दिन रात किया करते हैं।

आप कहेंगे, हमारी स्त्री अथवा हमारा पति तो हमारे सुख के लिये कार्य करता है, प्रेम करता है। बस, यही तो धोखा है। आप नहीं समझते कि वह अपने सुख की ओट में आपके सुख का वाक्य बोलकर आपको ठग रहा है और आप बुद्धिमान भी कहलाते हैं। जब तक जीव अपना वास्तविक आनन्द प्राप्त न कर लेगा, यह असंभव है कि किसी के सुख के लिये कोई कुछ करे और करता दिखाई पड़ता है तो उसके पीछे कोई महान् स्वार्थ छिपा हुआ है जो भविष्य में प्रकट हो जाता है। यदि कोई स्त्री यह दावा करती है कि मैं पति के सुख के लिये प्यार करती हूँ तो जरा सी परीक्षा ले लीजिये। एक पत्र किसी स्त्री के नाम लिख दीजिये, भले ही वह स्त्री 100 वर्ष पूर्व मर चुकी हो। उसमें दो चार वाक्य भयानक लिख दीजिये कि "मैं तुम्हीं से प्यार करता हूँ, अपनी स्त्री को तो बुद्धू बना रखा है, मैं इस प्रयत्न में हूँ कि इसको मार डालूँ और तुम्हारे ही साथ चैन की जिन्दगी बिताऊँ।" बस, यह पत्र जैसे ही स्त्री पढ़ेगी, प्रेम समाप्त हो जायगा, घर में बवाल मच जायगा। फिर आप लाख समझायें कि यह तो मज़ाक किया है, पर शायद ही कोई स्त्री पूर्वावस्था में आवे। किन्तु ऐसा कोई कर मत डालना।

अब सोचिये कि जब साधारण से नाटक से प्यार समाप्त हो गया तो यह क्या सिद्ध हुआ ? यही न कि सब अपने सुख के लिए नाटक था ? यदि पति का सुख चाहती तो पत्र पढ़कर धन्य हो जाती कि उन्हें जैसे सुख मिले, बस

हम उसी में खुश हैं। एक आई. ए. एस. सरीखा बुद्धिमान भी अगर इसी प्रकार स्त्री की लिखी हुई किसी पुरुष के नाम की चिट्ठी पढ़ लेता है तो बड़े दावे से कहता है – ''मैं बेवकूफ नहीं हूँ, आई. ए. एस. हूँ, सब समझता हूँ, मैं तुम्हें समझ गया।'' स्त्री लाख समझाये पर वह अपनी बुद्धि का दावा करते हुए कहता है – ''अरे मुझे तो पहले ही संदेह था, मैं समझता था पर तुमसे कहता नहीं था, आज स्पष्ट हो गया'', इत्यादि।

जरा सोचिये, बुद्धिमान कहलाने वाले चार वाक्य में मूर्ख बन जाते हैं, तब फिर साधारण बुद्धिमान की तो बात ही क्या ? भावार्थ यह कि अपने सुख के लिए ही दूसरे को प्यार करते हैं। वेद कहता है—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।

(बृहदा. 2-4-5, 4-5-6)

अब आप समझ गये होंगे कि संसार स्वार्थ-सिद्धि का रंग मंच है। यहाँ सब खिलाड़ी अपनी अपनी बुद्धि के बल से खेल खेल रहे हैं किन्तु जब तक वास्तविक स्वार्थ समझ में न आवे, अर्थात् जब तक यह निश्चय न हो कि संसार को त्यागना है और संसार को त्यागने का अभिप्राय यह है कि संसार से न राग हो न द्वेष तथा ईश्वर से ही प्रेम हो, तभी स्वार्थ-सिद्धि हो सकती है, तब तक हमारा काम नहीं बन सकता। क्योंकि—

वारि मथे बरु होइ घृत सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल॥

(रामायण)

जिस जल में घी नहीं है, जिस रेत में तेल नहीं है, उसमें परिश्रम का फल परिश्रम ही रहेगा। परन्तु इस संसार में सुख ढूंढने का परिणाम तो और भी भयंकर होगा क्योंकि कर्मबन्धनों से बँधते जाओगे जिसका कहीं अन्त नहीं है।

अतएव संसार में किसी को न अपना समझो, न पराया। यह संसार तो ईश्वर प्राप्ति–रूपी लक्ष्य की पूर्ति के लिये घूम रहा है। किन्तु, यदि किसी जानकार ने यह बता दिया कि वह मार्ग इधर नहीं है उधर है तो बस, ईश्वर के शरणापन्न होकर वह जीव परमानन्द प्राप्त कर लेता है, अन्यथा अनादिकाल से अनन्तकाल तक संसार से ही प्यार करता है।

हम लोग अपना सब समय, आत्मशक्ति इसी में नष्ट कर रहे हैं कि लोग हमें अच्छा कहें, जबकि उपर्युक्त, सिद्धान्त से यह सर्वथा असम्भव है। हम अच्छा बनने का प्रयत्न नहीं करते, हम अच्छा कहलाने का प्रयत्न करते हैं। परिणाम–स्वरूप हमारा जीवन दंभमय हो जाता है। प्रतिक्षण एक्टिंग, बनावट, एटीकेट के ही चक्कर में परेशान रहते हैं। जरा सोचिये कि संसार में अच्छे एवं बुरे दो प्रकार के लोग हैं एवं सदा रहेंगे। ईश्वर के क्षेत्र वाले अच्छे हैं, तीन गुणों के आधीन रहने वाले बुरे हैं। फिर उन बुरों में भी तामस से राजस अच्छे, राजस से सात्त्विक अच्छे हैं।

अब आपको ईश्वरीय क्षेत्र का वास्तविक 'अच्छा' बनना है, जिसके पश्चात् पुनः बुरा बनने की नौबत न आए। ऐसे 'अच्छे' के विरोधी सात्त्विक, राजस, तामस, तीन प्रकार के लोग हैं। तो फिर आप कैसे आशा करते हैं कि स्वाभाविक विरोधी गुण वाले आपके अनुकूल रहेंगे? यदि आप सात्त्विक बनेंगे तो आपको राजस, तामस, एवं ईश्वरीय लोग बुरा कहेंगे। यदि तामस बनते हैं तो राजस, सात्त्विक, ईश्वरीय बुरा कहेंगे। जब तीन पार्टी विरोधी हैं ही तो ईश्वरीय अच्छा क्यों न बना जाय, जिससे सदा के लिए अच्छे ही बन

जायें यानी आनन्दमय हो जायें ? संसार तो अपना कार्य स्वाभाविक गुणों के आधीन होने के कारण करेगा ही, उसकी चिन्ता हम क्यों करें ? इसे इस कथानक से समझिये।

एक बार शंकरजी एवं पार्वतीजी दोनों नादिया के साथ संसार में भ्रमण करने निकले। संसारियों ने उनकी प्रत्येक स्थिति में आलोचना की। जब शंकरजी नादिया पर थे एवं पार्वतीजी पैदल थीं, तब शंकरजी की आलोचना हुई। जब पार्वतीजी नादिया पर चढ़ीं तो उनकी आलोचना हुई। जब दोनों चढ़े तो दोनों की क्रूरता की निन्दा हुई। जब दोनों पैदल चले तो मूर्ख कहे गये। जब दोनों ने नादिया को टाँग लिया तो महामूर्ख कहे गये।

भावार्थ यह कि संसार को उपर्युक्त प्रकार से परस्पर विरोधी समझकर अच्छा कहलाने में समय एवं आत्मशक्ति का अपव्यय न करें, अपितु सत्यमार्ग का अवलम्बन करें। संसार को मिटाना भी हमारे हाथ में नहीं है, अतएव, हमें अपने अन्तरंग संसार को मिटाकर अपना लक्ष्य प्राप्त करना है।

एक आश्चर्य की बात सुनिये। मैं आपसे यह कहूँ कि आप संसार के सबसे बड़े मूर्ख को ले आइये। मान लीजिये, आप लाये। मैं उसे एक सप्ताह कोठरी में बन्द रखूँ, ,खाना न दूँ, पानी न दूँ। वह एक सप्ताह बाद कितना भूखा होगा यह आप नहीं सोच सकते। खैर, ऐसे भूखे घोर मूर्ख को सात दिन बाद स्वर्ण की थाली में बड़े आदर के साथ अनेक मेवा-मिष्ठान दिये जायें तो वह कितना खुश होगा! किन्तु, यदि उसी के किसी विश्वासपात्र को रुपया आदि देकर, उससे उस मूर्ख के कान में यह कहलवा दिया जाय कि इस खाने में विष मिला है, इसे न खाना, तो वह तुरन्त खाना छोड़ देगा। आप उससे प्रश्न कीजिये – 'तुम खाना क्यों नहीं खाते ?' वह कहेगा, 'इसमें विष मिला है, विष मारक होता है और हमें मरना नही है।' पुनः उससे पूछिये, 'तुमने क्या कभी विष का अनुभव किया है ?' वह कहेगा, 'यह भी कोई प्रश्न है ?

यदि विष का अनुभव किया होता तो मर गये होते।' तीसरा प्रश्न कीजिये – 'तुमने विष नामक वस्तु को कभी देखा है ?' वह कहेगा, 'नहीं। मैं क्यों देखूँ जिसे आत्महत्या करनी हो या दूसरे की हत्या करनी हो या डाक्टर आदि अन्य लोग देखें।' चौथा प्रश्न कीजिये– 'तुमने इस खाने में कुछ मिलाते देखा है ?' वह कहेगा, 'नहीं, मैंने तो नहीं देखा, किन्तु मेरा मित्र कह रहा था।'

अब विचार कीजिये कि सात दिन का भूखा मूर्ख विष के अनुभव के बिना ही एवं विष को न देखे हुए ही अपने मित्र की बात मानकर विश्वास कर लेता है और वह हजारों रुपये देने पर भी खाना नहीं खाता, किन्तु आप लोग संसार के विषय विष का अनुभव करते हुए भी एवं देखते, पहिचानते हुए भी बुद्धिमान कहलाने वाले भी विरक्त नहीं होते। अब आप लोग सोच लीजिये कि आप कितने समझदार हैं। अतएव हमें संसार के स्वरूप पर गंभीरता पूर्वक विचार करना है। यह कोई ग्रंथ की बात नहीं, अपितु दैनिक अनुभव की बात है, जिसे स्वीकार करने में किसी को संकोच न होगा।

एक बड़ी विलक्षण बात यह है कि लोग बड़े दावे से यह कहा करते हैं कि संसार मिथ्या है, इसमें सुख नहीं है, फिर भी संसार की ही ओर तेजी से भागे जा रहे हैं। इसका एक रहस्य है, गंभीरतापूर्वक समझिये।

हम लोग संसार–सम्बन्धी धन, पुत्र, स्त्री, पति आदि के अभाव में झुंझला कर, 'संसार मिथ्या है', ऐसा कह देते हैं। परन्तु ज्यों ही उपर्युक्त धन–पुत्रादि मिल जाते हैं, पुनः इसी में लिपट जाते हैं। वस्तुतः संसार को मिथ्या नहीं कहते। यथा– जब एक पिता का पुत्र मर जाता है तो उसके शव को पिता आदि श्मशान ले जाते हैं एवं यह नारा लगाते जाते हैं कि 'राम नाम सत्य है।' इस नारे का वास्तविक अर्थ तो यही है कि पुत्र किसी का नहीं होता, व्यर्थ ही उसमें आसक्त होकर लोग अशान्त होते हैं, सत्य वस्तु तो एकमात्र ईश्वर ही

है। किन्तु, ऐसा भाव पिता आदि का नहीं होता। आप कहेंगे, अवश्य होता होगा। परन्तु इसका परिचय तो तभी मिल सकता है जब कदाचित् पुत्र पुनः जीवित हो उठे। तब पिता आदि तत्क्षण 'राम नाम सत्य है' का नारा बन्द कर देंगे, क्योंकि अब बेटा सत्य है। यहाँ तक कि शव को जलाने के बाद लौटते समय भी कोई 'राम नाम सत्य है' नहीं बोलता। इसका अंतरंग रहस्य कुछ और है। वह यह कि संसार में ऐसा कोई ही तत्त्वज्ञानी गृहस्थी होगा जो 'राम नाम सत्य है' को मंगलवाचक मानता हो। यदि किसी पिता की पुत्री श्वसुरालय के लिए विदा हो रही हो, पालकी चलने वाली हो और कोई महानुभाव उस समय 'राम नाम सत्य है' बोल दें तो कदाचित् वह पिटे बिना न छूटे। यदि राम नाम मंगलमय है, इतना भी ज्ञान किसी को होता तो वह तो बड़ा प्रसन्न होता कि हमारी पुत्री का यह गृहस्थ प्रवेश परम मंगलमय होगा। किन्तु, ऐसे आस्तिक गृहस्थी अँगुलियों पर गिने जाने वाले ही होंगे। क्योंकि समस्त संसार के लोग 'राम नाम सत्य है' का अर्थ यही लगाते हैं कि यदि यह नारा लगाया गया तो शायद कोई मर जायगा। अब सोचिये, राम नाम अमरत्व देने वाला है किन्तु, आस्तिक समाज उसका क्या सदुपयोग कर रहा है! वस्तुस्थिति तो यह है कि धन, पुत्र, स्त्री, पति आदि को ही हम लोग आनन्द का केन्द्र समझते हैं और उन्हीं की रक्षा एवं वृद्धि के लिए प्रायः ईश्वर को मानते हैं। तब फिर भला धन, पुत्रादि के अभाव को हम श्रेष्ठ कैसे मानेंगे? हम तो धन नष्ट होने पर ही कहेंगे कि लक्ष्मी चंचल है, वह किसी एक की नहीं है। यही हमारा ज्ञान है जिसका भावार्थ पूर्ण अज्ञान ही है। जब-जब संसार सम्बन्धी किसी प्रिय वस्तु का अभाव होता है, हम यह कह देते हैं कि संसार मिथ्या है। किसी पुत्र ने पिता को डाँटा, किसी ने अपमान किया, बस, ज्ञान हो गया कि पुत्र, पत्नी आदि सब स्वार्थी हैं, सब धोखेबाज हैं। मैं किसी से प्यार न करूँगा, मैंने जान लिया, समझ लिया, किन्तु दो मिनट बाद जैसे ही पुत्र या

स्त्री ने कहा - 'क्षमा कीजियेगा, मैं भांग पीकर कुछ अनर्गल शब्द बोल गया था, आप तो मेरे सर्वस्व हैं', बस, तुरन्त आपका ज्ञान बदल गया एवं आप कहने लगे -'वही तो मैं सोच रहा था कि मेरा पुत्र अथवा स्त्री अथवा पति ऐसा कैसे कह सकता है!' अर्थात् पुत्र एवं पति सब स्वार्थी हैं, यह ज्ञान अभाव में हुआ था, जब वे अनुकूल हो गये तब ज्ञान बदल गया। बस, यही स्थिति हमारी सर्वत्र, सर्वदा रहती है। भावार्थ यह कि हम लोग संसार के अभाव से घृणा करते हैं, संसार से नहीं।

आप लोग जो ईश्वर को मानते हैं उन्हें ईश्वर का वचन भी तो मानना चाहिये। आप कहेंगे, अवश्य मानेंगे तो सुनिये वेदव्यासजी कहते हैं—

तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥

(भाग. 10-27-16)

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः॥

(भाग. 10-88-8)

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि मैं जिस पर कृपा करता हूँ, उसके सांसारिक धन, पुत्र, स्त्री, पति, प्रतिष्ठादि सब छीन लेता हूँ। भावार्थ यह कि संसार का अभाव ईश्वर-कृपा है। संसार में कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो इस सिद्धान्त को हृदय से स्वीकार करते हैं? केवल इने गिने व्यक्ति ही निकलेंगे जो इस सिद्धान्त को वास्तविक रूप में मानते हों, अन्यथा तो, यदि प्रारब्धवश भी किसी का पुत्र जन्माष्टमी आदि को मर जाता है तो कई पीढ़ी तक जन्माष्टमी नहीं सहती। बोलिये, जन्माष्टमी का क्या दोष है? यह भी हमारा ज्ञान है। अतएव हमें संसार के वास्तविक स्वरूप धन, पुत्र, मित्र, स्त्री, पति, प्रतिष्ठा आदि से विरक्त होना है। इसके अभाव से विरक्त होने का अभिप्राय तो यही है कि हम संसार से प्रेम करते हैं और उसके अभाव से वैराग्य।

आप लोग कह सकते हैं कि संसार के ऐश्वर्य रहते हुए क्या ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती ? जनकादि बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंसों का उदाहरण तो हमारे समक्ष है। यह विचारणीय है कि—

साधनावस्था में संसार के बहिरंग ऐश्वर्यों से बचना है क्योंकि संसार के ऐश्वर्य बड़े-बड़े साधकों को पाताल में ढकेल देते हैं।

नहिं कोउ अस जनमा जग माहिं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहिं॥

(रामायण)

कुन्ती भगवान् से वर माँगती है -

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

(भाग. 1-8-25)

अर्थात् मुझे सदा संसार के ऐश्वर्य का अभाव यानी विपत्ति ही दीजिये, क्योंकि सांसारिक वस्तुओं के अभाव में अहंकार न होगा, अकिंचन भाव-उत्पन्न होगा, तभी हम आपकी ओर बढ़ सकेंगे। भावार्थ यह कि साधनावस्था में संसार से उतना ही सम्बन्ध रखना चाहिये जितने कम से कम में आवश्यकता की पूर्ति हो जाय। साथ ही प्रमुख ध्यान यह भी रखना चाहिये कि मन की आसक्ति किसी पदार्थ में न होने पाए। तब सिद्धि प्राप्त होती है, तब जनकादि का उदाहरण लागू होता है। देखो, जैसे प्रथम दूध से मक्खन निकाल लिया जाता है तब मक्खन पानी को चैलेन्ज कर सकता है कि हम पानी में रहकर भी उससे पृथक् रहेंगे। किन्तु, यदि दूध ने मक्खन बनने से पूर्व ही चैलेन्ज कर दिया और पानी में कूद पड़ा तो अपने आपको खो बैठेगा, अर्थात् पानी में घुल-मिल जायेगा। उसी प्रकार जब एकांत में, संसार के पदार्थों से पृथक् होकर आवश्यकता की पूर्तिमात्र के हेतु सामान रखकर, साधना द्वारा मन

ईश्वर में जमा लें, ईश्वरीय प्रेमरस प्राप्त हो जाय, तब विषयानन्द को चैलेन्ज कर सकते हैं। यह ठीक है कि बालक रसगुल्ला को बिना देखे ही रोता है किन्तु यदि सामने रखा हो तब तो जमीन आसमान एक कर देगा। यह पूर्व में बताया गया है कि वास्तविक विषय-सामग्री पाकर वासना उद्दीप्त होती है।

अतएव संसार सम्बन्धी ऐश्वर्य जितने कम हों, उतना ही अच्छा और उतने में भी मन की आसक्ति न हो तब तो साधना हो सकती है अन्यथा रंक एवं सम्राट सब बराबर ही रहेंगे। जिसके पास एक कपड़ा नहीं है, वह एक कपड़े के लिए परेशान है, जिसके पास 50 कपड़े हैं वह 51 वें के लिए परेशान है। परेशानी में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस संसार में 4 प्रकार के लोग मिलते हैं –

(1) कुछ लोग संसार के मदवर्द्धक ऐश्वर्यों के होते हुए भी ईश्वर के रस में विभोर रहते हैं।

(2) कुछ लोग संसार के मदवर्द्धक पदार्थों के न होते हुए भी संसार के ही ऐश्वर्यों के चिन्तन एवं उनके पुनः संग्रह में अशान्त रहते हैं।

(3) अधिकांश लोग संसार के मदवर्द्धक ऐश्वर्यों के होने के कारण ईश्वर से वंचित होकर, मदोन्मत्त बने हुए संसार की ही ओर बढ़ते जाते हैं।

(4) अधिकांश लोग संसार के मदवर्द्धक पदार्थों के अभाव के कारण संसार से निराश होकर ईश्वर की शरण में जाते हैं एवं सत्संग द्वारा संसार का सत्य रूप समझ कर उससे विरक्त हो जाते हैं।

इसमें प्रथम वर्ग के लोगों के उदाहरण बहुत कम मिलेंगे क्योंकि मदवर्द्धक पदार्थों के रहने पर भी उनमें आसक्ति न हो, उनका मद न हो, यह योगभ्रष्ट संस्कारी अर्थात् उच्चकोटि का आध्यात्मिक पुरुष ही कर सकता है।

दूसरे वर्ग के भी उदाहरण कम मिलेंगे क्योंकि संसार के अभाव में संसार का अहंकार न होने के कारण स्वभावतः मन ईश्वर में जाना चाहिये। किन्तु फिर भी घोर कुसंस्कार एवं कुसंग के परिणामस्वरूप ऐसा होता है। तीसरे एवं चौथे वर्ग के लोगों का नियमित रूप ही है। वास्तव में वही नियम सार्वजनिक है।

सुख के माथे सिल परे नाम हिये ते जाय।
बलिहारी वा दुःख की जो पल पल नाम रटाय॥

अब आप समझ गये होंगे कि संसार के ऐश्वर्य कितने भयानक होते हैं, जिन्हें हम चाहा करते हैं और साथ में यह भी क्षणभंगुर कल्पना करते रहते हैं कि ईश्वर-प्राप्ति हो जाय तो अच्छा है।

वास्तव में हमारा यह विश्वास सा बन गया है कि संसार में सुख है, अभी नहीं मिला है किन्तु अब मिलने ही वाला है। बस, इसी आशावाद में अनन्त जन्म समाप्त हो गये एवं आगे पता नहीं उपर्युक्त सिद्धान्त हमारा कब तक बना रहे। जरा सोचिये, संसार का सुख क्या है?

दो लड़के एक स्थान पर बैठे हैं, एक लड़की उधर से पानी भरने जा रही है। उसे देखकर एक लड़के ने संकल्प किया कि मैं उससे अवश्य विवाह करूंगा। दूसरे ने कहा, 'अरे भाई, पता नहीं यह किसकी लड़की है, किस जाति की है, कैसा वर चाहती है, इत्यादि। इसके झगड़े में कौन पड़े।' यह सोचकर दूसरा लड़का तो चैन से पढ़ने चला गया एवं प्रथम लड़के ने पता लगाना प्रारम्भ किया। पता लगा तब मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी झगड़े में परीक्षा में भी अनुत्तीर्ण हो गया एवं वर्षों चिन्താग्रस्त रहा। कल्पना कीजिये कि उसका प्रयत्न यदि सफल हुआ यानी विवाह हो गया तो वह प्रसन्न हुआ, अब बताइये कि वह प्रसन्न तो उस लड़की के देखने के पूर्व

भी था, फिर बीच के वर्षों के समय में जो हानि एवं अप्रसन्नता रही, वह व्यर्थ ही में रही। जबकि दूसरा लड़का परीक्षा में भी पास हो गया एवं वर्षों की परेशानी से भी बच गया और विवाह उसका भी एक स्थान पर हो गया। तो हम स्वयं इच्छा बनाते हैं, पुनः वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ से इच्छा बनाना प्रारंभ किया था।

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।

(सूक्ति)

अर्थात् कीचड़ में पैर डालकर पुनः धोना और यह महसूस करना कि पैर साफ हो गये। साफ तो पहले भी थे, तुम्हीं ने तो कीचड़ में पैर डाला था। हम इच्छा बनाकर दुःखी होते हैं, पुनः उसकी पूर्ति में सुखी होते हैं और यदि कहीं इच्छा की पूर्ति न हुई, जैसा कि बहुधा होता है, तो उतना परिश्रम भी व्यर्थ, समय भी व्यर्थ एवं सारे जीवन उस असफलता में अशान्त रहते हैं। यह हमारा सांसारिक काल्पनिक सुख है। कोई भी व्यक्ति किसी भी इन्द्रिय-विषय की वासना बनाकर अनुभव करे एवं बिना बनाये अनुभव करे बस, स्वयं सब समझ में आ जायगा। अस्तु, संसार का वास्तविक स्वरूप समझ कर मनुष्य विरक्त होता है। विरक्ति का अर्थ भी कुछ गम्भीर होता है।

वैराग्य का स्वरूप

प्रायः लोग राग शब्द का अर्थ प्यार ही करते हैं, पर ऐसा नहीं है, राग का अर्थ है मन का लगाव, वह मन का लगाव प्यार से हो या खार से हो। अर्थात् अनुकूल भाव या प्रतिकूल भाव, किसी भी भाव से मन की आसक्ति, आसक्ति ही कहलाएगी और जब न अनुकूल भाव से आसक्ति हो और न प्रतिकूल भाव से आसक्ति हो तभी वैराग्य कहलायेगा।

स्थूल बुद्धि से यों समझिये कि जब आप किसी प्रिय का चिन्तन करते हैं तो सदा सर्वत्र उसी में मन व्यस्त रहता है, 'यह कब मिलेगा, कैसे मिलेगा, कहाँ मिलेगा, बड़ा अच्छा आदमी है, हमारा हितैषी है, हमारा प्रेमी है' इत्यादि। ठीक इसी प्रकार, जिससे आपका द्वेष हो जाये, वहाँ भी सदा सर्वत्र मन व्यस्त रहता है कि वह कहाँ मिलेगा, कब मिलेगा, कैसे मिलेगा, वह हमारा शत्रु है, अनिष्टकारी है, उसे मारना है, इत्यादि।

उपर्युक्त रीति से प्यार एवं खार दोनों ही में एक सी स्थिति मन की रहती है। यही प्रमुख कारण है कि अनुकूलभाव से मन को श्यामसुन्दर से एक कर देने वाली गोपियाँ भी भगवत्-स्वरूपा बन गयीं एवं प्रतिकूल भाव से मन को श्यामसुन्दर में एक कर देने वाले कंसादिक भी भगवत्स्वरूप बन गये। वेदव्यास की उक्ति के अनुसार—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(भाग. 10-29-15)

अर्थात् काम से, क्रोध से, भय से, स्नेह से, जैसे-कैसे भी मन का लगाव भगवान् में हो जाय, बस उसे भगवान् की प्राप्ति होती है। अब आप समझ गये होंगे कि संसार से वैराग्य करने में मन को राग-द्वेष-रहित करना होगा अर्थात् मन संसार से उदासीन हो जायगा, यथा—

कबिरा खड़ा बजार में, सबकी माँगे खैर।
ना काहू सों दोस्ती, ना काहू सों बैर॥

बस, यही अवस्था वैराग्य की है। जैसे, एक माँ अपने खोये हुए पुत्र को मेले में ढूँढ़ती है। वह रोती हुई अपने बच्चे को खोज रही है। उसे एक बच्चा पीछे से दिखाई पड़ा जिसके कपड़े, आयु, कद, जूते आदि उसी के बच्चे के समान थे। वह उसी बच्चे को अपना बच्चा समझ बैठी और 'बेटा-बेटा' कहकर दौड़ी। जब उसका मुख देखा तो वह उसका बेटा न था। बस, उसे उस बेटे से वैराग्य हो गया, अर्थात् वह माँ न तो उस बेटे को प्यार ही करती है कि हमारा बेटा नहीं मिला न सही, चलो इसी से प्यार करें और न तो शत्रुता ही करती है कि 'क्यों रे, मैंने तो सोचा था कि तू मेरा बेटा है, तू पराया क्यों हुआ? इत्यादि। बस, इसी अवस्था का नाम वैराग्य है।

जैसे, किसी शराबी को शराब के लिये मदिरालय जाना पड़ता है किन्तु मदिरालय के पूर्व कई दुकानें अन्य सामानों की पड़ती हैं। वह उन दुकानों के सामने से तो जाता है, देखता भी जाता है, किन्तु विरक्त है। अर्थात् न तो किसी दुकान पर खड़ा होता है कि चलो मदिरा न सही, इस दुकान पर रसगुल्ला ही खा लें और न तो झगड़ा ही करता है कि मुझे तो मदिरा चाहिये, तू रसगुल्ला की दुकान क्यों बीच में लगाये बैठा है', इत्यादि। वह सबसे विरक्त होकर अपने मदिरालय के लक्ष्य पर जा रहा है। बस, यही वैराग्य है। इस संसार में सब दुकानों से गुजरता हुआ अपने परमानन्द के केन्द्र भगवान् की दुकान पर ही सीधा जाय, अन्यत्र कहीं भी न राग हो न द्वेष हो।

यह ध्यान रहे कि जब तक मन ईश्वर के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी राग या द्वेष युक्त (आसक्त) रहेगा, तब तक ईश्वर-शरणागति असम्भव है और जब तक संसार में, 'न तो यहाँ हमारा आध्यात्मिक सुख है और न यहाँ हमें

बरबस अशान्त करने वाला दु:ख ही है', ऐसा ज्ञान परिपक्व न होगा, तब तक वैराग्य भी असम्भव है।

इस परिपक्वता के लिये संसार के स्वरूप पर गम्भीर विचार एवं बार-बार विचार करना होगा, बार-बार विचार से ही दृढ़ता आयेगी। एक बार विचार करने मात्र से काम नहीं बनेगा क्योंकि अनन्तानन्त जन्मों का विपरीत विचार संगृहीत है। उसे काटने के लिए—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।

(गीता 13-8)

अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि में दु:ख और दोषों का बार-बार विचार करना होगा जिससे मन विरक्त होकर खाली हो जाएगा। बस, वही दिन आपका सौभाग्य का होगा जिस दिन मन खाली हो जायगा। अब आप समझ गये होंगे कि उस विरक्त मन को ईश्वर के शरणागत करना है, जिस शरणागति के परिणाम स्वरूप, ईश्वर-कृपा के परिणाम स्वरूप ईश्वरीय-ज्ञान एवं ईश्वरीय-दिव्यानन्द की प्राप्ति होनी है।

आप लोग सोचते होंगे, जब मन संसार में राग-द्वेष रहित, अलग हो जायगा तब फिर क्या करना अवशिष्ट रह जायगा? क्योंकि तब तो वासना का निर्माण ही न होगा। जब वासना का निर्माण न होगा तो उसकी पूर्ति में लोभ या अपूर्ति में क्रोधादि की उत्पत्ति ही न होगी, तब फिर अशान्ति या दु:ख ही कैसे आ सकेंगे? फिर शरणागति करने का व्यर्थ प्रयास क्यों किया जाय?

किन्तु, यह सोचना भोलापन है। क्योंकि, एक तो मन विरक्त होकर वासना न बनावे यह असम्भव है क्योंकि जब तक परमानन्द न प्राप्त हो जायगा, उसकी स्वाभाविक वासना सदा रहेगी ही।

दूसरी बात यह कि राग द्वेष रहित मन क्या निश्चेष्ट पड़ा रहेगा, अर्थात् अपनी क्रिया बन्द कर देगा? यह तो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि कोई भी जीव एक क्षण को भी अकर्ता नहीं रह सकता, यह मैं पूर्व में ही सिद्ध कर चुका हूँ।

तीसरा कारण यह है कि अनन्तानन्त जन्मों के संस्कारों के कारण भी वासना की उत्पत्ति स्वाभाविक है, उसे कोई नहीं रोक सकता।

चौथा कारण यह भी है कि जब तक माया का आधिपत्य जीव पर रहेगा, तब तक मायिक-वासना बनाना, यही जीव का स्वभाव होगा।

पाँचवां कारण यह है कि ईश्वर प्राप्ति से ही जीव की कामना पूर्ति हो सकती है अर्थात् तृप्ति हो सकती है, उसके पूर्व असम्भव है। जैसे, प्यासे हिरन को जब तक वास्तविक जल न मिलेगा, वह मरुस्थलीय मिथ्या-जल से विरक्त भी हो जाय तो प्यास से विरक्त नहीं हो सकता। अतएव ईश्वर-शरणागति तो करनी ही पड़ेगी।

स्थूल दृष्टि से यहाँ समझ लीजिये कि यदि आप अपने घर जा रहे हैं एवं मार्ग भूल गये हों और एक व्यक्ति आपको यह समझा दे कि यह मार्ग आपके घर का नहीं है क्योंकि आपके घर के मार्ग में अमुक-अमुक पहिचान मिलती है, और आप समझ भी जायँ कि तुम ठीक कहते हो, मैं गलती पर था, किन्तु इतने जानने से आप घर न पहुँच सकेंगे। 'हमारा सांसारिक पदार्थों द्वारा वासनापूर्ति का मार्ग गलत है', यह ज्ञान तो हो गया जिसके परिणामस्वरूप वैराग्य भी हो गया किन्तु फिर, 'हमारे परमानन्द-स्वरूप ईश्वरीय घर का कौन-सा मार्ग है', यह जानना होगा। इतना ही नहीं, उस मार्ग से चल कर घर भी पहुँचना होगा, तभी अभीष्ट सिद्धि होगी।

कुछ लोग कहते हैं कि व्यर्थ में वैराग्य के चक्कर में क्यों पड़ा जाय, सीधे–सीधे ईश्वर में अनुराग करो बस, वैराग्य अपने आप हो जायगा। किन्तु विचारणीय यह है कि ईश्वर में अनुराग करोगे किससे एवं किसलिये करोगे? उत्तर यही मिलेगा कि मन से अनुराग करेंगे। और चूँकि ईश्वर में सुख है और सुख ही हमारा अभीष्ट है, इसलिये अनुराग करेंगे। परन्तु बुद्धि तत्क्षण खंडन कर देगी कि चलो हम मान लेते हैं कि ईश्वर में सुख होगा किन्तु संसार में भी तो सुख है। इतना ही नहीं, संसार का सुख करतलगत है, प्रत्यक्ष है, अनुभूत है, उसे छोड़कर अन्धेरे में क्यों पड़ें? तब फिर मन का अनुराग ईश्वर में कैसे होगा? कहना सुगम है, करना कठिन हुआ करता है। ऐसे भोले विचारक सोचें कि मरुस्थल के उड़ते हुए जिन बालू के कणों को, सूर्य के प्रकाश में देखकर हिरन को यह विश्वास हो जाता है कि वहाँ पानी अवश्य है, वह मर कर भी अपने विश्वास को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार 'संसार में सुख है', यह विश्वास जब तक बुद्धि में जमा है, अनन्तबार मर कर भी हम अपना निश्चय नहीं बदल सकते। यही आशा बनी रहेगी कि अब सुख मिलेगा, अब सुख मिलेगा।

अतएव यह कहना अपने आपको धोखे में डालना मात्र है कि सीधे मन भगवान् में लगा दो, बस, सब काम ठीक हो जायगा। मन लगाने वाला कौन होगा? आप जानते हैं मन का शासक कौन है?

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।

(कठो. 1–3–10)

इस वेदवाक्य के अनुसार मन की शासिका बुद्धि है। जब बुद्धि का ही निश्चय दूसरा है तो मन को ईश्वर में कौन लगाने देगा? क्या मन अपने आप ईश्वर में लग जायगा? यह तो सर्वथा असम्भव है। अगर आप कहें कि श्रीकृष्णावतार में कितने उदाहरण ऐसे हैं जिन्होंने श्रीकृष्ण को देखा और बस,

विभोर हो गये, पर आप शायद यह नहीं जानते कि श्रीकृष्ण का वह विभोर करने वाला, चिन्मय स्वरूप कौन देख सकता है।

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।

के अनुसार उनकी देह दिव्य है। दिव्य देह को प्राकृत आँख कदापि नहीं देख सकती, फिर मन कैसे विभोर होगा? आपने पढ़ा होगा, भागवत में लिखा है कि जब श्रीकृष्ण-बलराम कंस की सभा में खड़े थे तब जनता के भिन्न-भिन्न भावानुसार, वे अनेक प्रकार के दिखाई पड़े—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(भाग. 10-43-17)

भावार्थ रामायण से समझ लीजिये। जब भगवान् राम जनक की सभा में खड़े थे तब भी जनता ने अपने-अपने दृष्टि-कोण से पृथक्-पृथक् देखा, सब विभोर नहीं हो गये।

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
विदुषन प्रभु विराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥

अब आप सोचिये कि जब एक दर्शक विराट् रूप में देखकर डर रहा है तो सब विभोर कैसे होंगे? विभोर तो वे ही हुए जो अधिकारी थे, भक्त थे। बस, वे ही उन्हें देख सके।

हरिभक्तन देखे दोऊ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।

अब आप समझ गये होंगे कि मन भगवान् में अपने आप अवतारकाल में भी नहीं लगेगा, फिर अवतारकाल न रहने पर तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

यदि मैं स्पष्ट कहूँ तो यह कह सकता हूँ कि यदि आप रामकृष्णादि भगवान् को समक्ष देख लें तो विभोर होने की बात तो दूर रही, शायद नास्तिक भी हो जायें, क्योंकि जब तक आप यह रहस्य न जान लें कि उनका वास्तविक रूप एवं कर्म दिव्य हैं तब तक प्राकृत दृष्टि में दीखने वाले प्राकृत शरीर एवं प्राकृत कर्म में कैसे ईश्वरीय भावना बना सकेंगे? अस्तु, हमें किसी पथ प्रदर्शक की आवश्यकता होगी।

महापुरुष

वैराग्य के पश्चात् एवं ईश्वर–शरणागति के पूर्व एक तत्त्व मध्य में है, जिसके बिना कार्य नहीं सम्पादित हो सकता। उस तत्त्व का नाम श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ महापुरुष है। ईश्वर–शरणागति में कौन सा मार्ग किस साधक के लिये श्रेयस्कर होगा, इसका निर्णय वही महापुरुष करेगा। एवं मध्य में भी जो अड़चनें साधक को मिलेंगी, उनका समाधान भी वही महापुरुष करेगा। केवल वैराग्य से ईश्वर की प्राप्ति की समस्या नहीं हल हो सकती।

आचार्यवान् पुरुषो हि वेद।

(छान्दोग्यो 6–14–2)

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डको. 1–2–12)

अर्थात् कर्म कर–कर के विद्वान् लोग परीक्षा कर चुके हैं कि उनसे कर्मबन्धन का अत्यन्ताभाव नहीं होता, अपितु कर्मबन्धन की ही वृद्धि होती है। अतएव उस ईश्वर को जानने वाले एवं अनुभव करने वाले एक गुरु की आवश्यकता है। गीतोक्ति के अनुसार भी —

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता 4–34)

अर्थात् उस ईश्वर तत्त्व को जानने के लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की आवश्यकता है, जिसके शरण होकर सेवापूर्वक जिज्ञासु बनकर ही परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वेदव्यास भी कहते हैं—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

(भाग. 11-3-21)

अर्थात् उस ईश्वर की प्राप्ति के लिए वास्तविक गुरु की शरण में जाना होगा। रामायण कहती है - **'गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई', 'गुरु बिनु होई कि ज्ञान'।** भावार्थ यह कि सर्वसम्मत-मत यही है कि बिना गुरु के अज्ञेय-तत्त्व को नहीं जाना जा सकता। अतएव अब हमें सर्वप्रथम उसी महापुरुष-तत्त्व पर विचार करना है।

एक बात स्मरण रहे कि महापुरुष या गुरु-तत्त्व से यह अभिप्राय नहीं है कि जो केवल शास्त्रवेद का विद्वान्-मात्र हो अथवा केवल अनुभवीमात्र हो। आप्त ग्रंथों ने दोनों ही बातों को प्राधान्य दिया है। यद्यपि मेरी राय में यदि शास्त्र वेद का विद्वान् नहीं भी है तो भी अनुभवी महापुरुष से काम बन सकता है क्योंकि उसके जान लेने पर सब कुछ स्वयमेव ज्ञात हो जाता है। आप्त ग्रंथों एवं लोक में भी तीन शब्द पढ़ने सुनने मे आते हैं - एक पुरुष, दूसरा महापुरुष एवं तीसरा परमपुरुष। दूसरे शब्दों में इन्हीं तीनों को जीवात्मा, महात्मा एवं परमात्मा शब्दों से पुकारा जाता है। हमें महापुरुष या महात्मा तत्त्व पर विचार-विनिमय करना है। वास्तव में जीवात्मा एवं परमात्मा अथवा पुरुष एवं परमपुरुष के मध्य की स्थिति का नाम ही महात्मा या महापुरुष है। अर्थात् जिस जीवात्मा या पुरुष ने परमात्मा या परम पुरुष को जान लिया हो, देख लिया हो, उसमें प्रविष्ट हो चुका हो, वही महात्मा या महापुरुष है। भावार्थ यह कि ईश्वर-प्राप्त जीव को ही महापुरुष कहते हैं।

किन्तु, किस जीव ने ईश्वर-प्राप्ति की है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि ईश्वर की भाँति, उससे एकत्व प्राप्त किये हुए महापुरुष को जानना केवल उसी कक्षा के महापुरुष के लिये संभव है क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर प्राकृत इन्द्रिय, मन, बुद्धि से अग्राह्य है, उसी प्रकार महापुरुष भी प्राकृत इन्द्रिय, मन, बुद्धि से अग्राह्य है, फिर भी कुछ प्रत्यक्ष, कुछ अनुमान, कुछ शब्द प्रमाण के द्वारा महापुरुष को पहिचानना ही पड़ता है, अन्यथा तो अनादि-काल से अब तक किसी को भगवत्प्राप्ति ही न हुई होती।

अतएव महापुरुष के पहिचानने में परिश्रम एवं समय भले ही लगे, उसके बिना ईश्वर-प्राप्ति का प्रश्न नहीं हल हो सकता। यदि सच पूछा जाय तो जैसे ए, बी, सी, डी, पढ़ने वाले विद्यार्थी का एक प्रोफेसर की योग्यता का निर्णय करना हास्यास्पद है, वैसे ही एक आध्यात्मिक विद्यार्थी शिष्य का पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष 'गुरु' का निर्णय भी उपहासजनक है। किन्तु , फिर भी अनन्तानन्त शिष्यों ने गुरु को पहिचाना है, शरणापन्न हुए हैं, उनकी बताई साधना के द्वारा एवं उनके सहयोग से ईश्वर-प्राप्ति की है। अतएव उसी नियम एवं मार्ग से हमें भी वहाँ पहुँचना है, निराश नहीं होना है। जब कोई कर्म एक व्यक्ति कर सकता है तो फिर उसे कोई भी कर सकता है, यह सिद्ध हो जाता है।

प्रायः दो प्रकार के महापुरुष प्राप्त होते हैं एवं दो ही प्रकार के दम्भी भी होते हैं। इन चारों को समझ लेने पर ही महापुरुष की समस्या हल हो सकती है।

(1) महापुरुष उसे कहते हैं जिसके भीतर भी महापुरुषत्व हो अर्थात् ईश्वर का वास्तविक ज्ञान, दर्शनादि अनुभव हो एवं बाहर भी उसी रूप में दीखता हो। वह विपरीत अभिनय न करता हो। ऐसे महापुरुष को

पहिचानने में सुविधा है। किन्तु यह असंभव सा है, क्योंकि महापुरुषों का इतिहास इसके विपरीत है।

(2) दूसरे महापुरुष वे होते हैं जो भीतर से तो वास्तव में ही महापुरुष होते हैं किन्तु बाह्य व्यवहार में सांसारिक से दीखते हैं। हम लोग बाह्य व्यवहार से ही व्यक्ति का निर्णय करते हैं, इसलिये ऐसे महापुरुष को पहिचानना अति कठिन हो जाता है और प्राय: ऐसे ही महापुरुष होते हैं। कुछ उन लोगों का स्वभाव सा होता है कि – '**गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नत:**'

अर्थात् अपने आपको जगत् से छुपाकर रखना। इसका रहस्य यह प्रतीत होता है कि यदि महापुरुष स्पष्ट बता दें कि मैं महापुरुष हूँ तो शायद जनता उनके पास भी न जाय क्योंकि जनता यह समझती है कि जो अच्छा आदमी होता है, वह अपने मुँह से अपने आपको अच्छा नहीं कहता अथवा अन्य कोई भी कारण हो किन्तु हमारे इतिहास में ऐसे ही महापुरुष हुए हैं, जिनका बहिरंग व्यवहार मायिक था एवं अन्तरंग दिव्य था।

(3) एक मायिक पुरुष (दम्भी) उसे कहते हैं जो भीतर से भी दम्भी हो एवं बाहर से भी दम्भी ही हो अर्थात् वह मायिक व्यक्ति बाहर भी महापुरुष का अभिनय न करता हो, वेशभूषा आदि से पृथक् हो तथा सर्वसाधारण की भाँति ही रहता हो, ऐसे दम्भी को पहिचानना सरल है।

(4) दूसरे मायिक पुरुष (दम्भी) वे हैं जो भीतर से तो मायिक हैं किन्तु बहिरंग व्यवहार महापुरुषों सरीखा बनाये रहते हैं। जैसे, शास्त्र वेद का उपदेश करते हैं, वेश भी साधुओं का सा बनाये हुए हैं, शिष्यादि परम्परा भी स्थापित किये हैं। ऐसे दम्भी महापुरुष को पहिचानना

अत्यन्त कठिन है क्योंकि हम लोग प्रायः व्यवहार से ही व्यक्ति का निर्णय करना जानते हैं।

अस्तु , द्वितीय एवं चतुर्थ इन दोनों पर गम्भीर विचार करना है। अर्थात् जिसके भीतर महापुरुषत्व है किन्तु बाहरी व्यवहार संसारी है और जिसके भीतर संसार है किन्तु बाह्य व्यवहार सन्तों का सा है, इन दोनों को कैसे जाना जाय। बस, यही एक गम्भीर समस्या है। आप कहेंगे, यदि कोई भीतर से महापुरुष होगा तो वह बाहर से मायिक हो ही नहीं सकता, किन्तु शायद आपने इतिहास का गम्भीर अध्ययन नहीं किया। आइये, आपको थोड़ा दिग्दर्शन करा दिया जाय।

यह तो आप जानते ही होंगे कि वास्तविक ईश्वरीय ज्ञान के पश्चात् अनन्तकाल तक कभी अज्ञान नहीं आ सकता तथा ईश्वरीय आनन्द पाने के पश्चात् अनन्तकाल तक दुःख का अधिकार नहीं हो सकता। वेद कहता है-

सदा पश्यन्ति सूरयः तद्विष्णोः परमं पदम् अर्थात् वह सदा दिव्यानन्द का अनुभव करता है। यदि वह ज्ञान या वह आनन्द पुनः छिन जाय तो उसके लिये

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता 7-3)

के अनुसार, सहस्त्रों जन्म कौन प्रयत्न करे। जैसे गेहूँ, चावल का बीज आग में जल जाने पर यद्यपि लावा रूप में दीखता है किन्तु उसकी बीज शक्ति सदा के लिए समाप्त हो जाती है, उसे कोई भी व्यक्ति किसी भी साधन से पुनः अंकुरित नहीं कर सकता, उसी प्रकार एक बार ईश्वर-प्राप्ति द्वारा मायानिवृत्ति होने पर पुनः माया या उसके विकार उस व्यक्ति पर कभी अधिकार नहीं कर सकते। यह शास्त्र-सम्मत एवं तर्क युक्त सर्वमान्य सिद्धान्त है। तो अब इसी

आधार पर विचार करना है कि हमारे इतिहास में माया का अभिनय किस प्रकार मायातीत महापुरुषों ने किया है।

सर्वप्रथम, जिन्हें ब्रह्मांड का रचयिता एवं संहारकर्ता आदि कहा जाता है, उन्हीं को लीजिये। '**शिव विरंचि कहँ मोहई को है वपुरा आन**' के प्रमाणानुसार ब्रह्मा एवं शंकर को भी माया मोहित कर लेती है। और स्पष्ट सुनना चाहें तो पुनः रामायण देखिये –

नारद भव विरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमवादी॥
मोह न अंध कीन्ह कहु केही। को जग काम नचाव न जेही॥

अर्थात् ब्रह्मा, शंकरादि ऐसा कोई नहीं बचा जिसे मोह ने अंधा न बना दिया हो।

इसी सिलसिले में एक बात और समझ लेना है कि महापुरुषों में भी दो प्रकार के महापुरुष होते हैं। एक तो वे जो अनादिकाल से अर्थात् सदा से मायातीत महापुरुष ही रहे हैं, कभी भी मायाधीन नहीं थे। उन्हें ईश्वर का परिकर, पार्षद आदि कहते हैं। दूसरे वे जो अनादिकाल से मायाधीन रहे हैं किन्तु किसी गुरु की शरण में जाकर उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलकर ईश्वर-प्राप्ति की और तब से अनन्तकाल के लिये वे भी महापुरुष हो गये हैं। मैं प्रथम उन ब्रह्मवादियों का वर्णन कर रहा हूँ जिन्हें कभी भी मायाधीन नहीं रहना पड़ा, सदा से महापुरुष रहे हैं। उनको भी मोह आदि ने अंधा बना दिया। यह कैसे और क्यों? यह एक गंभीर प्रश्न है।

सत्ययुग में उन्हीं ब्रह्मा के पुत्र एवं जीवन्मुक्त अमलात्मा परमहंसों के नेता सनकादि चार भाई हुए हैं। इनका आख्यान आपने सुना होगा कि एक बार चारों भाई बैकुण्ठ में जा रहे थे तो जय-विजय, वहाँ के पार्षदों ने इन्हें रोक दिया, जिससे इन्होंने क्रोध में आकर शाप दे दिया कि तुम राक्षस हो जाओ।

भला सोचिये, ब्रह्मलीन परमहंस तो उसे कहते हैं जो अपने सिवाय न कुछ देखता हो, न कुछ सुनता हो, न सूँघता हो, न स्पर्श करता हो, न रस लेता हो, न सोचता हो, न निश्चय करता हो। वेद कहता है—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

(बृहदारण्यको. 2-4-14)

तो ऐसे परमहंस को द्वैत का भान कैसे हुआ? पुनः अज्ञान कैसे आया, शाप कैसे दिया? इत्यादि। आप शंकरीय महाशक्ति पार्वतीजी का आख्यान पढ़कर ही विक्षिप्त हो जायेंगे। देखिये, रामायण में लिखा है, जिस समय भगवान् राघवेन्द्र सरकार अपनी ह्लादिनी-शक्ति जगदम्बिका सीताजी की खोज में विरह का अभिनय करते हुए जा रहे थे, उसी समय पार्वतीजी ने उन्हें देखा। साथ में शंकरजी भी थे। पार्वतीजी को अज्ञान ने धर दबाया। अस्तु, पार्वतीजी ने कहा।

कबहूँ योग वियोग न जाके। देखा प्रगट विरह दुःख ताके॥

अर्थात् भगवान् तो उसे कहते हैं जिसे न योग हो न वियोग हो अर्थात् अपने स्वरूप में आनन्दमय रहे। यह कैसे भगवान् हैं जो किसी स्त्री के वियोग का अनुभव कर रहे हैं और मैं प्रत्यक्ष देख रही हूँ। साथ ही वे यह भी कहती हैं—

शंकर जगत वन्द्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।।
तिन नृप सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानन्द परधामा॥

अर्थात् शंकरजी जगद्वन्द्य जगदीश हैं, उन्होंने सच्चिदानन्द ब्रह्म कहते हुए इन्हें प्रणाम किया है। यहाँ पर ध्यान दीजिये कि जगदीश शब्द का प्रयोग, वेदों के अनुसार, ईश्वर के लिए होता है।

भावार्थ यह कि पार्वतीजी शंकरजी को भगवान् मानती हैं किन्तु उनके प्रणाम पर भी विश्वास नहीं हुआ और तर्क यह रखा कि—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होय नर जाहि न जानत वेद॥

अर्थात् निराकार व्यापक ब्रह्म भला कहीं साकार हो सकता है? अब सोचिये कि इस प्रकार की शंका तो एक देहाती गंवार को भी न होगी क्योंकि सब जानते हैं कि जीव निराकार है किन्तु साकार शरीर लिये 84 लाख योनियों में चक्कर लगा रहा है। फिर सर्वसमर्थ भगवान्, जिसके मुस्कराने मात्र से साकार विश्व का निर्माण हो सकता है, वह स्वयं साकार नहीं हो सकता, यह सोचना कितना हास्यास्पद है।

अस्तु, पार्वतीजी ने शंका की कि एक तो निराकार भगवान् देह नहीं धारण कर सकता, दूसरे उसे वियोग या योग का रोग नहीं लग सकता। अतएव राम भगवान् नहीं हो सकते। पुनः सोचती हैं, 'लेकिन भगवान् शंकर तो सर्वज्ञ हैं, भला उनकी वाणी मिथ्या कैसे हो सकती है?'—

शंभु गिरा पुनि मृषा न होई। शिव सर्वज्ञ जान सब कोई॥

अब यह देखिये कि सर्वज्ञ शब्द का प्रयोग वेदों में भगवान् के लिये ही हुआ है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥

(मुण्डको 1-1-9)

भावार्थ यह कि पार्वती जी शंकर जी को सर्वज्ञ भगवान् भी मानती हैं और कहती हैं कि उनकी सर्वज्ञता को सब जानते हैं किन्तु फिर भी पार्वती जी को उनमें शंका हो रही है। वे सीताजी का रूप बनाकर भगवान् की परीक्षा लेने गयीं। सीताजी के वेष में बैठी हुई पार्वती जी को देखकर अभिनेता सर्वज्ञ भगवान् राम ने सर्वान्तर्यामी होने के कारण रोने का अभिनय समाप्त कर दिया और बोले 'माँ! अकेली कैसे बैठी हो ? पिता जी यानी शंकर जी कहाँ हैं ?' शंकर जी को लीला-विग्रह में भगवान् राम अपना इष्टदेव मानते हैं, उस नाते शंकर जी पिता हुए और पार्वती जी माँ हुईं।

अस्तु , परीक्षा समाप्त हो गयी, वह चाहे विद्यार्थी की हुई हो या प्रोफेसर (professor) की हुई हो। पार्वतीजी लौटकर शंकरजी के पास गयीं। शंकर जी ने पूछा कि कहो पार्वती कुछ परीक्षा ली ? अब देखिये, भगवान् शंकर को सर्वज्ञ एवं जगदीश मानने वाली तथा राम को परीक्षा द्वारा सर्वान्तर्यामी मान लेने वाली पुनः सफेद झूठ बोल रही हैं -

कछु न परीक्षा लीन गुसाईं। कीन्ह प्रणाम तुम्हारिहिं नाईं॥

अर्थात् मैंने कोई परीक्षा नहीं ली, केवल तुम्हारी तरह ही प्रणाम कर लिया है। पुनः शंकरजी ने पार्वतीजी का परित्याग कर दिया, कारण यह बताया कि तुमने मेरी माँ का रूप धारण किया था, अतएव तुम हमारी अर्धाङ्गिनी इस शरीर से नहीं हो सकतीं। यहाँ पर एक बात तो यह विचारणीय है कि विवाह के पूर्व ही सीताजी ने पार्वतीजी की उपासना माँ मान कर की थी और पार्वतीजी ने वरदान भी दिया था—

मन जाहि राँच्यो मिलइ सो वर सहज सुन्दर साँवरो।

इस प्रकार सीताराम की माँ पार्वतीजी हो ही चुकीं और इधर भगवान् शंकर कहते हैं कि तुमने कुछ क्षण को सीता का वेश बनाया अतएव हम

तुम्हारा परित्याग करेंगे। जब पार्वती जी पूर्व में ही माँ बनकर वरदान दे रही हैं तब तो परित्याग नहीं किया किन्तु अब क्यों किया ? फिर जिस शरीर से राम की अर्धाङ्गिनी सीता बनी थीं, वह योगमाया का देह था, उसे तो बदल कर पुनः शंकर जी के पास गयीं। भावार्थ यह कि शंकरजी के माँ बाप सीता राम हैं एवं राम के माँ बाप शंकर पार्वती हैं। किन्तु भगवान् राम इस नियम के अनुसार सीताजी का परित्याग नहीं करते। अस्तु, यह पार्वती जी की माया लगी अवस्था है। पश्चात् उन्होंने शरीर त्याग दिया, पुनः घोर तप किया, तब शंकरजी ने अपनाया, यह सर्वविदित है।

भगवान् के नित्य वाहन, ज्ञानियों एवं भक्तों के शिरोमणि गरुड़जी महाराज को भी माया लग गयी—

ज्ञानी भक्त शिरोमणि त्रिभुवनपति कर यान।
ताहि मोह माया प्रबल पामर करहिं गुमान॥

(रामायण)

जरा इस पर विचार कीजिये कि ज्ञानी को ही अज्ञान नहीं आ सकता, फिर ज्ञानी-भक्त-शिरोमणि एवं भगवान् के सनातन वाहन गरुड़ जी हैं। जब से भगवान् हैं, तब से गरुड़ हैं। उनको भी माया लग गयी। और माया क्यों लगी, यह सुनकर आप चकित हो जायेंगे—

भव बंधन ते छूटई नर जपि जाकर नाम।
खर्व निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

इस रामायण की उक्ति के अनुसार, नागपाश में बँधे हुए लीलाधारी भगवान् राम को देखकर शंका हो गई। ये भगवान् नहीं हो सकते, क्योंकि जिसके 'नाम' में यह शक्ति है कि अनादिकालीन अकाट्य कर्मबन्धनों को निर्मूल कर दे, वह स्वयं भला कैसे बन्धन में बँध सकता है। अस्तु , माया के

चक्कर में गरुड़जी ने नारदादिकों के पास चक्कर लगाया, भगवान् शंकर के पास भी गये किन्तु उन्होंने कोरा उत्तर दे दिया—

महा मोह उपजा उर तोरे। मिटइ न वेगि कहे खग मोरे।

अर्थात् तुमको महान अज्ञान ने धर दबाया है, अतएव शीघ्र निवारण नहीं हो सकता। तुम कागभुशुंडि के पास जाओ, कुछ दिन सत्संग करो। अस्तु , गरुड़जी कागभुशुंडि के पास गये, तब कागभुशुंडि ने कहा कि अरे भाई, तुमको माया लग गई तो क्या बात है, बड़े-बड़े ब्रह्मा शंकरादिकों को भी माया लग जाती है।

तुम निज मोह कही खग साईं। सो नहिं कछु आचरज गुसाईं॥
नारद भव विरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम वादी॥
मोह न अंध कीन्ह कहु केही। को जग काम नचाव न जेही॥

नारद जी के विषय में आप जानते ही हैं कि कामदेव को जीत लेने पर भगवान् के पास अहंकार लेकर गये और भगवान् ने माया द्वारा उनको बंदर का मुँह देकर खिलवाड़ किया। अब रामावतार के समय और क्या-क्या हुआ, जरा वह भी देखिये—

हनुमानजी महाराज, जिनसे बड़ा भक्त उस युग में किसे माना जाय, ऐसे रोम-रोम में राम रमाये हुए हनुमान जी ने भी राम को नहीं पहिचाना। ब्राह्मण का वेश बनाकर वनवासी लीलाधारी भगवान् राम के पास गये और पूछा, तुम कौन हो? यहाँ कहाँ घूम रहे हो? तुम ब्रह्मा, विष्णु या शंकर हो या नर नारायण हो?

की तुम तीन देव महँ कोऊ। नर नारायण की तुम दोऊ॥

अर्थात् मैं तुम्हें नहीं पहिचान पा रहा हूँ। कृपा करके बताओ। भगवान् राम ने अभिनय के अनुसार कहा कि इनमें से मैं कोई नहीं हूँ। मैं तो राजा दशरथ

का पुत्र हूँ। यहाँ मेरी श्रीमती जी खो गयी हैं, उन्हें ढूँढ रहा हूँ। पुनः राम ने पूछा, तुम कौन हो? तब हनुमान जी ने पहिचाना और कहा—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम कस पूछहु नर की नाईं॥
तव मायावश फिरउँ भुलाना। ताते नाथ न मैं पहिचाना॥

अर्थात् मैं तो माया के चक्कर में आ जाता हूँ, पर तुम तो मायाधीश हो।

भगवान् राम का अनन्य एवं अद्वितीय सखा सुग्रीव भगवान् राम की परीक्षा ले लेने के पश्चात् भी राज्य पाने पर भगवान् राम को भूल जाता है। जब लक्ष्मण जी धमकी देते हैं तब उसे स्मरण आता है। इतना ही नहीं, वही सुग्रीव अपनी भाभी तारा का स्त्री के रूप में वरण करता है कि जिस राम के आदर्श में लक्ष्मणजी ने सीताजी के चरणों को ही देखा था, अन्य अंग देखे ही न थे—

नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।

(वा. रा.)

अर्थात् मैं सीताजी के नूपुर ही पहिचानता हूँ क्योंकि उनके चरणों में नित्य प्रणाम किया करता था। ऐसे आदर्श स्वरूप में सुग्रीव का भाभी को पत्नी बनाना कितना चकित कर देने वाला है। यही कार्य विभीषण ने भी किया, अपनी भाभी मंदोदरी को स्त्री बना लिया। इतना ही नहीं, जब विभीषण पूर्णतया शरणापन्न होकर भगवान् के पास आया था तब उसके आने पर सुग्रीवादि ने बड़ी आपत्ति की थी, तब भगवान् ने यहाँ तक कहा था कि—

विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्।

(वा. रा.)

अरे सुग्रीव! विभीषण तो शरणागत है, यदि रावण भी आवे तो कोई आपत्ति नहीं है। मैं उसे भी स्वीकार करूँगा, भले ही विभीषण को लंकेश की उपाधि दे दी है और अब रावण को अवधेश बनाना पड़े।

कैकेयी के प्रति सभी अयोध्यावासियों की दुर्भावना हो गयी थी, जब कि भगवान् राम ने अपने मुख से कहा था कि जो कैकेयी में दुर्भावना लायेगा, वह मेरा स्वजन नहीं है और विलक्षणता यह कि अयोध्या में उस समय एक भी मायिक जीव नहीं था।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य नहिं काहुहिं व्यापा॥

त्रिताप किसी को व्याप्त नहीं हुआ, अपरंच—

जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ वेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥

सभी मायातीत जीव थे। भरतजी का कैकेयी के प्रति जो शब्द प्रयोग हुआ था, वह भी सर्वविदित है। इतना ही नहीं, माता कैकेयी की भरतजी महाराज हत्या कर देने का एलान कर रहे हैं, बशर्ते कि उन्हें कोई विश्वास दिला दे कि इस कृत्य से भगवान् राम उनका परित्याग नहीं करेंगे—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मे धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥

(वा. रा.)

अब कृष्णावतार के महापुरुषों पर विचार कीजिये, जिन ब्रजगोपों एवं गोपियों के विषय में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(भाग. 10-14-30)

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(भाग. 10-14-32)

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(भाग. 10-14-34)

अर्थात् इन गोपों एवं गोपियों की चरणधूलि पाने के लिए यदि मैं ब्रज में पक्षी आदि हो जाता तो भी अपना भूरिभाग्य मानता। मैंने इनकी चरणधूलि पाने के लिये साठ हजार वर्ष तप किया, फिर भी नहीं पा सका।

षष्ठिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नंदगोपब्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये॥
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः॥

(वृहद्वामन पुराण)

उन गोपों एवं गोपियों के सन्तानोत्पत्ति हो रही है। भला सोचिये, कामरहित महापुरुष से रज-वीर्य द्वारा सन्तानोत्पत्ति कैसे होगी? आप हैरान हो गये होंगे। गीता-ज्ञानी-महापुरुष अर्जुन की नाग-कन्यादिकों में आसक्ति हो रही है, इतना ही नहीं, पुत्रोत्पत्ति भी हो रही है। पाण्डवों का इतिहास कितना आश्चर्यजनक है कि पाँच पाण्डव पाँच पिता से हुए अर्थात् इन्द्र से अर्जुन, वायु से भीम, अश्विनीकुमारों से नकुल और सहदेव एवं धर्मराज से युधिष्ठिर। पुनः इन पाँचों ने एक द्रौपदी को स्वीकार किया, उसे अपनी स्त्री बना लिया। इतना ही नहीं, भीमसेन ने राक्षसी हिडिम्बा से सम्बन्ध किया और घटोत्कच पुत्र हुआ। अच्छा, जरा अर्जुन के इतिहास पर विचार कीजिये। बनवास के पश्चात् जब महाभारत का युद्ध होने जा रहा था, अर्जुन एवं दुर्योधन दोनों ही द्वारिका में भगवान् के पास गये। दोनों के प्रसादनार्थ भगवान् ने शर्त रख दी कि एक ओर मैं निःशस्त्र रहूँगा एवं दूसरी ओर 18 अक्षौहिणी सेना सशस्त्र रहेगी, आप लोग चुन लीजिये। उस समय अर्जुन ने शस्त्रहीन श्रीकृष्ण को स्वीकार किया। जरा सोचिये कि यदि अर्जुन यह न जानते होते कि श्रीकृष्ण

भगवान् हैं तो लड़ाई के मैदान में क्या उनकी पूजा करनी थी जो श्रीकृष्ण को चुन लेते ? यानी पहले ज्ञान था, पश्चात् रणक्षेत्र में यह अज्ञान आ गया कि हम गुरुजनों को कैसे मारें, जबकि यह पूर्व में ही ज्ञात था कि हमारे शत्रु अमुक-अमुक हैं, पश्चात् गीता ज्ञान हुआ, जब कि इन सब कार्यों के पूर्व ही नर रूप में पूर्व जन्म में ही महापुरुष हो चुका था।

उपर्युक्त सभी महापुरुषों के बहिरंग व्यवहार संसारी व्यक्ति की ही भाँति हैं, जबकि वे मायातीत, निर्ग्रन्थ महापुरुष हैं। एक साधारण व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि मायातीत महापुरुष मायिक कार्य कैसे कर सकता है। वह यह तो समझता है कि महापुरुष शुभ कर्म कर सकता है किन्तु यह नहीं समझ पाता कि अशुभ कर्म भी कर सकता है।

वास्तव में, महापुरुष उसे कहते हैं जो कुछ न कर सके, न शुभ कर्म कर सके, न अशुभ कर्म कर सके। यदि एक भी कर्म एक क्षण के लिये भी कर सकता है तो वह महापुरुष ही नहीं हो सकता। गीतोक्ति के अनुसार—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता 3-17)

अर्थात् जो महापुरुष हो जाता है, उसके कार्य समाप्त हो जाते हैं। जैसे अंकुर उत्पन्न होने पर बीज समाप्त हो जाता है, फल उत्पन्न होने पर फूल समाप्त हो जाता है, वैसे ही कृत-कृत्य महापुरुष हो जाने पर कृत्य समाप्त हो जाते हैं। जैसे-जैसे ईश्वर की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शुभाशुभ कर्म समाप्त होते जाते हैं एवं जब पूर्णतया ईश्वर के पास पहुँच जाता है तो समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। यों समझिये कि गर्भिणी माता जैसे प्रतिमास कार्य कम करती जाती है एवं प्रसूति के समय सब कर्म बंद हो जाते हैं।

मीमांसादि दर्शन–शास्त्रों का इतना कार्य है कि ये ईश्वर से मिला दें। पश्चात् वे शास्त्र–वेद वापस लौट आते हैं। फिर महापुरुष उनका दास नहीं रहता। मीमांसा–शास्त्र–विहित निष्काम कर्म करके अन्तःकरण शुद्धि हो जाती है, पश्चात् वेदान्त का श्रवण करता है, पश्चात् न्याय, वैशेषिक शास्त्रों से मनन करता है, पश्चात् सांख्य एवं योग दर्शनों से निदिध्यासन करता है, पश्चात् भगवत्प्राप्ति हो जाती है। पुनः शास्त्रों का कर्म अपेक्षित नहीं होता। कुछ महापुरुष लोक–आदर्श के लिये शुभ कर्म करते दिखाई पड़ते हैं एवं कुछ उच्छृंखल से दिखाई पड़ते हैं, जो अभी स्पष्ट हो जायेगा।

अब आप यह समझ गये होंगे कि महापुरुष क्यों कुछ कर्म नहीं कर सकता। स्थूल बुद्धि से भी यह समझ में आ सकता है कि कर्म का जो अन्तिम लक्ष्य है, उसके पा लेने पर कर्म स्वयं निवृत्त हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि कोई भी व्यक्ति यदि शुभाशुभ कर्म करे तो बंधन हो जाता है, तो फिर भला कृतार्थ हो जाने पर पुनः कर्म कैसे करे और क्यों करे?

तीसरी बात यह कि जैसा मैंने पूर्व में बताया था, ईश्वर माया का प्रेरक है, माया जीव की प्रेरक है, जीव बुद्धि का प्रेरक है। बुद्धि मन की प्रेरक है, मन इन्द्रियों के विषयों का प्रेरक है एवं इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों के प्रेरक हैं। जब जीव एवं ईश्वर का मिलन हो जाता है तब उन दोनों के मध्य में रहने वाली माया पृथक् हो जाती है, अब ईश्वर डायरेक्ट (direct) जीव का प्रेरक हो जाता है एवं जीव बुद्धि आदि का हो जाता है। जब जीव जो कुछ करता दिखाई पड़ता है वह ईश्वरीय प्रेरणा का परिणाम–मात्र है। जीव का परमानन्द–प्राप्ति पर्यन्त ही स्वार्थ था, जब वह पूरा हो गया तो फिर उसे अब क्या करना है? यही कारण है कि प्रत्येक महापुरुष के कार्य ईश्वरीय होने के कारण

वन्दनीय हैं। अब ईश्वर कोई शुभ या अशुभ कर्म उससे क्यों कराता है, इसका प्रयोजन वह जाने।

देखो अगर मोटर से किसी का एक्सीडेन्ट (accident) हो जाता है तो मोटर को दोषी कोई नहीं ठहराता, क्योंकि मोटर तो स्वयं चलती ही नहीं, वह तो जड़ वस्तु है, उसका चालक ही दोषी है। अतएव उसी को दण्ड मिलता है। उसी प्रकार जब तक जीव शरणागत नहीं हुआ था तब तक स्वयं कर्म का कर्त्ता था, जब शरणागत हो गया तो कर्त्ता नहीं रहा। वास्तव में, कुछ न करना ही तो शरणागति करना होता है। अब महापुरुष तो मोटर के समान जड़ सा हो गया। अब तो—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता 9-22)

इस गीतोक्ति के अनुसार उसके संचालक (योगक्षेम-वहनकर्ता) स्वयं ईश्वर हो जाते हैं अतएव उनके द्वारा कर्म कराया जाता है। महापुरुष तो एक मशीन की तरह शरणागत-मात्र रह कर ब्रह्म की गोद में निर्भयतापूर्वक आनन्दरस का पान करता है।

चौथी बात यह भी है कि कर्म तो इच्छायुक्त हुआ करते हैं। काम या इच्छा के बिना कर्म का स्वरूप ही नहीं बनता। जब महापुरुष पूर्णकाम हो गया तो काम अर्थात् इच्छा ही समाप्त हो गयी, तब कर्म कैसे करेगा, आप लोग जो यह वाक्य सुना करते हैं कि—

'जो करै सो हरि करै'

इसका यही आशय है कि जब तक हम करते हैं तब तक हरि हमारा कर्म नहीं करते एवं तभी तक हम फल भी भोगते हैं। जब हम शरणागत हो जाते

हैं अर्थात् कुछ नहीं करते हैं तब वे ही सब कुछ करते हैं। वैसे तो ईश्वर समदर्शी साक्षी बन कर सभी जीवों के कर्मों को नोट करता है किन्तु कर्म का फल मात्र ही देता है और जब जीव शरणागत हो जाता है तब तो भगवान् कृपालु बन जाता है एवं उसमें पूर्णतया संचालक बन कर निवास करता है। बस, उसी सौभाग्यशाली क्षण से जीव सदा के लिये कामनाओं एवं तत्सम्बन्धी कर्मों से अवकाश प्राप्त कर लेता है। इसी आशय से गीता में कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता 9-29)

और चूँकि शरणागत कुछ करता ही नहीं, शरणागत मात्र रहता है इसलिए भगवान् बड़े दावे के साथ कहते हैं कि—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

(गीता 9-31)

अर्थात् अर्जुन! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरे भक्त का पतन नहीं हो सकता। पतन या उत्थान का प्रश्न तो तब पैदा हो जब पतन या उत्थान सम्बन्धी कुछ कर्म करे। वह तो अकर्ता हो गया।

इसके अतिरिक्त महापुरुष के पास ईश्वरीय शक्तियाँ होती हैं, भले ही उनका वह सर्वत्र, सर्वदा उपयोग न करे। उन शक्तियों के द्वारा ही वह मायिक कार्य करता हुआ अमायिक रहता है। देखिये, जेल में खड़े तीन व्यक्तियों को देखकर एक व्यक्ति ने प्रथम व्यक्ति से पूछा, आप यहाँ कैसे आये? उसने कहा महाशयजी, जेल है, आप नहीं जानते कि यहाँ अपराधी अपराध का दण्ड भुगतने आते हैं? अर्थात् मैं अपराधी कैदी हूँ।

यह सुनकर उसने तीनों के विषय में निश्चय कर लिया। किन्तु , यह निश्चय तब गलत सिद्ध हो गया जब उसे यह ज्ञात हुआ कि एक सरकारी कर्मचारी जेलर है एवं एक स्वयं राजा है। यह सरकारी कर्मचारी जेलर कैदियों की देखभाल एवं सुधार का कार्य करता है तथा राजा भी यही कार्य करता है। जब कोई गंभीर समस्या आती है, तब राजा स्वयं जाया करता है, सर्वदा तो कर्मचारी ही रहते हैं।

ये सरकारी कर्मचारी ही महापुरुष हैं जो कृतकृत्य होने पर अन्य जीवों को कृतकृत्य कराने के निमित्त इस संसार में रहते हैं, अवतार ले लेकर आया करते हैं, भले ही कैदी अर्थात् मायाबद्ध जीव उन्हें गालियाँ दिया करें। वह राजा ही स्वयं भगवान् हैं जो गंभीर परिस्थितियों में जगत् कल्याण के निमित्त युग-युग में अवतार लेकर आते हैं।

उपर्युक्त तीनों ही व्यक्ति संसार की जेल में दीखते हैं एवं तीनों के कर्म एक से दीखते हैं, किन्त तीनों में महान् अन्तर है। एक मायाधीन कैदी है, एक मायातीत महापुरुष सरकारी कर्मचारी है, एक मायाधीश सम्राट स्वयं भगवान् हैं। अतएव सबके कर्म एक प्रकार के होते हुए भी उनमें महान अन्तर है। मायाधीन जीव माया के आधीन होकर कर्म करता है। मायातीत महापुरुष कुछ नहीं करता, उसके कार्य योगमाया के द्वारा स्वयं ईश्वर कराता है एवं मायाधीश भगवान् स्वयं योगमाया से कार्य करता है, जो देखने में मायिक होता है किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप दिव्य होता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता 4-9)

भक्त हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप।
किये चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

(रामायण)

अब आप समझ गये होंगे कि कर्मों में क्या अन्तर है।

इसके अतिरिक्त यह भी जान लेना चाहिये कि महापुरुष जिस क्षण में महापुरुष बनता है, उसी क्षण में प्रथम उसे दिव्य शक्ति स्वयं ईश्वर प्रदान कर देता है। गीता के अनुसार—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता 10-10)

इसी बुद्धियोग को पाकर जीव भगवान् को देख सकता है। इतना ही नहीं, असीम शक्ति ईश्वर न दे तो ईश्वरीय अनन्त आनन्द को मानव सहन भी नहीं कर सकता। अरे, ईश्वरीय आनन्द तो दूर की बात है, अगर स्वर्गीय आनन्द भी किसी मृत्युलोकीय जीव को सहसा मिल जाय तो वह मर जायगा। फिर अनन्त आनन्द को सहन करने की शक्ति प्राकृत सान्त इन्द्रिय मन-बुद्धि में कहाँ है ? अतएव दिव्य-शक्ति-प्राप्त महापुरुष के सभी कर्म दिव्य ही होंगे। इसमें सन्देह का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

यदि कोई कहे कि ईश्वर गलत कार्य क्यों कराता है तो यह प्रश्न ही भोलेपन का है, क्योंकि जब ईश्वर का कोई स्वार्थ नहीं अतएव किसी से रागद्वेष नहीं, पुनः सदा आनन्दमय है, सर्वज्ञ है, तब उसका प्रयोजन केवल परोपकार ही हो सकता है। उसकी किसी क्रिया का कारण जीव-कल्याण ही है, हम भले ही उसके कार्यों को सीमित बुद्धि के कारण न समझ सकें।

यदि कोई दावा करे कि ईश्वरीय कार्यों को हम क्यों नहीं समझ सकते तो इसका उत्तर मैं ईश्वर के प्रकरण में समझा चुका हूँ। ईश्वर दिव्य है, हम मायिक हैं; ईश्वर असीम है, हम ससीम हैं; ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, हम अशक्त

हैं; ईश्वर प्रेरक है, हम प्रेर्य हैं; ईश्वर प्रकाशक है, हम प्रकाश्य हैं; ईश्वर मायाधीश है, हम मायाधीन हैं। भावार्थ यह कि ईश्वर या उसके कार्य हमारी प्राकृत सीमित सदोष इन्द्रिय-मन-बुद्धि में नहीं आ सकते। उसी से सम्बद्ध महापुरुष है, अतएव उसके भी कार्य ईश्वरीय होने के कारण हमारी समझ में नहीं आ सकते। अस्तु, इतना तो समझ ही गये होंगे कि भले ही वह समझ में न आये परन्तु दिव्य एवं सत्य ही है। ईश्वर या महापुरुष की बात जाने दीजिये, मैं आपको संसारी क्षेत्र में ही बताऊँ कि ६ वर्ष का भोला बालक अपनी माँ एवं बाप से पूछता है कि मैं किसका लड़का हूँ ? दोनों कहते हैं कि हमारे लड़के हो। लड़का सोचता है कि इन दोनों में कोई न कोई अवश्य झूठा है। पुनः अपने अन्य गुरुजनों से पूछता है। सब कहते हैं कि तुम अपने माँ-बाप दोनों के बेटे हो। जब लड़का पूछता है कि यह कैसे हो सकता है तब कोई भी समझाने में समर्थ नहीं हो पाता क्योंकि लड़का काम दोष से अपरिचित है। पश्चात् वह लड़का कई लड़कों की मीटिंग करता है और कहता है कि इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं दे पाया और यह बहाना किया गया कि तुम अभी नहीं समझ सकते। क्यों बच्चों! मेरी राय में तो यह सब धोखे की बातें हैं न ? भला हम लोग क्यों नहीं समझ सकते ? सब बातें तो समझ लेते हैं। वास्तव में या तो हम माँ के पुत्र होंगे या बाप के, बस।

अब सोचिये जब काम दोष से अपरिचित बालक को काम सम्बन्धी विषय का ज्ञान कराना महत्तम बुद्धिमान् के लिए भी सर्वथा असम्भव है, तो फिर कामादि दोष से युक्त व्यक्ति को कामादि से परे वाले एवं दिव्य ईश्वरीय शक्ति वाले कार्यों को समझाना कैसे सम्भव हो सकता है, भले ही वह भोले बालक की भाँति यह कह दे कि भला हम क्यों नहीं समझ सकते, समझाना ही नहीं आता, सब धोखा है, हम कभी भी नहीं मानेंगे, इत्यादि।

अब मैं आपको अन्य धर्मावलम्बियों के सिद्धान्त बताता हूँ। मौलाना जलालुद्दीन रूमी एक बहुत बड़े मुस्लिम फकीर हो गये हैं। उन्होंने अपनी मसनबी (भाग 1 कथा 12) ग्रंथ में लिखा है कि फकीरों के लिए कयामत के दिन कारनामों की किताब नहीं देखी जाती अर्थात् उनके द्वारा हुए शुभाशुभ कर्म नहीं देखे जाते क्योंकि वे कुछ करते ही नहीं हैं, केवल कर्म दिखायी पड़ते हैं। पुनः आर०ए० निकल्सन, 'इस्लाम के रहस्यवाद' के लेखक ने अपने (दीवाने शम्से तब्रीज) ग्रन्थ में लिखा है कि फकीर की खुदा से एकता हो जाने के कारण उसके द्वारा सम्पादित कार्य उसके नहीं होते, वे कार्य तो खुदाई होते हैं अर्थात् ईश्वर करता है अतएव वे उस झगड़े से पृथक् हैं।

भावार्थ यह निकला कि भीतर से महापुरुष होते हुए भी उनके द्वारा प्राकृत कार्य दीखते हैं जैसा कि पूर्वपक्ष में शंकरादिकों के विषय में बताया। किन्तु एक बात ध्यान में रखने की है कि पूर्वपक्ष में रखे गये समस्त महापुरुष अवतारी महापुरुष हैं। अवतारी महापुरुषों के कार्य तो ईश्वर के द्वारा होते ही हैं, साथ ही स्पष्ट कर दिये जाते हैं। ये लोक में माया का कार्य अभिनय रूप से इसलिये करते हैं कि जीव उससे शिक्षा ले एवं अनधिकारचेष्टा द्वारा ईश्वरीय कार्यों में मायिक-बुद्धि लगाकर ईश्वर से विमुख न हो जाय। देखिये, जिन पार्वतीजी को माया लगी बताया गया है, उन्हीं के विषय में शंकरजी स्पष्ट कहते हैं—

राम कृपा से पारवति सपनेहुँ तव मन माहिं।
शोक मोह सन्देह भ्रम मम विचार कछु नाहिं॥
तदपि अशंका कीन्हेउ जोई। कहत सुनत सब कर हित होई॥

अर्थात् पार्वतीजी! तुम्हें न शंका है, न माया है, न अज्ञान ही आ सकता है, किन्तु फिर भी जो तुमने शंका का नाटक किया है उसका अभिप्राय केवल

यह है कि जीव सावधान हो जायें एवं ईश्वरीय अचिन्त्य कार्यों में प्राकृत तर्क द्वारा अपना सर्वनाश न करें।

पुनश्च, जब गरुड़जी कागभुशुंडि के पास गये तो प्रथम कागभुशुंडि ने भी यही कहा कि—

तुम्हहिं न संशय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्ह तुम दाया।

अर्थात् तुम्हें न शंका है, न अज्ञान है, न माया है, मेरे ऊपर कृपा करने आये हो। पश्चात् भी इसी प्रकार की बात कही है, समस्त प्रकरणों में उसको पढ़ लेना।

जैसे पिक्चर में कई एक्टर (actor) एवं एक्ट्रेस (actress) पार्ट (part) करने वाले होते हैं तब पिक्चर बनती है, वैसे ही जब भगवान् अवतार लेकर लीला करने आते हैं तो उनके परिकर भी आते हैं एवं शंका तथा समाधान दोनों पक्षों का अभिनय जीव-कल्याणार्थ करते हैं, जिसे भगवत्कृपा-पात्र जीव ही समझ पाते हैं।

इन महापुरुषों की बात छोड़िये, हम आपको एक साधारण संसार की बात बताते हैं। देखिये, किसी सुन्दरी षोडशवर्षीय किशोरी के साथ एक पुरुष वर्षों रहे एवं वे दोनों ही एक ही मकान मे रहें तो क्या यह सम्भव है कि एक दूसरे के प्रति काम-भाव न व्याप्त हो? जबकि न उस पुरुष के स्त्री हो एवं न उस स्त्री के पति हो और न आगे ही होने की संभावना हो। आप कहेंगे, यह असंभव है। पर मैं कहता हूँ यह आप सब लोग करते हैं। आप हैरान होंगे, पर देखिये यदि यह रहस्य बता दिया जाय कि वह पुरुष पिता है, उसकी स्त्री मर चुकी है और वह 40 वर्ष का हो चुका है, वह विवाह नहीं करना चाहता एवं उसी की पुत्री वह सुन्दरी है जिसका पति विवाह होने के बाद ही मर गया है। हिन्दू धर्म के अनुसार वह भी विवाह नहीं करना चाहती। किन्तु उन दोनों

का परस्पर स्त्री–पति–भाव मन से भी नहीं होता। भले ही वह लड़की किसी पड़ोसी के लड़के का चिन्तन करे एवं पिता किसी नौकरानी का चिन्तन करे। यह सब कैसे हुआ ? सोचिये, कामदोष–युक्त पिता एवं पुत्री जब परस्पर काम रहित हैं, तब कामादि रहित महापुरुष आदि का प्रश्न ही पृथक् है।

अब कर्म पर विचार कीजिये। एक सुन्दरी स्त्री को जोर से चिपटाने पर पति कामासक्त हो गया। पिता ने भी जोर से विदाई के समय पुत्री को चिपटाया, पर वह नहीं हुआ। अब सोचिये, क्रिया एक है पर परिणाम भिन्न–भिन्न हैं। जब इस प्रकार एक संसारी जीव भी चिन्तन–शक्ति के द्वारा कर सकता है तो दिव्यशक्ति वालों के लिए क्या असम्भव है।

अब साधकों के सिद्धान्त से समझिये। एक कर्मयोगी साधक क्रिया करता हुआ भी गीतोक्त अर्जुन की भाँति अकर्ता रहता है अर्थात् आसक्तिरहित कर्म का कोई फल नहीं भोगना पड़ता। यद्यपि देखने में हत्याएं कर रहा है, फिर भी अर्जुन को कोई दंड विधान नहीं है। फाँसी पर चढ़ाने वाला जल्लाद राग–द्वेष–रहित है अतएव उसे न अशान्ति होती है, न क्रोध आता है, न दुःखी होता है। यह और भी नीचे के दर्जे का उदाहरण है।

इस प्रकार जब कर्मयोगी की रीति से किये हुए कर्मों से ही कर्त्ता को कर्मफल नहीं भोगना पड़ता, वह अकर्त्ता ही माना जाता है, तब फिर कृतकृत्य एवं ईश्वर के द्वारा कराये हुए कर्म का कर्त्ता महापुरुष कैसे हो सकता है ? यदि सरकारी कर्मचारी सरकार की आज्ञानुसार किसी डकैत को मार डालता है तो उसे पुरस्कार मिलता है, दंड नहीं मिलता क्योंकि उसका वह कार्य ही नहीं है, वह तो सरकारी कार्य है और सरकारी कार्य करने का उसका लक्ष्य है। अतः फिर कृतकृत्य एवं ईश्वर के द्वारा कराये हुए कर्म का कर्ता महापुरुष कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

इतना अवश्य जान लेना चाहिये कि कामादि दोषों के रहते हुए कामादि दोष सम्बन्धी कर्म का अभिनय नहीं हो सकता। और यदि होता भी है तो किसी सीमा तक ही हो सकता है, किन्तु कामादि से परे महापुरुषों के अभिनय पूर्णतया दिव्य शक्ति से हो सकते हैं।

यदि महापुरुष अपनी स्थिति में ही रहे, अभिनय के शुभाशुभ कर्म कुछ भी न करे तो आपके समक्ष ही न आवे, आपका मार्ग–प्रदर्शन भी न करे एवं आपका कल्याण भी न हो। अतएव नित्यानन्दमय एवं नित्य ईश्वर से ऐक्य रखते हुए भी, बहिरंग जगत् के कल्याणार्थ कोई ग्रन्थ लिखता है, तो कोई उपदेश करता है, कोई प्रह्लाद आदि के समान हजारों वर्ष समस्त भूमंडल का राज्य करता है। किन्तु , इन कार्यों से उसकी पूर्णता में कोई बाधा नहीं होती क्योंकि वे कार्य ईश्वरीय होते हैं।

आप यह आपत्ति कर सकते हैं कि महापुरुष एवं भगवान् को धर्म विपरीत कर्म नहीं करना चाहिए क्योंकि '**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' *(महाभारत)* के अनुसार जीव तो उसी का अनुकरण करेंगे और परिणामस्वरूप उनका सर्वनाश हो जायगा। किन्तु यह कहना भोलापन है। ऐसा ही प्रश्न परीक्षित ने श्रीकृष्ण के बारे में किया था। थोड़ा इस विषय पर विचार कर लीजिये कि महाजनों का अनुकरण करना चाहिये या नहीं और यदि नहीं तो क्यों। और फिर किसका अनुकरण करना चाहिये, इत्यादि। वेद कहता है —

यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि।

(तैत्तिरीयो. 1–11)

अर्थात् हमारे सुचरित ही आचरण में लाने चाहिए। साथ ही वेद पुनः कहता है, **नो इतराणि** अन्य नहीं करने चाहिए। शुकदेव परमहंस परीक्षित को इसका कारण बताते हैं—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥

(भाग. 10-33-30)

अर्थात् समर्थ पुरुषों के इतिहास में धर्मविरुद्ध आचरण देखा गया है किन्तु वह आचरण समर्थ होने के कारण अर्थात् ईश्वरीय होने के कारण दोषकारक नहीं है। जैसे, अग्नि को सब कुछ ग्रहण करने का अधिकार है, वह सर्वभुक् है, किन्तु अन्य को वह अधिकार नहीं। पुनः शुकदवे जी कहते हैं —

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम्॥

(भाग. 10-33-31)

यदि कोई अनधिकार चेष्टापूर्वक मन से भी उन महापुरुषों में दिखने वाले दुश्चरितों का आचरण करेगा तो उसका सर्वनाश हो जायगा। अतएव सबके लिये सब आचरण अनुकरणीय नहीं हैं। भगवान् शंकर हलाहल विष पी गये, वे नीलकंठ की उपाधि से विभूषित हुए एवं विशिष्ट सौंदर्य से सुशोभित हो गये किन्तु कोई नकल करके 2 तोले अफीम भी खा लेगा तो एक ही रिहर्सल (rehearsal) में महाप्रयाण करना पड़ेगा। पुनः शुकदेव परमहंस कहते हैं—

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

(भाग. 10-33-32)

अर्थात् महापुरुष के उपदेश माननीय हैं, आचरण तो वे ही माननीय हैं जो हमारी कक्षा के ही हैं। अपनी कक्षा से परे के आचरण हमारा पतन कर देंगे। पुनः शुकदेव जी कहते हैं—

कु शलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो॥

(भाग. 10-33-33)

अर्थात् शुभ कर्म करने का महापुरुषों का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे कृतकृत्य हो चुके हैं एवं अशुभकर्म से उनका अनर्थ भी नहीं होगा क्योंकि उनकी वासनायें समाप्त हो चुकी हैं। वे तो परार्थ की भावना से ही सब कुछ करते हैं। पुनः शुकदेव जी ने समझाया कि—

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः॥

(भाग. 10-33-35)

अर्थात् जिनके चरण कमलों की रज का सेवन करके भक्तजन तृप्त हो जाते हैं, जिनके साथ योग प्राप्त करके उसके प्रभाव से योगीजन सारे कर्मबन्धन काट डालते हैं, विचारशील ज्ञानीजन जिनके तत्त्व का विचार करके तत्स्वरूप हो जाते हैं, उन्हीं भक्तों की इच्छा से भगवान् अपना चिन्मय श्री विग्रह प्रकट करते हैं। तब भला उन भगवान् में कर्मबन्धन की कल्पना कैसे हो सकती है ? अर्थात् जब योगीजन एवं भक्त ही आसक्ति रहित कर्म करते हैं एवं उनके फल से पृथक् रहते हैं तो ईश्वर के लिए तो प्रश्न ही व्यर्थ है। अरे, संसार में भी प्रत्येक कर्म का फल भावना से सम्बन्ध रखता है। किसी ने किसी का खून कर दिया तब तो फाँसी होगी किन्तु यदि किसी से किसी का खून हो गया तो फाँसी नहीं होगी अर्थात् यदि यह सिद्ध हो जाय कि इसकी मंशा खून करने की नहीं थी, यह तो अचानक हो गया तो उसे फाँसी नहीं दी जाती, फिर वहाँ की तो बात ही और है क्योंकि ईश्वर ही कर्ता बन जाता है।

अब आप समझ गये होंगे कि महाजनों का अनुकरण करना गलत है। महापुरुषों एवं भगवान् ने तो सभी कक्षा के विद्यार्थियों के लिए आदर्श रखा

है, साथ ही यह सूचना भी दे दी गयी है कि विद्यार्थी अपनी कक्षा के विषय का ही अनुकरण करे। योगारुरुक्षु–जीव अर्थात् साधकों के लिए पृथक् आदर्श है एवं योगारूढ़ अर्थात् सिद्धों का पृथक् आदर्श है। साधकों में भी अनेक दर्जे हैं, उनके अनुसार ही अनुकरण करना होगा।

पुनः '**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' का अर्थ भी तो यही है कि महाजन लोग जिस मार्ग से गये हैं उस मार्ग का अनुकरण करना है; वे जहाँ पहुँच चुके हैं उस स्थान या दर्जे का अनुकरण नहीं करना है। कल्पना कीजिये एक विद्यार्थी ने प्रोफेसर की नकल की – उसकी कुर्सी पर बैठ गया और प्रोफेसर से डाँट कर कहा 'नीचे बैठ जाओ।' मान लिया कि प्रोफेसर ने भी बात मान ली। इतनी नकल तो विद्यार्थी ने कर ली। लेकिन जब डी०लिट्० प्रोफेसर ने प्रश्न किया तब विद्यार्थी सिर नीचा करके सिर खुजलाने लगा। नकल तो तभी हो सकती है जब उस क्लास की योग्यता हो।

एक नट 100 फुट की ऊँचाई पर रस्सी बाँध कर चलता है। सब देख रहे हैं। किन्तु यदि भोलेपन में कोई पहलवान यह सोचे कि जब यह दुबला पतला नट चल सकता है तो मैं क्यों नहीं चल सकता और ऐसा सोचकर 100 फुट की ऊँचाई पर रस्सी बाँध कर चलने लगे तो परिणाम आप लोग सोच ही सकते हैं कि कितना भयंकर होगा। नट ने यह दिखाया है कि आप लोग भी ऐसा कर सकते हैं किन्तु यह नहीं कहा कि अभी जाकर करने लगिये। यदि कोई नटवत् कार्य करना चाहे तो उसे नट द्वारा यह समझना होगा कि उसने अभ्यास कहाँ से प्रारम्भ किया था और कैसे–कैसे एवं कितने दिनों में वह इस प्रकार कर पाया है। यह सही नकल है।

अतएव संसारी व्यक्ति जब संसारी उच्च दर्जों की नकल करने में ही असमर्थ है और यदि करता है तो दुष्परिणाम भोगना पड़ता है तो फिर

अचिन्त्य, अलौकिक–शक्ति–सम्पन्न महापुरुष एवं भगवान् की नकल करने पर कितना बड़ा दुष्परिणाम हो सकता है, यह आप लोग सोच सकते हैं।

किसी महापुरुष को पहिचानने में एक बात का प्रमुख दृष्टिकोण यह रखना चाहिए कि किसी से सुनकर किसी को महापुरुष न मान लें, अपितु स्वयं देखभाल कर एवं समझकर उसे स्वीकार करना चाहिए क्योंकि मान लीजिये किसी के कहने से किसी को आपने महापुरुष मान लिया और जब कहने वाला पुनः यह कहने लगा कि मैंने तो देख लिया वह नम्बरी बदमाश है तो बस आप भी उसी की हाँ में हाँ मिलाकर उससे वंचित रह जायेंगे।

यह तो आप लोग जानते ही हैं कि महापुरुषों को मानने का विश्व में 90 प्रतिशत लोगों का अभिप्राय इतना ही है कि उनसे हमारे धन–पुत्रादि स्वार्थों की सिद्धि हो। कल्पना कीजिये, किसी महापुरुष के घर आते ही किसी का सांसारिक बड़ा लाभ हुआ तो वह पराकाष्ठा की प्रशंसाएं करने लगा – 'अरे! वह तो अवतारी महापुरुष है, साक्षात् भगवान् का अवतार है' और आपने भी उसे वैसा ही मान लिया। दूसरी बार महापुरुष के आने पर कर्मानुसार स्वार्थहानि हो गयी, बस श्रद्धा समाप्त। अब वही भगवान् मानने वाला महापुरुष को इंसान भी मानने को तैयार नहीं जबकि महापुरुष को कुछ पता ही नहीं कि इसने पहले भगवान् माना फिर शैतान माना। स्वार्थ सिद्धि एवं स्वार्थ–हानि के आधार पर इसी प्रकार लोग वास्तविक महापुरुषों को व्यर्थ में बदनाम करते हैं कि वह अपने आपको भगवान् कहता है। महापुरुष तो अपने आपको '**मो सम कौन कुटिल खल कामी**' ही कह रहा था किन्तु स्वार्थ–हानि में उसे उपर्युक्त प्रकार से बदनाम किया जाता है, मिथ्या लांछन लगाये जाते हैं और इसी कारण वह स्वयं भी नामापराध कमा बैठता है एवं उसकी बात को मानने वाला भी तदनुसार नामापराध करने लगता है। पाना तो दूर रहा

गंवाना ही हाथ लगता है। संसार इतना विलक्षण है कि किसी की कही हुई बुरी बात तो वह तत्क्षण मान लेता है एवं अच्छी बात मानने में नाक भौं सिकोड़ता है।

अतएव किसी से सुनकर किसी को महापुरुष न मानना चाहिये, भले ही उसे पहिचानने एवं महापुरुष मानने में हमारा पूरा जीवन समाप्त हो जाय। क्योंकि '**देर आयद दुरुस्त आयद**' के अनुसार देर में ही क्यों न हो किन्तु कार्य सही हो, अन्यथा नामापराध और कमा बैठेंगे।

कितना बड़ा आश्चर्य है कि जो पुरुष या स्त्री दिन-रात दो-दो पैसे के लिए झूठ बोल सकता है उसकी बात सुनने मात्र से लोग मान लेते हैं।

महापुरुष के पहिचानने में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए

महापुरुष का प्रायः तीन प्रकार का स्वभाव होता है - (1) बालवत् (2) उन्मत्तवत् (3) पिशाचवत्। बालवत् अर्थात् ऐसा महापुरुष भोले बालक की भाँति सरल हृदय वाला होता है। उसे स्पष्ट व्यवहार एवं स्पष्ट वक्तृता प्रिय होती है। उसे कोई गाली देता है तो भी उसका वह विचार नहीं करता, यदि कोई प्रशंसा करता है तो वह उसका भी विचार नहीं करता। बल्कि महापुरुष तो गाली देने वाले से प्रसन्न रहता है। महात्मा बुद्ध को एक बार एक व्यक्ति ने दिन भर गाली दी। तब बुद्ध जी ने कहा - 'अब इसे खिला पिला दो बेचारा थक गया होगा, कुछ शक्ति संचय कर ले तब फिर प्रारम्भ करे।' उस गाली देने वाले को बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरी इतनी गालियों का इन पर कोई असर नहीं पड़ा। तब वह बुद्ध के पास नतमस्तक होकर खड़ा हो गया। बुद्ध ने

कहा- एक बात बताओ, यदि अतिथि को तुम कोई सामान दो और वह न ले तो फिर वह सामान किसके पास रहेगा? उस व्यक्ति ने कहा कि देने वाले ही के पास रहेगा। तब बुद्ध जी ने कहा, 'तुमने इतनी गालियाँ दी और हमने ली ही नहीं तो फिर वे गालियाँ किसके पास रहेंगी और किसकी हानि करेंगी?' वह समझ गया और क्षमा माँगने लगा। गालियाँ ऐसा बीज है जो सबसे जल्दी फलता है किन्तु सन्त ऊसर भूमि के समान है जहाँ गालियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। तुलसीदास जी ने कहा—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
नित साबुन पानी बिना, उज्ज्वल करे सुभाय॥

अर्थात् निन्दक को अपने आंगन में टिका लेना चाहिये ताकि वह निन्दा के द्वारा हमारी परीक्षा लेता रहे और हमें पता चलता रहे कि हम में कितना अभिमान है। क्योंकि प्राय: आस्तिक लोग मन्दिर में भगवान् के सामने तो आँसू बहाकर यह पद गाते हैं कि '**मो सम कौन कुटिल खल कामी**' किन्तु, मंदिर के बाहर यदि कोई एक्टिंग में भी कह दे कि तुम मक्कार हो तो बस, मारपीट प्रारम्भ हो जायगी और यदि पुन: उससे कहा जाय कि तुमने तो मन्दिर में भगवान् के सामने अभी-अभी अपने को कुटिल, खल, कामी स्वीकार किया था तो कहेगा मैंने भगवान् से कहा था तुमसे तो नहीं कहा था। इसका अभिप्राय यह कि धोखा देने के लिए भगवान् ही मिला है, जब कि वह सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वसाक्षी, सर्वसुहृत्, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान् है। बलिहारी है ऐसी दीनता पर! गीता कहती है—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।

(गीता 12-19)

निन्दा स्तुति उभय सम।

किसी महापुरुष को पहिचानने में उसकी बहिरंग वेशभूषा को न देखना चाहिये। कोट पतलून में भी महापुरुष हो सकते हैं एवं रंगीन वस्त्रों में भी कालनेमि मिल सकते हैं। पुनः हमारे इतिहास से भी स्पष्ट है कि 90 प्रतिशत महापुरुष गृहस्थों में हुए हैं जिनके कपड़े रँगे नहीं थे। इस कलियुग में चूँकि लोगों ने यह निश्चय कर लिया है कि बिना कपड़ा रंगाये कोई महापुरुष नहीं हो सकता, अतएव दंभियों को इस धारणा से लाभ उठाने का मौका मिल गया है। देखो, प्रह्लाद ने हजारों वर्ष सम्राट् बन कर राज्य किया है, ध्रुव ने राज्य किया, विभीषण ने राज्य किया, सुग्रीव ने राज्य किया, जनक ने राज्य किया, अम्बरीष आदि ने भी राज्य किया। गोपियों को देखिये, जिनकी चरण धूलि ब्रह्मादिक चाहते हैं, वे पति एवं बच्चे वाली अपढ़ गँवार गृहस्थ ही थीं। कबीर, तुकाराम आदि सभी महात्मा गृहस्थ थे।

विरक्त वेश में भी सब आचार्यों के पृथक्–पृथक भेष रहे हैं। कोई गेरुआ, कोई पीला, कोई सफेद आदि। अतएव रंगीन में भी रंग बिरंगे झगड़े हैं। उन रंगों से हृदय का निश्चय न करना चाहिये क्योंकि वह तो दो पैसों का ही परिणाम हो सकता है।

महापुरुष के सिद्धान्तों को पढ़कर भी कोई अनर्गल निश्चय न करना चाहिये। सबके अपने–अपने भिन्न–भिन्न तरीके होते हैं। कोई प्राणायाम आदि को अनिवार्य कहता है क्योंकि उसने उस मार्ग से सिद्धि प्राप्त की है, कोई '**अज्ञानां प्राणपीडनम्**' आद्य शंकराचार्य की भाँति बुराई करता है, लेकिन ये दोनों ही ठीक कहते हैं। किन्तु, जब तक उसकी गहराई न समझी जाय तब तक अपराध हो सकता है।

महापुरुषों को पहिचानने में एक बात का और दृष्टिकोण रखना चाहिये कि महापुरुष संसारी वस्तु नहीं दिया करता, यह गम्भीरतया विचारणीय है।

आजकल बहुधा दंभियों ने यही मार्ग अपना लिया है कि गृहस्थियों को संसार चाहिये और वह संस्कारवश मिलता ही रहता है, इसी में हम भी सम्मिलित हो जाये और अपनी स्वार्थ-सिद्धि एवं ख्याति प्राप्त कर लें। सोचिये तो कि वह महापुरुष किसलिये है, इसलिए न कि उसने संसार को नश्वर समझ कर भगवान् को प्राप्त किया है ? यदि वह हमें संसार देता है तो वह महापुरुष है या राक्षस है ? ऐसे ही हम बेहोश हैं, उस ईश्वर को भूले हुए हैं जिसमें परमानन्द है, फिर महापुरुष वेशधारी ने संसार देने का नाटक करके हमें और गुमराह कर दिया।

महापुरुष क्या, भगवान् भी कर्म विधान के विपरीत किसी को संसार नहीं देते। उनके भी नियम हैं। नियम के विपरीत कार्य करने की उन्हें क्या आवश्यकता है ? और यदि नियम विपरीत करते हैं तो सबके लिए करना पड़ेगा ? और यदि सबके लिए भी करते हैं तो अकारण-करुण नहीं रह सकते, अपितु अकारण पर अपकारी सिद्ध होंगे।

जरा सोचिये, जिस अभिमन्यु के मामा परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवं जिसके पिता अर्जुन महापुरुष थे एवं जिसकी शादी कराने वाले वेदव्यास थे, जब तीन-तीन महाशक्तियाँ मिलकर भी उस अभिमन्यु को नहीं बचा सकीं तब हम दिन रात अपराध करते हुए, ईश्वर से विमुख रहते हुए, स्त्री पुत्रादि में आसक्त रहते हुए कैसे आशा रखते हैं कि कोई बाबा हमारे प्रारब्ध को काट देगा ? हमारा यह दुर्भाग्य है कि हम लोग भारतीय-शास्त्रों को नहीं पढ़ते अतएव इस प्रकार की महान् त्रुटियाँ करते रहते हैं। प्रतिवर्ष हमारे देश में ऐसा नाटक कहीं न कहीं विराट् रूप से होता है और लाखों की भीड़ जमा हो जाती है, केवल इसलिए कि यह बाबा असम्भव को सम्भव कर देता है। अगर ऐसी सामर्थ्य या अधिकार भगवान् या किसी महापुरुष को होता तो अनादिकाल से अब तक अनंतानन्त बार भगवान् एवं सन्तों के अवतीर्ण होने

पर यह विश्व न बना रहता। जब वे सन्त लोग गाली एवं डण्डा खाने को तैयार रहते हैं तब उन्हें यह कहने में क्या लगता है कि हे समस्त विश्व के जीवों, तुम्हारा अभी उद्धार हो जाय। बस, इतना कहने मात्र से काम बन जाय। भोले-भाले लोगों को ठगने वाले ये दम्भी हमारे देश में निर्भयतापूर्वक विचरते हैं और आप लोग भी उनकी खोज में रहते हैं। यह हमारे धर्मप्रधान देश के लिए लज्जा की बात है। यह स्मरण रहे कि **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि'**, महाभारत कहती है कि ब्रह्मानन्दी परमहंस भी उससे नहीं बच सकते तो रसगुल्लानन्दियों को यह आशा ही न करनी चाहिए कि कोई बाबा प्रारब्ध काट देगा।

आप कहेंगे कि महापुरुष तो **'पर उपकार वचन मन काया'** के अनुसार परोपकारी होता है। यदि वह परोपकार (कामना पूर्ति) करता है तो पाप की बात क्या है ? किन्तु एक तो किसी महापुरुष एवं भगवान् को ऐसा करने का अधिकार नहीं है, दूसरे यदि वह करता भी है तो उसके परिणाम पर विचार कीजिए कि वह हमारा किस प्रकार हितैषी है ?

आप कहेंगे भगवान् के सकाम-भक्त भी तो होते हैं, ऐसे ही भक्तों के भी सकाम-भक्त हो सकते हैं। हाँ, किन्तु इसमें दो बातों का विचार अनिवार्य है। प्रथम यह कि संसार से पूर्ण विरक्त एवं ईश्वर में पूर्ण शरणागत जीव के लिये ही कभी-कभी कहीं-कहीं नियम का उल्लंघन इतिहास में आता है। दूसरी बात यह है कि किसी को भगवान् या सन्त संसारी सामान किसी विशेष उद्देश्य से देते भी हैं तो साथ में ऐसी शक्ति देते हैं कि जिससे वह व्यक्ति उन वस्तुओं में आसक्त न हो सके, तब तो वे हितैषी सिद्ध हुए अन्यथा तो खतरा ही रहेगा। अतएव इतिहास प्रसिद्ध ऐसे विशिष्ट उदाहरणों को उपर्युक्त दोनों मापदण्डों में नाप लेना चाहिए।

महापुरुष सिद्धियों का चमत्कार नहीं दिखाया करता। हम लोग उन महापुरुष कहलाने वाले दम्भी राक्षसों के चंगुल में भी फँस जाते हैं जो भौतिक-सिद्धियों के चमत्कार दिखलाया करते हैं। लोगों को तो यह वाक्य याद ही होगा-'चमत्कार को नमस्कार है।' बस फिर क्या, वह चमत्कार चाहे नरक वाली गति वाला हो, चाहे और भी निम्नगति वाला हो, आप उसे स्वीकार कर लेते हैं। जैसे, किसी बाबा ने तामस-सिद्धि द्वारा दाख, छुहारा, बादाम मँगाया और आपने खाया, किन्तु आपने यह नहीं समझा कि यह कौन सी सिद्धि का परिणाम है एवं इस बाबा को मरने के बाद क्या गति मिलेगी।

हमारे यहाँ पाँच प्रकार की सिद्धियाँ प्रमुखतया होती हैं, जिनमें सबसे निम्नस्तर की सिद्धि तामस सिद्धि है। इसे भूत सिद्धि भी कहते हैं। निम्नस्तर के लोग इसे करते हैं जिसका परिणाम शास्त्र द्वारा नरक बताया गया है।

दूसरी सिद्धि राजस होती है, इससे मनुष्य की रक्षा के कार्य होते हैं। यह तामस से श्रेष्ठ किन्तु माया की ओर ही ले जाने वाली होती है। अतएव यह भी बुद्धिमान् व्यक्ति द्वारा त्याज्य है।

तीसरी सिद्धि सात्त्विक होती है। इसमें 8 सिद्धियाँ प्रमुख बतायी गयी हैं- अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि। अर्थात् सत्वगुण सम्पन्न दैवी शक्ति से मनुष्य छोटे से छोटा बन सकता है, रुई से भी हल्का बन सकता है, गायब हो सकता है, किसी के हृदय की बात जान सकता है, सूक्ष्म शरीर से उड़ सकता है, पानी में, आग में, आकाश में चल सकता है - आदि।

आप लोग ऐसे सिद्ध को भगवान् से कम न मानेंगे। किन्तु ये लोग भी संसारी मायिक सिद्धि वाले हैं। इनकी सिद्धि का परिणाम भी महान् घातक है। ये लोग कुछ दिन इन सिद्धियों का प्रयोग करते हैं पश्चात् वे समाप्त हो जाती हैं और न भी समाप्त हों तो इनसे जनता को ठगने का ही काम लिया

जा सकता है क्योंकि ऐसे लोगों में माया का पूर्ण आधिपत्य तो रहता ही है, पुनः वे उसका सदुपयोग कैसे कर सकते हैं ? ऐसे सिद्ध महान् घातक हैं, इनसे करोड़ों कोस दूर रहना चाहिये।

चौथी सिद्धि मुक्ति-रूपा महासिद्धि है। ये लोग मायातीत होते हैं। अर्थात् ब्रह्म में एकत्व प्राप्त कर लेते हैं किन्तु इनको प्रेमानन्द का रस नहीं मिलता। जैसे समुद्र में नदी घुल मिलकर अपना अस्तित्व खो देती है, वैसे ही ये लोग भी ब्रह्म में एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं। अतएव इनसे भी सावधान रहना। हमारे आचार्यों ने तो इस सिद्धि को पिशाची कहा है, यथा—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यान्न कथमभ्युदयो भवेत्॥

(भ. र. सिं.)

अर्थात् जब तक भुक्ति यानी ब्रह्मलोकपर्यन्त के ऐश्वर्य भोगों की कामना एवं मुक्ति यानी ईश्वर में एकत्व सिद्धि, ये दोनों डाकिनियाँ हृदय में स्थान जमाये रहेंगी तब तक भक्ति महादेवी का प्राकट्य नहीं हो सकता। अतएव इस महासिद्धि से भी परम चतुर लोग सावधान रहते हैं—

अस विचारि जे परम सयाने। मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने।

पाँचवी सिद्धि परमसिद्धि या प्रेमरस की उपलब्धि कहलाती है। इसमें माया से भी मुक्ति मिल जाती है, साथ ही साथ दिव्य द्वैत परम रस का आस्वादन भी होता रहता है और यह अनन्तकाल के लिये प्राप्त बना रहता है।

अब आप समझ गये होंगे कि प्रथम चारों सिद्धियों से आपको सावधान रहना है। चमत्कार को नमस्कार करना ठीक नहीं, अपितु चमत्कारियों को दूर से नमस्कार करना ठीक है, अन्यथा अपना लक्ष्य खो बैठोगे।

महापुरुष मिथ्या आशीर्वाद नहीं देता एवं शाप भी नहीं देता। आप लोग महापुरुष को शाप देने का पिटारा समझते हैं अतएव डरते हैं कि कहीं महापुरुष शाप न दे दें। यदि महापुरुष भी छिछली नदी की भाँति बाढ़युक्त होकर जनता को डुबाने लगे तो फिर उसका समुद्र-गांभीर्य ही क्या रह जायगा ? फिर जब उसके लिए '**निंदा स्तुति उभयसम**' है तो किसी को शाप क्यों देगा ? फिर जब वह जानता है कि जीव अज्ञानी है, वह अपराध न करेगा तो और क्या करेगा – '**न कश्चिन्नापराध्यति**', अर्थात् ऐसा कौन है जो अपराध तब तक न करेगा जब तक अपराध की जननी माया की परिसमाप्ति न हो जायगी, तो भला यह जानते हुए भी महापुरुष किसी पर क्रोध क्यों करेगा ? हरिदास सरीखे सन्त को गुण्डों ने इतना मारा कि वे खून से लथपथ हो गये, पुनः मरा हुआ समझ कर नदी में फेंक दिया किन्तु हरिदास ने भगवान् से यही प्रार्थना की कि ये बेचारे अज्ञानी हैं, इनका कोई अपराध नहीं अगर आप मेरी प्रार्थना स्वीकार कर सकें एवं मुझसे प्यार करते हों तो इन सब की बुद्धि शुद्ध कर दें। सोचिये, इतने आततायी के प्रति भी महापुरुष के ऐसे उद्गार हैं। महापुरुष शाप नहीं दे सकता।

यदि आप कहें, इतिहास में तो आया है, तो उसका मर्म दूसरा ही है। वह शाप लोकहिताय हुआ है और कभी-कभी, कहीं कहीं हुआ है। उसमें महापुरुष की अहित भावना निहित नहीं है। यह असम्भव है।

इसी प्रकार महापुरुष आशीर्वाद भी नहीं देता। जैसे आजकल आपके नाटकीय प्रणाम पर बाबा लोग अपना हाथ आपकी खोपड़ी पर रख कर बड़े-बड़े लम्बे आशीर्वाद देते रहते हैं और परिणाम 0/100 ही रहता है। आप भी सोचते होंगे-चलो अपना क्या बिगड़ता है। किन्तु , यह सब नासमझी की बातें हैं। इनसे सावधान रहना है। हाँ, इतना अवश्य है कि मंगलकामना सम्पूर्ण विश्व के लिये रहती है क्योंकि वह पूर्ण-काम हो चुका है।

महापुरुषों को पहिचानने का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि महापुरुष के दर्शन, सत्संगादि से ईश्वर में स्वाभाविक रूप से मन लगने लगता है। किन्तु, वह मन लगना सबका पृथक्-पृथक् दर्जे का होता है। जैसे, चुम्बक लोहे को अवश्य खींचता है किन्तु यदि लोहे में अन्य धातुओं का मिश्रण होता है तो देर में खींचता है। भावार्थ यह कि जितनी मात्रा की अन्य धातु मिली होगी उतनी ही मात्रा का खिचाव कम होगा। इसमें चुम्बक का दोष नहीं है अपितु लोहे में मिश्रण का दोष है। इसी प्रकार साधक का मन जितना निर्मल होगा, उतनी ही मात्रा में खिंच जायगा। यही कारण है कि इतिहास में महापुरुषों को देखकर एक व्यक्ति का मन तुरन्त खिंच गया, एक का देर से खिंचा, एवं एक का इतना कम खिंचा कि उसके अनुभव में ही नहीं आया और एक व्यक्ति तो उन महापुरुषों को गाली ही देता रहा। किन्तु , यह ध्यान रहे कि गाली देने वाले का भी लाभ होता ही है क्योंकि जो उसने ईश्वरीय तत्त्व की बातें सुन ली हैं वह उसके पास जमा रहती हैं, समय आने पर अर्थात् वैराग्य होने पर वह सुना हुआ तत्त्व काम में आ जावेगा।

दूसरा प्रत्यक्ष लाभ यह होता है कि साधक की जो साधना-पथ की क्रियात्मक गुत्थियाँ अर्थात् उलझनें होती हैं उन्हें वह सुलझा कर बोधगम्य करा देता है। वास्तव में, अनुभवहीन कोरे पांडित्य-मात्र से साधना का सही बोध नहीं हो सकता। पांडित्य तो प्रायः उलझाने का कार्य करता है, शंकाओ को बढ़ाता है जिससे साधक किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा बन जाता है। वह सोचता है कि यह ठीक है या वह ठीक है। बस जहाँ संशय उत्पन्न हुआ, साधना समाप्त हो जाती है। साधक का यही लक्ष्य सा बन जाता है कि शंका बना-बना कर लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त की जाय। स्वयं नष्ट हुआ ही, औरों को भी डुबाता रहता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गीता 4-40)

अतएव संशयों को समाप्त करके सही साधना पथ पर चलाने का कार्य श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष ही कर सकता है जो सबसे बड़ी समस्या है। हम लोग वाचिक रूप से बहुत पढ़ते हैं एवं सुनते हैं। किन्तु बिना शंकाओं के समाधान किये साधना नहीं कर पाते, समय-यापन मात्र करते रहते हैं।

तीसरा प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वास्तविक महापुरुष की वे क्रियात्मक अवस्थाएं जो समय-समय पर बहिरंग रूप से गोचर होती हैं, उन्हें देखकर साधक को स्वाभाविक उत्साह एवं उत्तेजना मिलती है जिससे वह अपना साधना में दृढ़ विश्वास जमा कर तेजी से आगे बढ़ता जाता है। जब साधक किसी महापुरुष में प्रत्यक्ष कोई बात देखता है तो अपने ऊपर भी विश्वास करता है कि हम भी प्राप्त कर लेंगे।

अनुमान प्रमाण के द्वारा महापुरुषों को पहिचानने का विशेष साधन है, जिसमें शब्द प्रमाण का भी सहयोग अपेक्षित है।

देखिये, महापुरुष को दिव्यप्रेम प्राप्त रहता है, वही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है। उसी के बल से भक्त लोग भगवान् को नचाया करते हैं। उस दिव्य प्रेम की झांकी कभी-कभी बाहर भी प्रकट हो जाती है। यद्यपि प्रेम छुपाने का उनका स्वभाव होता है, फिर भी वातावरण पाकर वह प्रकट हो ही जाता है। जिनके हृदय में प्रेम का समुद्र भरा है वह कब तक भीतर स्थिर बना रहेगा। वेदव्यास जी कहते हैं—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(भाग. 11-2-40)

अर्थात् प्रेमास्पद भगवान् के नाम-गुण-लीलादि के स्मरण कीर्तनादि से वह प्रेम बाहर छलक पड़ता है, जिसे हम सात्त्विकभाव के रूप में देखते हैं। सात्त्विक भाव 8 प्रकार के होते हैं—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥

(भ. र. सि.)

अर्थात् प्रेमास्पद की याद में वृक्ष के समान स्थिर समाधिस्थ हो जाना, पसीना निकलना, रोंगटे खड़े हो जाना, आवाज बदल जाना, शरीर काँपना, चेहरे का रंग बदल जाना, आँसू निकलना, मूर्च्छित हो जाना। इन बाह्य प्रकट अष्ट सात्त्विक भावों को देखकर अनुमान लगाया जाता है कि भीतर कितना अगाध प्रेम होगा। बस, भक्त पकड़ में आ जाता है। जिस प्रकार धुएँ को देखकर आग का अनुमान लगाया जाता है अर्थात् **'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः'** जहाँ-जहाँ धुंआ होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है, उसी प्रकार बाह्य प्रकट प्रेम से अंतरंग असीम प्रेम का अनुमान लगाया जाता है। फिर बार-बार उसके प्रेमास्पद का वातावरण देकर उसे पक्का कर लिया जाता है। जब वह पक्का हो जाता है कि परमहंसों को भी अप्राप्य दिव्य प्रेम इसके भीतर विद्यमान है तो बस, उस महापुरुष को महापुरुष जान लिया जाता है। फिर वह नहीं छुप सकता।

मैं आपको संसारी कामयुक्त प्रेम ही से समझा दूँ। कल्पना कीजिये कि आपकी पुत्री की किसी लड़के में आसक्ति है और आप पता लगाने में परेशान हैं। आप इधर-उधर पूछते-फिरते हैं, किन्तु यह गलत तरीका है। आप ऐसे पता लगा सकते हैं। आप बाहर से घर आइये और अपनी श्रीमती जी से कहिये-अरी ओ, सुनती हो। जब श्रीमती जी आ जायें तब अपनी लड़की से कहिए, जरा बाहर जाओ, कुछ प्राइवेट बात करनी है। बस, उस लड़की को

उस बात के सुनने की उत्कंठा हो जायगी। वह छिप कर सुनेगी। फिर आप अपनी श्रीमती जी से कहिये- अब लड़की बड़ी हो गयी है, उसका विवाह कर देना चाहिये। एक लड़का बड़ा अच्छा है, और बस, उसी लड़के का नाम बताइये जिससे लड़की का प्यार है। फिर अपनी लड़की से पीने का पानी मांगिये। वह बड़ी खुशी से उछलती हुई पानी लायेगी। बस आप यहाँ विषय को समाप्त कर दीजिये। दो दिन बाद पुनः श्रीमती जी से कहिये कि वह लड़का था न, जिसे हमने शादी के लिये सोचा था, वह अभी-अभी एक्सीडेन्ट में मर गया। फिर लड़की से पानी मांगिये, अब लड़की का चेहरा एवं चाल देखिये। बस पकड़ लेंगे।

अरे, आप लोग स्वयं अनुभव करते हैं कि किसी पति-परायणा स्त्री के पति के मरने पर लोग उसका जरा सा जिक्र कर देते हैं कि 'वे बड़े अच्छे थे' बस, स्त्री के आँसू चलने लगते हैं। जब संसारी स्वार्थमय नाटकीय प्रेम में इस प्रकार प्रेम प्रकट हो जाता है और पकड़ में आ जाता है, तब महापुरुष कितना छिपायेंगे ? जब आप पीछे पड़ जायेंगे तब पकड़ मे आ ही जायगा। बस, यह पैमाना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि प्रेम का पहिचानना सर्वसुलभ है। सब के अनुमान की बात भी है। संसारी प्रेम का अनुभव सब को है ही, बस, उसी का अनन्त गुना कर देने से अनुमान लग जाता है।

किन्तु एक बात का ध्यान रखना होगा कि किसी महापुरुष को सहसा नहीं पहिचाना जा सकता। कुछ समय की अपेक्षा होती है। उसके साथ कुछ दिन रहिये, दिन रात उसके प्रतिक्षण के विचारों को परखिये, तब कहीं निश्चय हो सकेगा, एक दो घण्टे में बड़ा धोखा हो सकता है। महापुरुष बड़ा खिलवाड़ करते हैं, बालक स्वभाव जो ठहरा।

इस प्रकार कुछ काल तक सत्संग द्वारा महापुरुष को पहिचाना जा सकता है किन्तु यह दावा नहीं किया जा सकता कि हम महापुरुष को पहिचान लेंगे।

शास्त्रों ने कहा है – श्रद्धायुक्त होकर ही उसको पहिचाना जा सकता है केवल बौद्धिक अहंकार बल से सर्वथा असम्भव है, क्योंकि उनमें वह शक्ति भी है कि एक नाटक में आपको पाताल पहुँचा दें।

भावार्थ यह निकला कि यदि आप विरक्त हों तभी श्रद्धायुक्त हो सकते हैं, तभी महापुरुष का मिलन काम का हो सकता है, अन्यथा तुलसी के कथनानुसार– '**मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम**' अर्थात् यदि ब्रह्मा सरीखा गुरु भी मिले और आप उससे न मिलें, तात्पर्य यह कि आप श्रद्धाहीन होने के कारण कुतर्क करें और कुतर्कों द्वारा उसे न पहिचानें तो महापुरुष का मिलन लाभदायक न हो सकेगा क्योंकि मरीज को, डाक्टर को डाक्टर मानने की तभी सूझेगी जब अपने आपको मरीज महसूस करेगा। आप कहेंगे, यह तो सभी जानते हैं कि हम काम, क्रोध, लोभादिक रोगों से ग्रस्त हैं। यह ठीक है सभी जानते हैं किन्तु सभी मानते नहीं हैं, जैसा कि तुलसीदास जी ने बताया है—

हैं सबके लखि बिरलन्हि पाये।

अर्थात् यह कामादि दोष यद्यपि सभी के अन्तःकरण में नित्य विद्यमान रहते हैं किन्तु इनको इने–गिने बिरले ही महसूस करते हैं। अतएव वे ही इलाज कराने की सोचते हैं। वे ही डाक्टर पर विश्वास करते हैं एवं औषधि सेवन करते हैं, अन्यथा यहाँ तक होता है कि महापुरुष को किसी सीमा तक लोग महापुरुष अर्थात् डाक्टर मान भी लेते हैं किन्तु दवा खाने अर्थात् साधना करने में लापरवाही करते हैं। अतएव वास्तविक परिणाम से वंचित रह जाते हैं। अतएव आप वास्तविक श्रद्धालु भी हों, एवं वास्तविक सन्त के शरणागत भी हों तभी समस्या हल हो सकती है। अतएव तुलसीदास जी के कथनानुसार—

शठ सुधरहिं सत संगति पाई।

अर्थात् शठ का भी सुधार हो सकता है यदि वह श्रद्धायुक्त होकर महापुरुष के आदेश का पालन करे। जैसे, लोहा भी पारस के संग से सुवर्ण बन जाता है। यहाँ तो सन्त-संग से सोना ही नहीं, पारस ही बना जा सकता है किन्तु यदि लोहे एवं पारस के मिलन में गड़बड़ी है अथवा लोहा ही गलत है या पारस ही गलत है या दोनों ही गलत हैं तो परम लक्ष्य की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।

अब आप एक बार पुनः क्रम समझ लीजिये। आपको परमानन्द प्राप्त करना है। परमानन्द एक मात्र ईश्वर में ही है, अतएव ईश्वर को प्राप्त करना है। ईश्वर इन्द्रिय, मन, बुद्धि से अप्राप्य है किन्तु वह जिस पर कृपा कर देता है, वह उसे प्राप्त कर लेता है। उसकी कृपा शरणागत पर ही होती है। शरणागति मन की करनी है। मन अनादिकाल से संसार में ही सुख मानता आया है अतएव संसार का स्वरूप गंभीरतापूर्वक समझना है। संसार का स्वरूप समझकर उस पर बार-बार विचार करना है यानी मनन करना है। तब संसार से वैराग्य होगा। अर्थात् मन राग-द्वेष-रहित होगा। तब महापुरुष को पहिचानना है। जब महापुरुष मिल जाय, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि ईश्वर शरणागति के हेतु कौन-सा मार्ग अपनाया जाय अर्थात् ईश्वर प्राप्ति के उपायों को जानना है।

राधे राधे गोविंद गोविंद राधे। राधे राधे गोबिंद गोविंद राधे॥

ईश्वर-प्राप्ति के एकमात्र तीन उपाय अर्थात् मार्ग हैं। आप कहेंगे, जब भौतिकवाद में अनेक उन्नतियाँ हो रही हैं तो ईश्वर-प्राप्ति में अनादिकाल से अब तक तीन ही मार्ग क्यों हैं ? चौथे मार्ग की खोज आज तक किसी आध्यात्मिक वैज्ञानिक ने क्यों नहीं की ? पर शायद आप यह नहीं जानते कि *नेचर* के विपरीत विज्ञान नहीं हुआ करता।

आँख से अनादिकाल से देखने का ही काम लिया जाता है। वह कार्य विज्ञान के द्वारा भी कान नहीं कर सकता। उसी प्रकार इन तीनों का स्वाभाविक विज्ञान है जिसे समझ लेने पर आपका यह भ्रम समाप्त हो जायगा। वेदों, शास्त्रों, पुराणों आदि समस्त ग्रन्थों में तीन ही मार्गों का प्रतिपादन किया गया है - प्रथम कर्म, द्वितीय ज्ञान एवं तृतीय भक्ति या उपासना। बस, चौथा कोई मार्ग नहीं। यदि कहीं पढ़ने सुनने को मिलेगा तो वह इन्हीं तीनों के अन्तर्गत ही होगा।

इसका विज्ञान यह है कि ब्रह्म की तीन स्वरूप शक्तियाँ हैं - सत्ब्रह्म, चित्ब्रह्म एवं आनन्द ब्रह्म। इनमें सत् ब्रह्म का स्वभाव कर्मवाला है, चित् ब्रह्म का स्वभाव ज्ञान वाला है तथा आनन्द ब्रह्म का स्वभाव प्रेम का है। चौथा कोई स्वभाव ईश्वर का नहीं है और उसी का अनादि सनातन अंश होने के कारण प्रत्येक जीव का भी तीन ही प्रकार का स्वभाव हो सकता है - कर्म, ज्ञान और भक्ति का। जब चौथा स्वभाव ही नहीं है तो चौथा मार्ग कैसे बन सकता है ? अब एक-एक मार्ग पर गंभीर विचार करना है।

कर्म

प्रथम 'कर्म' पर विचार कीजिये। वेद कहता है —

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥

(ईशा. – 9)

अर्थात् जो कर्म करता है वह अज्ञान को प्राप्त होता है। उत्तर यह दिया गया—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

(मुण्डको. 1-2-10)

अर्थात् कर्मकांड का फल स्वर्गलोक है; वह क्षणभंगुर है, मायिक है, अतएव कर्म करना घोर मूर्खता है, (यह मैं पूर्व में बता चुका हूँ)। अतएव कर्म से ईश्वर-प्राप्ति या माया-निवृत्ति की समस्या हल ही नहीं हो सकती। पुनः वेद कहता है कि—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

(मुण्डको. 1-2-12)

अर्थात् कर्म करके आध्यात्मिक वैज्ञानिकों ने अनुभव कर लिया कि कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती, स्वर्गमात्र मिलता है। अब गीता को देखिये। कुछ

लोग अपने आपको गीता का बड़ा जानकार समझते हैं और कहते हैं कि गीता में तो स्पष्ट भगवान् ने कहा है कि अर्जुन, अगर युद्ध करेगा तो दो में से एक वस्तु मिलेगी, रणक्षेत्र में बहादुरी के साथ मर गया तो कर्मानुसार स्वर्ग मिलेगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी मिलेगी। इस प्रकार दोनों हाथ लड्डू हैं। किन्तु यह भी बताया कि वे दोनों ही लड्डू विष-मिश्रित हैं; क्योंकि स्वर्ग या पृथ्वी दोनों ही मायिक, नश्वर एवं परिणामी हैं। अतएव कर्म के दोनों फल ग्राह्य नहीं हैं। अर्जुन ने कहा, इसीलिए तो मैं कर्म नहीं करना चाहता। तब भगवान् ने कहा - यदि कर्म न करेगा तो अधर्म हो जायगा और उसका फल नरक है। भावार्थ यह है कि अर्जुन के कर्म करने पर नश्वर स्वर्ग या नश्वर पृथ्वी मिलेगी, जो मूर्खों को प्रिय है। इस प्रकार दोनों ही मूर्खतापूर्ण हैं। अतएव भगवान् कहते हैं 'तू युद्ध कर' यह भी न कर 'युद्ध न कर' यह भी न कर, ऐसा कर। अर्जुन ने कर्म नहीं किया था अन्यथा तो कर्मबन्धन में बँध जाता। पुनः माया-निवृत्ति भी नहीं हो पाती। संपूर्ण गीता में माया-निवृत्ति के लिये चैलेंज किया गया है। वह यही कि **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** अर्थात् जो केवल मेरी ही शरण में आता है वही इस माया से उत्तीर्ण हो सकता है। इस श्लोक में 'एव' शब्द विचारणीय है जिसका अभिप्राय यह है कि मेरी शरणागति के सिवाय अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। गीता तो स्पष्ट कहती है —

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

(गीता 2-42)

अर्थात् कर्म से स्वर्गादिक लोकों की प्राप्ति होती है, जहाँ बड़ा सुख है, इत्यादि चाटुकारिता के वाक्यों में मूर्ख लोग फँसते हैं, बुद्धिमान नहीं फँसते क्योंकि गीता ही कहती है —

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालंक्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥

(गीता 9–21)

अर्थात् स्वर्ग कुछ दिनों के लिए मिलता है पश्चात् पुनः कर्मबन्धन द्वारा मृत्युलोक में वापस आना पड़ता है। अतएव कर्म निन्दनीय माना गया है।

अब जरा वेदव्यास की वाणी द्वारा विचार कीजिये, जो मेरी राय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न किया कि महाराज! ब्रह्मवादी लोग कल्याण के बहुत से मार्ग बताते हैं, इनमें कौन सत्य है, कौन असत्य है, कृपा करके आप समझाइये और यह भी बताइये कि इतने मार्ग क्यों बनाये गये? एक व्यक्ति लाखों प्रकार के मार्ग सुनता है, पढ़ता है, अतएव कुछ निश्चय नहीं कर पाता कि हम क्या करें। भला अन्धा व्यक्ति चक्षु के विषय का निर्णायक कैसे हो सकता है? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः॥

किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षः किम्पुरुषादयः।
बह्वयस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः॥

(भाग. 11–14–3 से 6)

अर्थात् मैंने अपनी वेद–वाणी में अपनी प्राप्ति के सब उपाय स्पष्ट कर दिये हैं किन्तु—

याभिर्भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्त्रवन्ति हि॥
एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित् पाखण्डमतयोऽपरे॥

(भाग. 11-14-7, 8)

अस्तु, वेदवाणी के पढ़ने एवं विचार करने वाले भिन्न-भिन्न प्रकृति के हुए एवं उनके अनन्तानन्त जन्मों के संस्कार भी भिन्न-भिन्न थे, अतएव उनकी रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं, जिनके परिणामस्वरूप सत्त्वप्रधान व्यक्ति ने सात्त्विक अर्थ किया, रजः प्रधान व्यक्ति ने राजस अर्थ किया एवं तमः प्रधान व्यक्ति ने तामस अर्थ किया। अतएव अनेक मार्ग बन गये। कुछ सिद्धान्त परम्परा से चले आये; जैसे, किसी के बाप के बाप के बाप ने कोई गलत कार्य प्रारम्भ किया था तो वह कार्य उसके बेटे के बेटे के बेटे तक करते चले आ रहे हैं। इस प्रकार कुछ मार्ग बन गये। जैसे, आपने सुना होगा कि किसी के घर में जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पर्व तिथियों का उत्सव नहीं मनाया जाता और पूछने पर उत्तर मिलता है कि हमारे घर में जन्माष्टमी आदि नहीं सहती। अब जरा सोचिये कि 'नहीं सहती' क्या बला है। पूछने पर बतायेंगे कि किसी जन्माष्टमी आदि पर हमारे बाप के बाप मर गये थे। तब से परम्परागत जन्माष्टमी पीढ़ियों से नहीं मनाई जाती। शायद यह भय है कि यदि पुनः जन्माष्टमी मनाई जायेगी तो कोई पुनः मर जायगा।

अब आप थोड़ा विचार कीजिये। लगभग 2 अरब वर्ष की सृष्टि है। इसमें हजारों पूर्वज हुए होंगे और दिन तो कुल सात ही हैं। तात्पर्य यह कि इन सात दिनों में एक दिन में लाखों पूर्वज मर चुके हैं। तो यदि मरने से कोई दिन न सहता हो तो सातों दिन नहीं सहने चाहिये। किन्तु यह उन्हें कौन समझाये। अच्छा, छोड़िये इस बात को। यदि उनसे पूछा जाय कि अरबों वर्ष, के पूर्वजों के इतिहास में ऐसा भी तो हुआ होगा कि किसी के घर में बहू आई हो और

चोरी हो गई हो या किसी को अचानक पर्याप्त धन मिला हो और उसी दिन कोई मर गया हो। वे कहेंगे, अवश्य हजारों उदाहरण ऐसे प्रतिदिन हुआ करते हैं। तो फिर क्या विश्व में किसी ने यह भी घोषित किया कि हमें धन नहीं सहता, हमें बहू नहीं सहती। इत्यादि ? अब वे चुप हो जायेंगे। भावार्थ यह कि ईश्वर ही एक फालतू है, इसलिये न सहने का नियम वहीं लागू कर दिया जाता है। भला धन, बहू न सहे तो सब कार्य ही बिगड़ जायें। यह परम्परागत मूर्खता का मत हुआ।

कुछ मत पाखंडियों ने बना दिये हैं जिनका अन्तरंग सार तो उड़ा दिया है, बहिरंग नाटकीय व्यवहार मात्र रख दिया है। जैसे, ईश्वरोपासनारहित तीर्थाटन, शास्त्रों का पाठ, जप, पूजा आदि। वे जनता को यह समझाते हैं कि बस, इतनी गिनती का जप या पाठ या पूजा कर लो तो बैकुण्ठ मिल जायेगा। यदि स्पष्ट कहें तो यह भी कह सकते हैं कि अनधिकारी का भी कान फूँक कर छोड़ देते हैं कि अब तुम निश्चिन्त रहो, मैं तुम्हें बैकुण्ठ के गेट पर मिलूँगा। अब तुम हमारे साथ ही चलोगे। वह बेचारा भोला-भाला पूरे जीवन संसार की उपासना में लगा रहा। मरने पर वे दम्भी बाबाजी एवं शिष्य साथ ही तो गये किन्तु नरक में गये। भगवान् भी कहते हैं कि उपर्युक्त अनेक कारणों के परिणाम-स्वरूप हमारी अलौकिक वेदवाणी के दुरुपयोग द्वारा अनेकानेक मार्ग बन गये, जैसे—

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्॥

(भाग. 11-14-10)

केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥

(भाग. 11-14-11)

अर्थात् कुछ लोग कहते हैं, धर्म का पालन करना चाहिये क्योंकि उससे बड़े-बड़े स्वर्गीय सुख मिलते हैं। कुछ लोग कहते हैं, यह मूर्खता है कि अपनी इच्छाओं को मारकर कष्ट सहकर धर्म किया जाय और परिणाम में स्वर्ग मिले। उनका कहना है, कि बस, व्यक्ति को यश कमाना चाहिये। मरने के बाद नाम ही रह जायगा। नाम कमाने में जो भी दावपेंच लगा सको, लगाना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं, यह भी मूर्खता है। हम मर गये तब नाम से हमें क्या काम है ? व्यक्ति को अपनी कामना की पूर्ति करते रहना चाहिए। जो भी कामना उत्पन्न हो, उसको पूरा करके सुख से रहो। जब तक जियो, सुख से जियो, इत्यादि।

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्'। *(चार्वाक्)*

कुछ लोग कहते हैं, यह भी मूर्खता है। बस, व्यक्ति को सत्य बोलना चाहिये। किसी भी परिस्थिति में झूठ नहीं बोलना चाहिये, इससे सभी समस्यायें हल हो जायेंगी। व्यक्ति से लेकर विश्व तक सब सुखी हो जायेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि स्वार्थ-सिद्धि ही जीवन का लक्ष्य है। स्वार्थ-सिद्धि के लिये जो भी उपाय जिससे बन पड़े उसे करना चाहिये। यह संसार स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही बनाया गया है। परार्थ या परलोक के चक्कर में पड़कर अपने स्वार्थ पर कुठाराघात करना मूर्खता है।

कुछ लोग कहते हैं, त्याग में ही सुख शान्ति है, संग्रह में दु:ख है अतएव पदार्थों का त्याग करना चाहिये। जब आवश्यकताएं न रहेंगीं तो दु:ख अपने आप भाग जायगा। दु:ख तो इसलिये मिलता है कि हम वस्तुओं का संग्रह करते हैं अतएव उसमें भ्रमवश सुख की अनुभूति होने लगती है, पुनः वियोग का दु:ख होता है।

कुछ लोग कहते हैं, यह सब व्यर्थ की बकवास है। खाओ, पिओ, मौज करो। बस, भोजन ही जीवन का लक्ष्य है। इतना बड़ा संसार मनुष्यों के लिये ही बनाया गया है, उसे त्यागना ईश्वर का अपमान है।

कुछ लोग कहते हैं, वैदिक विधि के अनुसार यज्ञ करना चाहिये। उससे बादल बनते हैं, उससे वर्षा ठीक होती है, उससे अन्न ठीक उत्पन्न होता है। **'अन्न है तो टन्न है नहीं तो सनासन्न है'** के अनुसार सारी समस्या अन्न पर निर्भर हुई।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्न को आग में जलाकर अन्न की आशा करना भोलापन है, अतएव तपश्चर्या ही प्रमुख लक्ष्य होना चाहिये। तपस्या के द्वारा इन्द्रियों एवं शरीर को तपाकर निश्चेष्ट बना देना चाहिए। तब मन स्वयं शान्त हो जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि यह सब ढकोसला है, हमें संसार में आकर दान ही लक्ष्य बनाना चाहिये। विश्व में अनेक जीव अनेक वस्तुओं के अभाव में दुःखी हैं, यदि दान का लक्ष्य बना लिया जाय तो सब सुःखी हो जायें। एक करोड़पति बनकर रुपये का दुरुपयोग करता है, दूसरा उसी का पड़ोसी बिना औषधि के प्राण छोड़ रहा है, यह सब देखते हैं।

कुछ लोग कहते हैं, यह भी ठीक नहीं है। बस, व्रत करना चाहिये। व्रत करने से बहुत दिनों के लिये स्वर्ग के वैभव मिलेंगे, यहाँ का भी अन्न बचेगा, दोनों प्रकार से लाभ ही लाभ है।

कुछ लोग कहते हैं, नहीं-नहीं यह सब गलत है। बस, नियम का पालन करना है। जब तक नियम का पालन न होगा एवं उच्छृंखलता न बन्द होगी, तब तक शान्ति का स्वप्न देखना भोलापन है।

भगवान् कहते हैं कि हे उद्धव! उपर्युक्त एवं अन्य भी अनन्त साधनाएं विश्व में प्रचलित हैं किन्तु ये सब गलत हैं इन सब कर्मों का फल या तो पृथ्वी के ऐश्वर्य हैं या स्वर्ग के ऐश्वर्य हैं और दोनों ही आदि एवं अन्त वाले हैं। तात्पर्य यह कि एक दिन प्रारम्भ होंगे और एक दिन समाप्त हो जायेंगे। परिणाम में चौरासी लाख योनियों में पुनः चक्कर लगाना पड़ेगा। वे स्वर्गादिक लोक भी शोक से परिपूर्ण हैं। वहाँ भी माया का आधिपत्य है, वहाँ भी अल्पसुख है। तुम जिस परमानन्द एवं परमशान्ति को चाहते हो, वह सब कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त लोकों से नहीं मिल सकता है।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः।

(भाग. 11-14-22, 23)

अर्थात् मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि सत्य एवं दया से युक्त धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म माना जाता है किन्तु उससे अन्तःकरण की शुद्धि भी पूर्णतया नहीं हो सकती। तपश्चर्या से युक्त ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है किन्तु उससे भी अन्तःकरण की शुद्धि असम्भव है। फिर केवल कर्मादि से पंचक्लेश-निवृत्ति, त्रिताप-निवृत्ति, त्रिकर्म-निवृत्ति, त्रिशरीर-निवृत्ति, परमानन्द प्राप्ति आदि की समस्याएं कैसे हल हो सकती हैं?

अब जरा रामायण में आइये —

मोह सकल व्याधिन कर मूला

अर्थात् सभी मनुष्यों में मानस रोग हैं जिनका मूल कारण मोह है, उसी से अन्य रोग उत्पन्न होते हैं अर्थात् नासमझी से कामना उत्पन्न होती है, पुनः उसकी पूर्ति होने पर लोभ उत्पन्न होता है एवं अपूर्ति में क्रोध उत्पन्न होता है।

इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, ये तीन प्रमुख रोगों के मूल स्वरूप हैं। जैसे शारीरिक रोगों में वात, पित्त, कफ प्रमुख माने जाते हैं, वैसे ही, गीता के अनुसार—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता 16-21)

इन काम, क्रोध, लोभ में काम प्रधान है। वैसे तो काम, क्रोध, लोभ का एक 'काम' ही नाम कहना पर्याप्त है किन्तु जहाँ तीनों बलवान हो जाते हैं अर्थात् तीनों में जब एक साथ एक काल मैत्री हो जाती है तो सन्निपात के समान क्या उपद्रव नहीं हो सकता? इसी प्रकार ममता, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि अनन्त मानस रोग हैं, जिनसे जीव प्रतिक्षण अशान्त है।

एक व्याधिवश नर मरहिं, ये असाध्य बहु व्याधि॥

इसका इलाज पूछा गया तो तुलसीदास जी ने बताया कि इलाज का प्रश्न तो बड़ा ही गंभीर है क्योंकि—

नेम धर्म आचार तप, योग यज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिन करिय, रुज न जाहिं हरियान॥

नियम, धर्म, आचार, तप, योग, यज्ञ, जप, दानादि करोड़ों औषधियाँ करने पर भी ये मानस रोग नहीं जा सकते। तुलसीदास ने इन रोगों को असाध्य बताया है अर्थात् जिन रोगों का कोई इलाज न हो सके, यथा—

ये असाध्य बहु व्याधि

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इलाज ही नहीं है। हाँ कर्म के द्वारा मानस रोग नहीं समाप्त हो सकते, यह कहने का अभिप्राय हो सकता है। कर्म का फल स्वर्ग है और—

स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदाई

के अनुसार वह मूर्ख लोगों को ही ग्राह्य हो सकता है। अतएव केवल कर्म से हमारा परम-चरम-लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति की समस्या हल नहीं हो सकती। यह सर्वसम्मत मत सिद्ध हुआ। इतना ही नहीं, आइये हम आपको धर्मादर्शी भगवान् राम के अवतार काल की एक झाँकी बताते हैं जो स्वयं उन्हीं से सम्बन्ध रखती है और उसमें भी उनके सगे लगने वालों से सम्बन्ध रखती है।

आप जानते हैं, कि भगवान् राम अपनी सौतेली माँ की बात को मानकर वन जा रहे हैं किन्तु कैकेयी के साक्षात् पुत्र भरत, जिनको न तो पिता और न माता ने ही वनवास दिया है, वे राज्य छोड़कर जंगल भाग रहे हैं। इतना ही नहीं, अपनी वास्तविक माँ को इतने गन्दे शब्दों में डाँट रहे हैं जितने गन्दे शब्दों में कोई शत्रु भी न डाँटेगा। यथा—

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मे धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥

(वा. रा.)

अर्थात् मैं इस दुराचारिणी पापात्मा कैकेयी का खून कर देता अगर कोई यह विश्वास दिला देता कि इस कर्म से राम मेरा परित्याग न करेंगे। पुनः कहते हैं—

न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि।

अर्थात् पति की हत्या करने वाली कैकेयी! मैं तुझसे बात भी करना नहीं चाहता।

जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँख ओट उठि बैठहु जाई।

मुख में कालिख पोतकर मेरी आँख के सामने से हट जा, इत्यादि। अब आप सोचिये, भरत जी महाराज कर्म-धर्म का खुल्लमखुल्ला खंडन कर रहे हैं और फिर भी राम के इतने प्रिय हैं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि—

लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहिं भरत समाना।

अर्थात् भरत के समान भाई नहीं हो सकता, इत्यादि। दूसरे भाई लक्ष्मण जी महाराज, इनको देखिये। इनसे भी भगवान् राम ने कहा था कि देखो लक्ष्मण, मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ, तुम्हें मेरी आज्ञा माननी चाहिये। फिर परिस्थिति इस समय ऐसी ही है कि तुम घर पर रहो क्योंकि भरत, शत्रुघ्न ननिहाल में है, पिताजी बूढ़े हैं, उन्हें मेरे जाने का शोक है। संकेत में इशारा कर रहे हैं कि स्थिति बड़ी गम्भीर हो सकती है और प्रजा को घोर दु:ख हो सकता है, और—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

जिस राज्य में प्रजा को कष्ट मिलता है, वह राजा नरकगामी होता है। तुम्हें धर्म के अनुसार मेरे साथ किसी भी प्रकार जाना उचित नहीं है। लक्ष्मण जी का उत्तर सुनिये—

नरवर धीर धरम धुरि धारी। निगम नीति के ते अधिकारी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥

अर्थात् मैं एक साधारण व्यक्ति वेद-शास्त्र के धर्म का पालन करने का अधिकारी नहीं हूँ। भला बताइये, जब लक्ष्मण जी धर्म के पालन के अधिकारी नहीं हैं तो और कौन होगा? पुन: लक्ष्मण ने कहा कि मैं न तो माँ की बात मानूँगा, न बाप की, न गुरु की ही मानूँगा, मैं तो साथ चलूँगा।

गुरु पितु मातु न जानउं काऊ। कहहुँ स्वभाव नाथ पतियाऊ॥

पुनः अन्त में यहाँ तक कहा कि धर्म का उपदेश उन्हें दीजियेगा जिन्हें परलोक या भौतिक ऐश्वर्य चाहिये।

शत्रुघ्न जी महाराज को देखिये। ये तो शत्रु के नाश में समर्थ हैं किन्तु उनकी वीरता कहाँ प्रकट हुई।

लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ।
हुमकि लात तकि कूबरि मारा॥

अर्थात् मंथरा के कूबर में एक लात मारी उसके मुँह से खून बहने लगा। फिर भी उसको नहीं छोड़ा, उसकी झोंटी पकड़कर घसीटने लगे। यह धर्म का स्वरूप है? एक धर्म और सुन लीजिए। स्वयं जगज्जननी जगदंबिका सीता जी धर्म को नहीं मान रही हैं। भगवान् राम ने कहा, तुम वन को न जाओ, कुछ दिन मायके कुछ दिन ससुराल में रहना। मैं तुम्हारा पति हूँ, पतिव्रता स्त्री को पति की आज्ञा में किन्तु परन्तु नहीं लगाना चाहिए। इस पर सीता जी ने एक लेक्चर (lecture) सा दे डाला कि देखो, परछाईं पृथक् नहीं होती अतएव मैं पृथक् नहीं रह सकती। राम ने कहा, देखो सीते! जो तुमने मेरी आज्ञा नहीं मानी और प्रेमवश हठ किया और साथ चलीं तो याद रखो परिणाम में दुःख मिलेगा —

जो हठ करउ प्रेम वश वामा। तो तुम दुख पाउब परिणामा।

इस भविष्यवाणी को चाहे शाप समझो, चाहे आशीर्वाद, फिर भी सीता जी ने नहीं माना और कहा, यदि मुझे साथ न ले गये तो लौटने पर मुझे जीवित न पा सकोगे। जिन सीता जी से यमराज काँपता है, वे कहती हैं कि मुझे न पा सकोगे। लीलादि क्षेत्र में पंचवटी के बाद सीता को वियोग ही तो रहा है। यह सब भगवान् राम के घर में हो रहा है।

इतिहास साक्षी है कि प्रह्लाद ने पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया, जबकि शास्त्र वेद कहते हैं कि '**पितृदेवो भव, मातृदेवो भव**'। उधर ब्रजगोपियों ने पतियों की आज्ञा का उल्लंघन किया, विभीषण ने बड़े भाई की आज्ञा का उल्लंघन किया, यह सर्वविदित है। तुलसीदास जी ने कहा है कि —

तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजवनितनि भे सब मंगलकारी॥

भावार्थ यह है कि केवल कर्म-धर्म से ही यदि लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है तो उपर्युक्त आप्त-प्रमाण एवं उन महापुरुषों के आचरण उसके विपरीत क्यों होते? यदि स्पष्ट कहा जाय तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि ईश्वरोपासना रहित, केवल ब्रह्मचर्य रहने मात्र से मुक्ति होनी होती तो विश्व के सब नपुंसक तर गये होते। यदि संतान होने से मुक्ति होनी होती तो कुत्ते, बिल्ली, सूअर सबसे पहले तरते। यदि वानप्रस्थी या संन्यासी के व्याजमात्र से मुक्ति होनी होती तो शेर, चीते, भालू परम त्यागी बनवासी सर्वप्रथम तरते—

मीनाः स्नानपराः फणी पवनभुङ्मेषश्च पर्णाशनो,
नीराशःखलु चातको हि नितरां शेते बिले मूषकः।
भस्मोद्धूलन तत्परश्च हि खरो ध्यानानुरक्तो बकस्
ते सर्वे न हि यान्ति मोक्षपदवीं भक्तिं बिना श्री हरेः॥

अब आप कर्म का अन्तरंग रहस्य समझिये। एतदर्थ आपको चार तत्त्व समझने होंगे - कर्म, विकर्म, अकर्म अथवा कर्मयोग एवं कर्मसंन्यास।

(1) **कर्म** का अभिप्राय उससे है जिसमें व्यक्ति श्रुति-स्मृति प्रतिपादित विधिवत् कर्म का पालन करे किन्तु ईश्वर-भक्ति न करे। ऐसे कर्म में प्रमुख विचारणीय बात यह है कि श्रुति-स्मृति की विधि में थोड़ा भी गड़बड़ न हो, अन्यथा—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

(पातञ्जलि महाभाष्य)

के अनुसार यदि एक वैदिक स्वर की भी त्रुटि रह जायगी तो कर्मकर्त्ता को लाभ के बजाय हानि हो जायगी। एक राक्षस ने ऋषियों को पकड़ कर बरबस एक यज्ञ करवाया। उसमें मंत्र '**इन्द्रशत्रुर्विवर्धस्व**' रखा गया, जिसका अर्थ था कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् राक्षस बढ़े। किन्तु, अक्षर वही रखते हुए भी ऋषियों ने एक स्वर बदल दिया। उस राक्षस को वैदिक स्वरों का ज्ञान नहीं था अतएव वह इस चातुरी को नहीं समझ सका। यज्ञ सम्पन्न हुआ। भगवान् ने भी मंत्रानुसार फल देने का वरदान दिया। पश्चात् राक्षस ने इन्द्र पर आक्रमण कर दिया, परिणामस्वरूप राक्षस मारा गया। मरते समय उसने कहा कि यह ईश्वर के समदर्शित्व पर कलंक है कि उसने वरदान देकर भी पूरा नहीं किया। ईश्वर ने आकाशवाणी द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन किया कि '**इन्द्रशत्रुर्विवर्धस्व**', इस मंत्र में जो स्वर लगाया था उसका अर्थ यही था कि इन्द्र की शक्ति बढ़े, अतएव इन्द्र विजयी हो गया यह विधिहीन कर्म का फल है और यदि विधियुक्त कर्म सम्पन्न हो गया तो उसका फल स्वर्ग है, जो नश्वर है, यह पूर्व में समझाया जा चुका है। अतएव शास्त्रोक्त विधिवत् कर्म की निंदा सी पाई जाती है।

(2) **विकर्म** उसे कहते हैं जिसमें श्रुति-स्मृति-युक्त कर्म भी न करे एवं ईश्वर-भक्ति भी न करे। इसमें उन नास्तिकों का समावेश होता है जो केवल भौतिकवादी हैं, जिन्हें ईश्वर या ईश्वरीय महापुरुषों से घोर घृणा है। उन विकर्मियों के विकर्म का परिणाम नरकादि यातनाएँ हैं। उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति भी नहीं होती एवं ईश्वर-प्राप्ति भी नहीं होती। जब तक जीवित रहते हैं, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने के कारण, उच्छृंखलतावश मनमाने कर्म करते हैं। मरने के पश्चात् गीता के अनुसार —

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता 16-20)

भगवान् उन्हें आसुरी योनियों में पटक देते हैं अतएव विकर्म तो कर्म से भी निन्दनीय है। साधारणतया इसी विकर्म को पाप कर्म कहा जाता है एवं कर्म को पुण्य कर्म कहा जाता है।

वस्तुतः पुण्यकर्म एवं पापकर्म दोनों ही बन्धनकारक हैं। वेद कहता है, पुण्य से स्वर्ग मिलता है, पाप से नरक मिलता है एवं दोनों के संयोग से मृत्युलोकीय देह मिलता है। इतना ही अन्तर समझ लीजिये कि स्वर्ग सोने की जंजीरों की बेड़ियाँ है और कुछ दिनों में पुनः चौरासी लाख योनियों की बेड़ियाँ पड़ जायेंगी और नरक लोहे की बेड़ियाँ हैं। इन स्वर्ग-नरकादि लोकों में केवल कर्मफल भोगना पड़ता है, कर्म करने का अधिकार नहीं है। अतएव ये दोनों त्याज्य हैं।

(3) **अकर्म** उसे कहते हैं जिसमें अन्तःकरण से तो ईश्वर की भक्ति की जाय किन्तु शरीर से श्रुति-स्मृति-विहित कर्म भी किये जायें। इसी अकर्म या कर्मयोग का उपदेश गीता में अर्जुन को दिया गया है। मैंने बताया था कि अर्जुन युद्ध करेगा तो स्वर्ग या पृथ्वी मिलेगी, युद्ध न करेगा, तो विकर्म हो जायगा, अतएव नरक मिलेगा। अतएव भगवान् कहते हैं कि 'तू युद्ध न कर', यह भी न कर, अन्यथा विकर्म हो जायगा और 'युद्ध कर' यह भी न कर, अन्यथा कर्म हो जायगा। तू 'अकर्म कर' -

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता 8-7)

निरन्तर मन मुझमें लगाकर कर्म कर। तात्पर्य यह कि मन से ईश्वर में अनुराग हो एवं शरीर से शास्त्रोक्त कर्म भी हो, वही अकर्म या कर्मयोग कहलायेगा।

इसमें ईश्वर-भक्ति का फल तो ईश्वर-प्राप्ति मिलेगा, जिससे माया-निवृत्ति एवं परमानंद-प्राप्ति का लक्ष्य हल हो जायेगा और कर्म का फल कुछ न मिलेगा क्योंकि केवल उस कर्म का फल मिला करता है, जिस कर्म में मन का लगाव रहता है। जब मन का लगाव भगवान् में रहेगा तो स्वभावतः मन कर्म में न रहेगा। तब कर्म के फल के पाने का या बन्धन होने का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। अस्तु, अकर्म या कर्मयोग वन्दनीय मार्ग है।

(4) **कर्मसंन्यास** उसे कहते हैं जिसमें ईश्वर-भक्ति तो कर्मयोगी की भाँति ही हो किन्तु वेदादि- प्रतिपादित कर्म न हो। ऐसा कर्म संन्यासी भक्ति योग के फल के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य पूरा कर लेगा और चूँकि कर्म करेगा ही नहीं, अतएव उसके फल भोगने का अथवा न भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार कर्मयोगी की भाँति यह कर्मसंन्यासी भी शास्त्रों , वेदों एवं आप्त महापुरुषों द्वारा वन्दनीय है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कर्मयोगी एवं कर्मसंन्यासी दोनों ही को जब एक ही फल की प्राप्ति होती है अर्थात् दोनों ही ईश्वर-भक्ति करते हैं अतएव दोनों ही ईश्वर-प्राप्ति के परिणाम को प्राप्त करते हैं तो फिर कर्मयोगी का कर्म करने का प्रयास व्यर्थ ही है। अस्तु, जब उसका कोई फल ही नहीं मिलता तो कर्म का भार क्यों वहन किया जाय ? भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए उत्तर देते हैं कि—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता 5-2)

अर्थात् अर्जुन! कर्मयोगी एवं कर्मसंन्यासी दोनों ही कृतार्थ होते हैं किन्तु फिर भी कर्मयोग का मार्ग कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ है। वह श्रेष्ठता क्या है ? इस

प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

(गीता 3-21 से 24)

अर्थात् अर्जुन! संसार का यह नियम सा है कि वह बड़ों का अनुकरण करता है, बड़े ही छोटों के लिये मार्ग प्रशस्त करते हैं। यद्यपि अर्जुन! तू जानता है कि मेरा कौन सा प्रयोजन अवशिष्ट है जिसके हेतु मैं कुछ कर्म करूँ, मैं तो पूर्णकाम हूँ, फिर भी देख मैं भी कर्म करता हूँ। कारण यह है कि यदि मैं कर्म न करूँ तो लोग मेरा ही अनुकरण करेंगे, जिसके परिणाम-स्वरूप खतरे में पड़ जायेंगे। अतएव मैं लोक-हिताय कर्म करता हूँ ताकि अनुकरणकर्ता लोग उससे लाभ उठायें इसलिये मैं कर्मयोगी को श्रेष्ठ मानता हूँ। इसलिये तुझसे भी कह रहा हूँ कि तू कर्मयोगी बनकर कर्म कर।

आपको शंका हो सकती है कि कर्मयोगी का अनुकरण करने वाला जैसे ईश्वर-प्राप्ति करेगा वैसे ही कर्मसंन्यासी की नकल करने वाला भी तो ईश्वर-प्राप्ति ही करेगा, तो उसमें हानि या खतरे की क्या बात है? बात यह है कि अनुकरण करने वाला सदा बहिरंग नकल ही करता है, अन्तरंग नहीं करता। अब सोचिये, यदि कर्मयोगी का अनुकरणकर्ता बहिरंग अनुकरण

करेगा तो कर्मी बनेगा, अन्तरंग अनुकरण अर्थात् ईश्वर-भक्ति का अनुकरण न करेगा, किन्तु यदि कर्मसंन्यासी का अनुकरण कोई करेगा तो उसके बहिरंग का अनुकरण अर्थात् कर्म न करने का अनुकरण तो कर लेगा किन्तु अन्तरंग ईश्वर-भक्ति का अनुकरण न करेगा। परिणाम यह होगा कि ईश्वर-भक्ति एवं कर्म दोनों ही से रहित होकर विकर्मी बन जायेगा।

आप कह सकते हैं कि अच्छा, यदि हम यह भी मान लें तो भी कर्मयोगी का नकलची कर्मी बना एवं कर्मसंन्यासी का नकलची विकर्मी बना। तो इसमें अन्तर क्या है? कर्मी को स्वर्ग मिलेगा वह भी अन्त में दुःखमय है। हाँ, बात तो साधारण बुद्धि से ठीक सी है किन्तु फिर भी इतना विचारणीय है कि विकर्मी से कर्मी श्रेष्ठ है क्योंकि वह उच्छृंखल नहीं रहेगा। जैसे ही उसे कोई तत्त्वज्ञ मिल जायगा और समझा देगा कि तू ऐसे ही कर्म किये जा किन्तु इन कर्मों को ईश्वरार्पित करते हुए मन का लगाव ईश्वर में किये जा तो उस कर्म का भी फल न बनेगा अर्थात् यह कर्मयोग बन जायगा। किन्तु विकर्मी को यदि कोई तत्त्वज्ञ मिल भी जायगा तो उच्छृंखल होने के कारण एवं शास्त्र-वेद पर आस्था न होने के कारण वह प्रथम यही स्वीकार न करेगा कि शास्त्र-वेद सत्य हैं एवं अवश्य माननीय हैं और यदि कदाचित् स्वीकार भी करेगा तो चिरन्तन उच्छृंखलता के अभ्यास के कारण ईश्वर-भक्ति आदि में प्रवृत्ति दुःसम्भव ही है। इसके अतिरिक्त लौकिक, सामाजिक व्यवस्था भी कर्म के द्वारा यथोचित चलती रहेगी, जब कि विकर्मी द्वारा लोक में क्रान्ति ही की सम्भावना रहेगी। यह कर्मयोग एवं कर्मसंन्यास के अनुकरण का अन्तर है।

अब आप समझ गये होंगे कि ईश्वर भक्ति युक्त कर्म ही वंदनीय हैं, शेष कर्म निन्दनीय हैं, फिर भी विकर्म से कर्म अच्छा है। एक बात और भी प्रमुख-रूपेण विचारणीय है, वह यह कि जैसे कर्मी को वेदविहित विधि के थोड़े उल्लंघन से भी दण्ड मिलता है, वैसे कर्मयोगी को दण्ड मिलने का प्रश्न

नहीं है अर्थात् साधक कर्मयोगी यदि कुछ थोड़ी भी विधि का पालन करता है तो भी वह श्रेष्ठ बन कर लाभ पहुँचाता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता 2-40)

पुनः जब परिपक्व कर्मयोगी बन जाता है, तब तो कर्मफल भोगने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। अतएव शास्त्रों, वेदों एवं अन्यान्य आप्त-ग्रन्थों ने जो कर्म-धर्म का खंडन किया है, वह एक मात्र उन्हीं कर्मों के विषय में है जो ईश्वर को पृथक् करके, केवल कर्म के द्वारा ही कर्मबन्धनों को समाप्त करने की योजना बनाते हैं। किन्तु, ईश्वरभक्तियुक्त कर्म तो परम वन्दनीय हैं। उनसे अपना तो लाभ पूर्णतया होता ही है, साथ-साथ अनुकरणकर्ता का भी लाभ होता है।

अब चलिये, वेदों में देखा जाय, इसका स्पष्टीकरण कहाँ पर है। वेद कहता है—

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

(ईशा.-1)

अर्थात् ईश्वर को समर्पित करके कर्म करना चाहिये। क्योंकि पुनः वेद कहता है कि—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेता. 6-23)

अर्थात् जिसकी ईश्वर एवं महापुरुष में परा भक्ति होती है, वह उस परमतत्त्व को प्राप्त कर सकता है। पुनः वेद कहता है—

उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

(मुण्डको. 3-2-1)

अर्थात् जो मन को किसी मायिक वस्तु में न लगाकर भगवान् की उपासना करता है, वही माया को पार कर सकता है। भावार्थ यह कि वेदों ने कर्मयोग का खंडन नहीं किया, अपितु ईश्वर-भक्ति से रहित एकमात्र कर्म का ही खण्डन किया है। गीता में देखिये, भगवान् ने अर्जुन से कहा—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता 2-71)

अर्थात् जिसका मन संसार के किसी पदार्थ में न हो, ऐसा व्यक्ति ही परम शान्ति का अधिकारी बन सकता है। पुनः और भी स्पष्ट कहा है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता 9-27)

अर्थात् तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ यज्ञादि करता है, जो कुछ दानादि करता है, सब मेरे निमित्त ही कर, अर्थात् मन का लगाव मुझमें हो तो तेरा कर्म अकर्म हो जायेगा और तू कृतार्थ हो जायेगा। पुनः गीता में कहा—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता 18-46)

अर्थात् कर्म द्वारा ईश्वर की उपासना करने पर ही परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। भावार्थ यह कि बिना ईश्वर-भक्ति के कर्ममात्र के द्वारा कर्म-बन्धनों का अत्यन्ताभाव अथवा परमानन्द-प्राप्ति का लक्ष्य नहीं सिद्ध हो सकता। पुराणों में देखिये —

वेदव्यास जी कहते हैं—

तत्कर्म हरितोषं यत्

(भाग. 4-29-49)

अर्थात् वास्तविक कर्म वही है, जिससे ईश्वर प्रीति हो। पुनः कहते हैं कि यदि कोई कर्म-धर्म भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में प्रीति उत्पन्न नहीं करता तो वह कर्म-धर्म एकमात्र परिश्रम ही है, अतएव, वह कर्म निन्दनीय है -

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

(भाग. 1-2-8)

पुनश्च

गृहेष्ववस्थितो राजन्क्रियाः कुर्वन् गृहोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्॥

(भाग. 7-14-2)

पुनश्च

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः॥

(भाग. 4-30-19)

अर्थात् जो गृहस्थ में रहकर मन मेरे चरणों में लगाकर कर्म करता है, वह गृहस्थ विदेह-जनक के समान सुखी ही रहता है एवं वह गृहस्थ होकर भी गृह से पृथक् रहता है एवं मेरे दिव्यानन्द की ही प्राप्ति करता है। सबसे बड़ा आदर्श तो उन गोपियों के कर्मयोग का है, जिनके लिये सर्वविदित है कि—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(भाग. 10-44-15)

अर्थात् जो प्रत्येक गृहस्थ के कर्म करते समय आँखों में आँसू भरकर भगवान् का गुणानुवाद करती थीं एवं जिनके दास-स्वरूप स्वयं भगवान् बने रहे।

अब थोड़ा रामायण द्वारा भी निराकरण कर लीजिये। रामायणकार ने स्पष्ट लिख दिया कि—

सो सब कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।

अर्थात् वह कर्म-धर्म निन्दनीय है, जो ईश्वर-भक्ति रहित है। किन्तु जो कर्म ईश्वरभक्तियुक्त है, वह तो—

त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥

के अनुसार मुक्तिदायक ही है। रामायण पुनः कहती है कि —

जप तप नियम योग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना शुभ कर्मा॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहे श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुन्दर॥

अर्थात् जप, तप, नियम, योग, वर्णाश्रम-धर्म, ज्ञान, दया, दम, तीर्थस्नानादि जितने भी श्रौत स्मार्त कर्म-धर्म हैं, सबका एक ही परिणाम होना चाहिये और वह यह कि ईश्वर-चरणों में अनुराग हो। यदि वह नहीं है तो रामायण कहती है कि भक्तिहीन ब्रह्मा भी निन्दनीय है, साधारण की तो बात ही क्या है—

भक्तिहीन विरंचि किन होई ....।

अब आप समझ गये होंगे कि वेदों–शास्त्रों का कर्मादि–खंडन क्या रहस्य रखता है। अब कर्म एवं भक्ति की गम्भीर बातों को समझो।

मनु जी ने अपनी स्मृति में कहा है कि—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्

(मनुस्मृति 6–35)

अर्थात् प्रत्येक जीव पर देव ऋण, ऋषि ऋण, पितृ ऋण, ये तीन ऋण हैं, बिना इन तीनों से उऋण हुए किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। तो फिर कर्म के परित्याग से कर्मसंन्यासी की, भक्ति करने से मुक्ति नहीं हो सकती। यह एक गम्भीर समस्या है, जिसका उत्तर वेदव्यास जी ने यह दिया कि—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(भाग. 11–5–41)

जो जीव ईश्वर–भक्ति नहीं करता एवं मनु के द्वारा निर्दिष्ट तीन ऋणों से भी उऋण होने का कर्म नहीं करता, वह पतन को प्राप्त होता है। किन्तु जो ईश्वर की भक्ति करता है, उसके लिये उपर्युक्त नियम लागू नहीं होता, अतएव कर्मपरित्याग उसके लिये क्षम्य है।

धर्म दो प्रकार के होते हैं। एक पर, दूसरा अपर।

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥

(भाग. 1–2–6)

अर्थात् भगवान् में भक्ति होना पर धर्म है, इसका फल परमानन्द–प्राप्ति है। किन्तु दूसरा जो अपर धर्म है, वह ईश्वर–भक्ति को छोड़कर केवल वर्णाश्रमधर्म का पालन करना मात्र ही है। उसका परिणाम स्वर्गादिक लोक–प्राप्ति ही है। एक बात और भी विचारणीय है, वह यह कि अपर धर्म अर्थात्

वर्णाश्रम-धर्म परिवर्तनशील है, किन्तु पर धर्म सदा एकरस एवं स्वाभाविक है। जैसे, ब्राह्मण के लिए दूसरा धर्म, क्षत्रिय के लिए दूसरा धर्म, वैश्य के लिए दूसरा धर्म एवं शूद्र के लिए दूसरा धर्म। पुनश्च, वर्णधर्मावलम्बी के आश्रम-धर्म को देखिये। ब्रह्मचारी के लिये कहा गया, स्त्री आदि से सदा बचो, किन्तु 25 वर्ष बाद उसे कहा गया, किसी स्त्री से विवाह कर लो एवं सन्तान पैदा करो, तब पितृ-ऋण से उऋण हो सकोगे। पुनः 50 वर्ष की आयु में गुरु महाराज ने कहा, अब बाल-बच्चे एवं गृहस्थ के काम-धाम सब छोड़ दो, स्त्री-पति दोनों जंगल चले जाओ। पुनः 75 वर्ष की आयु में यह आज्ञा दी गयी कि कौन तुम्हारी स्त्री, कौन तुम्हारा पति, यह सब शारीरिक सम्बन्ध है, अतएव तुम दोनों एक-दूसरे से पृथक् हो जाओ अर्थात् जैसे ब्रह्मचर्याश्रम में अकेले थे, वहीं फिर पहुँच जाओ। यह बार-बार परिवर्तन हो रहा है, किन्तु पर धर्म सदा एक सा रहता है।

एक बात और भी विचारणीय है कि शास्त्रों ने प्रत्येक वर्ण एवं प्रत्येक आश्रमधारी अपर-धर्मावलम्बियों को यह प्रमुख आदेश दिया है कि साथ-साथ पर धर्म का पालन सदा होता रहे। ब्रह्मचारी को भी ईश्वरोपासना का आदेश, गृहस्थ को भी, वानप्रस्थी को भी और संन्यासी को तो एकमात्र यह करना ही है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण को ईश्वर-भक्ति का आदेश दिया गया है। बस, यही तो कर्मयोग है। भावार्थ यह कि अपरधर्म स्वरूप वर्णाश्रम धर्म में परधर्म स्वरूप ईश्वर-भक्ति संयुक्त कर देने से पर-धर्म का ही परिणाम प्राप्त होता है। केवल अपर या आगंतुक प्राकृत धर्म से ईश्वर-प्राप्ति या माया-निवृत्ति की समस्या नहीं हल हो सकती।

अब प्रश्न होता है कि यह ठीक है कि वर्णाश्रमधर्म के साथ साथ पर-धर्म परमावश्यक है किन्तु कर्मसंन्यासी तो वर्णाश्रम-धर्म का स्वरूपतः परित्याग कर देता है जो सर्वथा अनुचित सा दीखता है, क्योंकि भगवान् ने कहा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः॥

(वाधूल स्मृति)

अर्थात् मेरी वैदिक आज्ञा वर्णाश्रम-धर्म को जो नहीं मानता, वह मेरा शत्रु है, वह मुझे कैसे प्रिय हो सकता है ? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर वेदव्यास ने भगवान् के मुख से ही दिला दिया है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥

(भाग. 11-11-32)

अर्थात् यद्यपि वर्णाश्रम-धर्म मेरी ही आज्ञा है एवं उसके उल्लंघन से दण्ड मिलता है तथापि जो उसका परित्याग कर मेरी भक्ति करता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भावार्थ यह कि ईश्वर-भक्ति-युक्त व्यक्ति के लिये धर्म का नियम लागू नहीं होता, जैसा कि वेद ने बताया कि—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।

(कठो. 1-2-15)

अर्थात् वेद की समस्त ऋचाएँ केवल ईश्वर की ओर ही प्रेरित करती हैं। शांडिल्य भी कहते हैं—

न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्

अर्थात् जैसे ज्ञानमार्गीय को कर्म की अपेक्षा नहीं है, ऐसे ही भक्तिमार्गीय के लिये भी कर्म अनिवार्य नहीं है। उसकी इच्छा पर निर्भर है, कर्म करे या न करे। इसी कारण तो भक्ति को स्वतंत्र बताया गया है। वेदव्यास कहते हैं—

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

(भाग. 3-29-12)

भक्ति के ऊपर कर्म, ज्ञान आदि किसी का आवरण नहीं रह सकता। रामायण के अनुसार—

भक्ति स्वतंत्र सकल सुख खानी।

रूप गोस्वामी आदि रसिकों के मतानुसार —

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

(भ. र. सि.)

अर्थात् ज्ञान, कर्म, तपश्चर्यादि से भक्ति अनाच्छन्न रहती है। वह स्वतंत्र है। एक प्रश्न आता है कि वेदव्यास के कथनानुसार—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(भाग. 11-20-9)

अर्थात् जब तक वैराग्य न हो जाय, वर्णाश्रम-धर्म का पालन करना चाहिये। इसका उत्तर भी वेदव्यास ने दिया है कि भक्तियोग के अनुरूप वैराग्य प्रायः सभी को होता है—

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।

(भाग. 11-20-8)

अर्थात् भक्तियोग का विरक्त अधिकारी वही है, जो न अत्यन्त आसक्त हो, न अत्यन्त विरक्त हो। चूँकि संसार में किसी को सुख मिल ही नहीं सकता, अतएव सभी नातिसक्त नातिविरक्त हैं।

एक प्रश्न होता है कि यदि सब नातिसक्त नातिविरक्त हैं तो कर्म का प्रतिपादन किसके लिये है ? इसके उत्तर में वेदव्यास कहते हैं कि—

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।

(भाग. 11-20-9)

अर्थात् जब तक भगवान् की कथा आदि में श्रद्धा न हो जाय तब तक कर्म किया जा सकता है अथवा केवल स्वर्ग-प्राप्ति अभीष्ट हो तो वह कर्म कर सकता है अथवा जो इने-गिने घोर संसारासक्त हों वे कर्म के अधिकारी हो सकते हैं।

एक प्रश्न यह भी आता है कि गीता कहती है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(गीता 16-24)

अर्थात् अर्जुन! तुझे क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसका निर्णय शास्त्र देगा। भावार्थ यह कि तुझे शास्त्र की आज्ञा माननी ही चाहिये। पुनः गीता में कहा—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता 16-23)

अर्थात् जो शास्त्र की बात नहीं मानता, वह न इस लोक में सुख पाता है न परलोक में ही सुख पाता है और न परागति ही प्राप्त कर सकता है। तो शास्त्र-विहित कर्म का परित्याग कैसे होगा ?

इसका उत्तर तो इसी श्लोक में भगवान् ने दे दिया है कि जो '**कामकारतः**' अर्थात् उच्छृंखलतावश विषयासक्ति के कारण शास्त्रोक्त-धर्म का उल्लंघन करता है, वह निन्दनीय है किन्तु शास्त्रों के एकमात्र ज्ञेय, ध्येय, प्रतिपाद्य

ईश्वर की भक्ति करने वाले के लिये यह नियम नहीं लागू होगा। इसी आशय से वेदव्यास भी कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥

(भाग. 10-46-4)

अर्थात् गोपियों ने लौकिक-वैदिक दोनों धर्मों का परित्याग किया, पतियों की आज्ञा का भी उल्लंघन किया किन्तु चूँकि मेरे लिए किया है, अतएव वे प्राणप्रिय हैं। सिद्धान्त यह है कि—

मन्निमित्तं कृतं पापं मद्धर्माय च कल्पते।
मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥

(वेदव्यास)

मेरे निमित्त किया हुआ पाप भी धर्म हो जाता है, किन्तु मुझ को छोड़ कर किया हुआ धर्म भी पाप हो जाता है। अब इससे बड़ा स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है ? नारद जी ने भी स्पष्ट लिखा है कि लोकवेद का कर्म भक्ति में विक्षेप-रूप है, जिसे निरोध शब्द से प्रकट करते हुए कहा है कि—

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः।

(ना. भ. सू - 8)

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।

(ना. भ. सू - 9)

अर्थात् ईश्वर-भक्ति में एक तो लौकिक-वैदिक कर्म का रोग नहीं होना चाहिये, दूसरे ईश्वर में अनन्यता होनी चाहिये, तीसरे ईश्वर के अतिरिक्त

समस्त पदार्थों से उदासीनता होनी चाहिये। उदासीनता का भाव है कि न राग हो, न द्वेष हो।

एक स्वाभाविक प्रश्न यह भी होता है कि जब वेद कहता है कि —

धर्मेण पापमपनुदति।

अर्थात् धर्म से पाप नष्ट होता है, तो फिर क्या धर्म से मुक्ति नहीं हो सकती ? इसका उत्तर वेदव्यास ने बड़ा सुन्दर दिया है। उन्होंने कहा कि—

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥

(भाग. 11-14-22)

अर्थात् सत्य एवं दया से युक्त धर्म तथा तपश्चर्या से युक्त विद्या भी अन्तःकरण की शुद्धि नहीं कर सकती। पुनश्च—

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया॥

(भाग. 6-2-17)

अर्थात् दान, यज्ञ, तप व्रतादि वैदिक-धर्मों से पाप तो नष्ट होता है किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती। आप लोग कहेंगे, जब पाप नष्ट होता है, तब अन्तःकरण की शुद्धि तो स्वयमेव हो ही जायगी। किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे, आपने एक गोहत्या का पाप किया, अब उसके लिये लिखे हुए धर्मानुकूल प्रायश्चित्त भी किये, जिससे गोहत्या का पाप तो नष्ट हो गया किन्तु पाप करने की चित्तवृत्ति का नाश नहीं हुआ। आप पुनः पाप करेंगे और इसी प्रकार सदा पाप करते रहेंगे एवं उसके लिये प्रायश्चित्त कर्म-धर्म का पालन करते रहेंगे। इस प्रकार चित्त-शुद्धि कभी न हो सकेगी।

पुनश्च, पाप तो कम समय में होता है, प्रायश्चित्त अधिक समय में होता है। पुनश्च, यदि पाप सदा के लिए नष्ट हो जाय तो भी अनन्तानन्त जन्मों के संचित पाप-पुण्य अनन्तकाल के प्रायश्चित्त से भी न समाप्त होंगे क्योंकि वे अनन्त हैं। तब फिर मुक्ति कैसे मिलेगी? अस्तु, अन्तःकरण की शुद्धि के लिये भक्ति करनी पड़ेगी। आदि शंकराचार्य तक कहते हैं—

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोज भक्तिमृते॥

अर्थात् श्रीकृष्ण-भक्ति के बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती और अन्तःकरण की शुद्धि के बिना बहिरंग पाप के प्रायश्चित्त से भविष्य में पाप न होने की कोई गारंटी नहीं है। तात्पर्य यह कि भक्ति के बिना धर्म पालन मात्र से मुक्ति तो दूर की बात है, अन्तःकरण-शुद्धि तक ही नहीं हो सकती।

यही कारण है कि बिना ईश्वर-भक्ति के हम धर्म करते हुए भी ईश्वरीय फल से वंचित रहते हैं। मछली गंगाजल में सदा रहती है, पर भक्ति के बिना उद्धार नहीं होता। आप लोग यह आशा करते हैं कि एक डुबकी लगाने मात्र से हम बैकुण्ठ पहुँच जायें। यह सब धोखा है।

आप कहेंगे कि आग में मन लगायें या न लगायें वह तो, एक सती होने वाली नारी को भी जलाती है एवं बरबस अग्निकुंड में डाल दिये गये व्यक्ति को भी जलाती है, उसी प्रकार गंगा जी में डुबकी लगाने से गंगा जी तो अपना फल देगी ही। किन्तु यह बताओ कि तुमने हजारों बार गंगा-यमुना स्नान किया, क्या निष्पाप हो गये? अर्थात् अब तुम काम, क्रोध, लोभादि से परे हो गये? तब वह सिर खुजलाता है कि ऐसा तो नहीं हुआ। तो फिर पाप कहाँ धुला? वास्तव में ऐसे भोले लोग ही शास्त्र को कलंकित करते हैं। आइये, इस प्रश्न को हल ही कर लीजिये।

देखिये, आप प्रथम एक शीशी में पेशाब भरिये। पुनः उसे बन्द करके गंगा जी में डाल दीजिये। पुनः २४ घंटे बाद उस शीशी को निकालिये, क्या कोई इस पेशाब का आचमन करेगा? आप कहेंगे, नहीं। पूछा जाय, क्यों नहीं? तो आप उत्तर देंगे कि शीशी में रहने वाला पेशाब तो गंगा जी में मिला ही नहीं, वह तो बन्द था। बस, तो अब यह बताइये कि पाप कहाँ रहता है? मन में न? आप कहेंगे हाँ। तो आपने मन को तो गंगा जी से बाहर रखा था, शरीरमात्र से गंगा-स्नान कर रहे थे। अतः फिर मन के अन्दर रहनेवाला पाप कैसे धुलेगा? शास्त्र तो यह कहते हैं कि जहाँ पापादि रहता हो, उसे शुद्ध वस्तु में एक कर दो तो शुद्ध हो जायेगा। यदि तुम अन्तःकरण को गंगाजी में एक कर दो निश्चय शुद्धि हो जाय। अतएव ईश्वर-भक्ति के बिना केवल कर्म से मुक्ति सर्वथा असम्भव है। तुलसी के शब्दों में—

वारि मथे बरु होय घृत, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

अर्थात् असम्भव भी सम्भव हो जाय, किन्तु बिना ईश्वर-भक्ति के मुक्ति नहीं हो सकती। पुनः रामायण कहती है—

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई। रहि न सकई हरि भगति बिहाई॥

वास्तव में माया के तीन गुण हैं - सात्त्विक, राजस एवं तामस। उन्हीं गुणों के अनुसार तीन प्रकार के कर्म भी होते हैं- सात्त्विक, राजस और तामस कर्म। उन्हीं कर्मों के अनुसार फल भी होते हैं - सात्त्विक फल, राजस फल एवं तामस फल। उन्हीं फलों के अनुसार लोक भी प्राप्त होते हैं - सात्त्विक लोक अर्थात् स्वर्गादिक लोक, राजस लोक अर्थात् मृत्युलोक एवं तामस लोक अर्थात् नरकादि लोक। इस प्रकार धर्मादि पुण्यकर्म सात्त्विक गुण माया

का ही है, अतएव तत्सम्बन्धी लोक भी मायिक ही हैं, अतः तत्सम्बन्धी परिणाम भी मायिक ही हैं। अतएव त्रिगुण के किसी भी कर्म से कर्म ग्रन्थियों का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। गुणातीत एक मात्र ईश्वर ही है, अतएव यदि कर्म में ईश्वर-भक्ति का संयोग न होगा तो वह सात्त्विक हो या राजस हो या तामस किन्तु मायिक होने के कारण सदोष एवं दु:खमय ही होगा। अतएव कर्मयोग में केवल इतना ही समझना है कि मन ईश्वर में नित्य लगा रहे एवं कर्म-धर्म का पालन शरीर से होता रहे। इसमें दो विरोधी बातें हैं।

कर्म करते समय यदि ईश्वर में मन लगा रहेगा तो कर्म कैसे होंगे? क्योंकि इन्द्रियाँ सोचने या निश्चय करने का कार्य नहीं कर सकतीं। यदि मन का संयोग न होगा तो इन्द्रियाँ होते हुए भी न होने के ही बराबर हैं। यह क्रियात्मक रूप से कैसे होगा? यह गम्भीररूपेण विचारणीय है। इसका विस्तृत वर्णन साधना के प्रकरण में होगा। अभी इतना ही समझ लीजिये कि '**मन यार में तन कार में**' बस यही कर्मयोग है। यदि मन का लगाव ईश्वर से पृथक् कहीं हुआ तो आप कर्मयोग नहीं कर सकते। कर्मयोग तो तभी सम्भव है जब मन नित्य ईश्वर में रहे, एक क्षण के लिए भी पृथक् न हो।

'**यो मां स्मरति नित्यशः**', '**एवं सततयुक्ता ये**', '**सततं कीर्तयन्तो मां**', '**तेषां नित्याभियुक्तानां**', इत्यादि गीतोक्त सिद्धान्तों द्वारा यह निर्विवाद सिद्ध है कि मन का ईश्वर में लगाव नित्य निरन्तर होना चाहिए।

ज्ञान एवं ज्ञानयोग

अब ज्ञान एवं ज्ञानयोग पर विचार करना है। यह बहुत ही गम्भीर एवं विस्तृत विषय है, फिर भी हल्का-फुलका प्रकाश डाला जायगा। सामान्यतया ज्ञान दो प्रकार का होता है - एक शब्दात्मक ज्ञान, दूसरा अनुभवात्मक ज्ञान। शब्दात्मक ज्ञान में किसी विषय का शाब्दिक ज्ञान तो रहता है किन्तु साधना द्वारा उसका अनुभव नहीं हुआ होता। ऐसा ज्ञान थोथा होता है।

यह शब्दात्मक एवं अनुभवात्मक ज्ञान दो विषय का होता है - एक मायिक विषय का, दूसरा मायातीत विषय का। मायिक विषय का शब्दात्मक ज्ञान आप जानते ही हैं। जैसे, कोई छात्रा पाक-शास्त्र की पुस्तिका याद कर ले एवं तद्विषयक लेक्चर भी दिया करे किन्तु रसोई कभी न बनायी हो। अनुभवात्मक ज्ञान उसे कहते हैं, जो रसोई बनाने की प्रक्रिया जानकर तदनुकूल क्रिया भी कर चुकी हो यानी रसोई बनाती हो।

इसी प्रकार ईश्वरीय विषय का ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। जैसे, ईश्वरीय विषय का शाब्दिक ज्ञान तो प्रचुर मात्रा में हो, वेद-शास्त्र कंठस्थ हों, प्रवचन भी दे सकता हो, बड़ी-बड़ी बातें बता सकता हो किन्तु स्वयं ने कुछ भी साधना न की हो। यह शाब्दिक ईश्वरीय ज्ञान है। अनुभवात्मक ईश्वरीय ज्ञान वह है जिसमें वेद-शास्त्र सम्मत आप्तानुमोदित पथ पर चलकर ईश्वर को ईश्वरीय कृपा द्वारा जाना हो। अब हम ईश्वरीय शाब्दिक ज्ञान एवं ईश्वरीय

अनुभवात्मक ज्ञान पर विचार करेंगे क्योंकि प्राकृत शाब्दिक ज्ञान अथवा प्राकृत अनुभवात्मक ज्ञान तो हमारे परमानन्द-प्राप्ति के लक्ष्य को सम्पादित नहीं कर सकता। वेद के अनुसार—

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳩ रताः।

अर्थात् ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति का घोर पतन होता है। रामायण में तो ज्ञान शब्द का ऐसा प्रयोग है कि महान् बुद्धिमान भी भ्रान्त हो जाय। यथा, प्रथम यह कहा कि '**ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा**' अर्थात् ज्ञानी भगवान् को विशेष प्रिय है। पुनः कहा—

ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।

अर्थात् ज्ञानी और भक्त में कोई भेद नहीं है। पुनः कहा—

भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ।

अर्थात् ज्ञानी प्रिय नहीं है। पुनः कहा—

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

अर्थात् जैसे कोई मूर्ख व्यक्ति घर में प्राप्त कामधेनु गाय का दूध न पिये और जंगलों में मदार का विषात्मक दूध ढूँढ़े, ऐसे ही ज्ञानी लोग भी मूर्ख हैं जो ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं। इतने पर भी तुलसीदास जी महाराज चुप नहीं हुए, उन्होंने पुनः कहा—

ते शठ महासिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

अर्थात् ज्ञानी लोग शठ हैं क्योंकि जैसे कोई शठ अपार समुद्र को तैर कर पार करने का दु:साहस करता है, वैसे ही ज्ञानी भी ज्ञानमार्ग द्वारा ईश्वर को जान लेना चाहता है। पुनः और भयानक कहा—

रामचन्द्र के भजन बिनु जे चहँ पद निर्वाण।
ग्यानवन्त अपि सो नर पशु बिनु पूँछ विषाण॥

अर्थात् ज्ञानी ज्ञानमार्ग के द्वारा निर्वाणपद चाहता है अतएव वह पशु है, एवं सींग-पूँछ रहित पशु है। अब बताइये, इसमें क्या सच माना जाय? एक ओर आप्त ग्रंथ कहते हैं कि—

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति असम्भव है। पुनः—

ज्ञानादेव हि कैवल्यम्

अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष मिल सकता है। गीता में ही कहा—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

(गीता 4-38)

अर्थात् ज्ञान के सदृश कोई वस्तु नहीं है। यहाँ तक कि रामायण में ही, जैसा मैंने पूर्व में बताया, यह कहा कि '**ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा।**' गीता में भी इसी आशय से कहा कि '**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**'। अब एक साधारण व्यक्ति ज्ञान के विषय में क्या निश्चय करे?

वस्तुतः ज्ञान की जहाँ भी निन्दा पायी जाती है, वह केवल शाब्दिक ज्ञान की ही हो सकती है क्योंकि शाब्दिक ज्ञान महान् हानिकारक है। आप कहेंगे, बिना शाब्दिक ज्ञान के क्रिया का भी प्रारम्भ न होगा, तब अनुभव कैसे होगा? हाँ, बात तो ठीक है कि प्रथम शाब्दिक ज्ञान भी अनिवार्य है, तभी तत्सम्बन्धी साधना द्वारा अनुभव हो सकता है। किन्तु, गम्भीर बात यह है कि यदि केवल शाब्दिक ज्ञान होगा तो अनुभव-हीन होने के कारण वह मिथ्याभिमानी बन जायगा, अतएव शब्दज्ञान-रहित व्यक्ति से भी उसका अधिक पतन हो जायगा। आप किसी आध्यात्मिक क्षेत्र में जाकर देखें, मंदिर

ही में देखें, वहाँ शाब्दिक ज्ञानी की शब्दावली में कितनी कर्मठता होती है। जिस समय एक शाब्दिक ज्ञानी एक श्लोक पढ़ता है, ऐसा लगता है जैसे कोई उसकी वाणी ऐंठ रहा हो, किन्तु एक मूर्ख व्यक्ति जब मंदिर में जाता है तो भले ही वह '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**', यह एक ही श्लोक कहे किन्तु उसके उच्चारण में हृदय का भाव निहित होता है। कारण स्पष्ट है कि वह मूर्ख यह कैसे सोच सकता है कि मैं सब कुछ समझता हूँ और वह शाब्दिक ज्ञानी यह कैसे भुला दे कि वह शास्त्रों-वेदों का ज्ञाता है।

आप लोग जानते हैं कि मिथ्याभिमान ही भगवान् से पृथक् करने वाला महान् विरोधी तत्त्व है। जब शाब्दिक ज्ञानी को यह सोचने का समय ही नहीं है कि मैं कुछ नहीं समझता तब वह भला साधना का श्रीगणेश कैसे करे? उसका लक्ष्य तो एक मात्र यही रहता है कि लोग मुझे यह समझें कि मैं ज्ञानी हूँ। बस, इसी लोकरंजन के लक्ष्य से वह प्रतिक्षण चिन्तित रहता है और अन्तःकरण तो यह जानता ही रहता है कि मैं खाक नहीं जानता। अस्तु ऐसे कोरे शाब्दिक ज्ञान से मिथ्याभिमान की ही वृद्धि होती है। अतएव वह ईश्वर की ओर नहीं जा सकता, परिणामस्वरूप पतन की ओर ही बढ़ता जाता है। अतएव ऐसा शाब्दिक ज्ञानी उन मूर्खों से भी निकृष्ट है जो श्रद्धायुक्त होकर किसी न किसी रूप में ईश्वर की उपासना करते हैं। भावार्थ यह कि शाब्दिक ज्ञान निन्दनीय है। किन्तु यदि उसका उपयोग किया जाय तो परम वंदनीय है। शाब्दिक ज्ञान साधना के लिये परम वंदनीय है तथा साधना के लिये परम अनिवार्य है। यह ध्यान रहे कि उसके बिना हमारा काम न बनेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि मैं शाब्दिक ज्ञान में विश्वास नहीं करता। पर यह कहना यहाँ तक तो ठीक है कि मैं केवल शाब्दिक ज्ञान मात्र में ही रह जाने में विश्वास नहीं करता, किन्तु यदि उनके उपर्युक्त कथन का यह आशय है कि साधना ही करनी चाहिये, शाब्दिक तत्त्वज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं,

तो यह सोचना नितान्त मूर्खता है। कारण यह है कि अनन्तानन्त जन्मों के संस्कारों के परिणामस्वरूप जो विचार अन्तःकरण में आ चुके हैं, जो संशय भर गये हैं उनका निवारण परम अनिवार्य है एवं साधना करते समय जो गड़बड़ी भीतर से या बाहर से अचानक आया करती है, उसके परिहार के लिये भी शाब्दिक ज्ञान अनिवार्य है। हाँ, सिद्धि मिल जाने पर शाब्दिक ज्ञान का परित्याग हो सकता है। जैसे, किसी व्यक्ति के पैर में काँटा चुभ गया हो तो उसे समस्त काँटों की बुराई नहीं करनी चाहिये। सर्वप्रथम एक बड़ा काँटा अपेक्षित है, पुनः जब उस बड़े काँटे से पैर के चुभे हुए काँटे को निकाल दिया जाय, तब दोनों काँटों का अपमान हो सकता है। अर्थात् प्रथम शाब्दिक ज्ञान के आधार पर साधना करके अज्ञान को निकाल दे एवं वास्तविक अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त कर ले, पश्चात् शाब्दिक ज्ञान एवं अज्ञान दोनों को फेंक दे। यदि पूर्व में ही वेदों-शास्त्रों के शाब्दिक ज्ञान का परित्याग कर देगा तो मार्ग में ही लुढ़क जायगा। वेद कहता है—

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।

(*शाट्यायनी उप. 4*)

अर्थात् वेद के शाब्दिक-ज्ञान के बिना ईश्वर का अनुभव-ज्ञान नहीं हो सकता। वस्तुतः कोई भी ईश्वरीय शाब्दिक-ज्ञान तभी अनुभव-ज्ञान बन सकता है, जब ईश्वर की भक्ति की जाय। बिना ईश्वर की भक्ति के ज्ञानी (यानी शाब्दिक-ज्ञानी) ज्ञानयोगी अर्थात् अनुभव-ज्ञानी नहीं बन सकता, यह अकाट्य सिद्धान्त है। आप कहेंगे, जैसे कर्म के साथ भक्ति आ धमकी थी, ऐसे ही ज्ञान के साथ भी आ गयी। जी हाँ, भक्तिरहित ज्ञान वास्तविक ईश्वरीय ज्ञान कराने में सर्वथा असमर्थ है। भक्तिहीन ज्ञान के विषय में ही तुलसीदास जी ने कहा है कि—

योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

अर्थात वह ज्ञान 'अज्ञान' है, जिससे ईश्वर-प्रेम न हो। आप संसार के उदाहरण से समझ लीजिये। कल्पना कीजिये कि एक ऑफीसर के चपरासी ने एक पत्थर ड्राइंग-रूम की मेज पर रख दिया। जब ऑफीसर आया तो उसने रोष में पूछा, 'यह पत्थर यहाँ क्यों रखा है ?' चपरासी ने कहा, 'हजूर! एक बाबाजी ने दिया है। और कहा है कि साहब से कह देना यह पारस है। वह साहब क्रोध में भर गया और चपरासी को 'फुलिश' (foolish) आदि कहता हुआ बड़बड़ाने लगा एवं उस पत्थर को लेकर बाहर फेंक दिया। बाहर लोहे का सामान पड़ा था, उसमें लगने के कारण वह लोहा सोना बन गया। अब साहब ने जान लिया कि वह पारस है। बस, फिर क्या था, वह स्वयं दौड़ कर उस पत्थर को उठा लाया और उसे ताले के भीतर रखा। इतना ही नहीं, सांसारिक सुख की अन्तिम सीमा भी उसके हृदय में भर गयी। वह विभोर होकर मस्त हो गया, सोचने लगा, अब तो हम स्वयं ईश्वर बन जायेंगे, इत्यादि। आप यह सोचिये कि जब तक पारस को नहीं जाना था तब तक उससे प्यार नहीं था किन्तु जैसे ही पारस को जाना, प्यार हो गया।

तो ईश्वर-सम्बन्धी वैदिक-शाब्दिक ज्ञान पर हम विश्वास कर लें तो तत्क्षण ईश्वर से प्यार हो जायगा और ज्यों-ज्यों प्यार बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों ज्ञानानुभव भी बढ़ता जायगा। इसका विशेष विस्तार आगे आयेगा। अतएव यदि कोई ज्ञानी वास्तव में ज्ञानी बनने का दावा करता है किन्तु भक्ति से शून्य है तो वह ज्ञानी अज्ञानी महानुभावों का नेता ही माना जायगा क्योंकि वह ज्ञानी नहीं है, अपितु मिथ्या-ज्ञानाभिमानी मात्र ही है और ऐसे मिथ्या-ज्ञानाभिमानी को महत्तम ब्रह्मादि भी नही समझा सकते क्योंकि मिथ्याभिमान के कारण जिज्ञासा समाप्त हो जाती है और वह किसी बात पर विश्वास करने में संकोच करता है।

वेदव्यास ने संक्षेप में बड़ी सुन्दर परिभाषा की है। उन्होंने कहा कि—

सा विद्या तन्मतिर्यया

(भाग. 4-29-49)

अर्थात् ज्ञान वही है, जिससे ईश्वर-भक्ति हो। पुनः वेदव्यास ने कहा कि

श्रेयःस्त्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(भाग. 10-14-4)

अर्थात् भक्ति के बिना ही जो केवल ज्ञान के द्वारा ही ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे उसी मूर्ख स्त्री के समान हैं जो चावल निकाले हुए धान के तुष (भूसी)को पुनः कूटती हुई एवं पछोरती हुई यह आशा करती है कि इससे पुनः चावल निकलेगा। भावार्थ यह कि केवल परिश्रम ही हाथ लगेगा, तत्त्व की प्राप्ति का तो सपना भी न पूरा होगा।

गीता में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।

(गीता 14-26)

अर्थात् मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा ही ज्ञानी ब्रह्मभूतस्वरूप को प्राप्त होता है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।

(गीता 18-54)

पुनः ब्रह्मभूतावस्था हो जाने पर यद्यपि समदर्शी हो जाता है, कामना आदि समाप्त हो जाती है, वियोग का दुःख भी नहीं होता, फिर भी ईश्वरीय ज्ञान

नहीं हो पाता अतएव उपर्युक्त अवस्था से पुनः पतन हो जाता है। किन्तु, जब ऐसे ज्ञानी को पराभक्ति मिल जाती है तब—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता 18-55)

अर्थात् तब उस परा-भक्ति से वह आत्मज्ञानी मुझ ईश्वर को पूर्णतया जान पाता है कि मैं कितना हूँ एवं क्या हूँ, अर्थात् अपूर्ण-ज्ञान (आंशिक-ज्ञान) भक्ति के द्वारा परिपूर्णता को प्राप्त होता है। इसी आशय से '**अभिजानाति**' अर्थात् पूर्व-ज्ञान को पुनः पूर्णतया जानना, ऐसा लिखा है। तब ईश्वर के पूर्ण ज्ञान के पश्चात् ईश्वर में वह लीन हो जाता है। अब और भी स्पष्ट गीतोक्ति पर ध्यान दीजिये। गीता कहती है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता 9-15)

अर्थात् ज्ञानी अथवा अन्य कोई भी, सब मेरी भक्ति करते हैं। '**मामुपासते**', शब्द से स्पष्ट है कि ज्ञानी को भी उपासना करनी है, यह चाहे अभेद-भक्ति हो चाहे भेद-भक्ति हो, या अन्य कोई स्वरूप हो। क्योंकि पुनः गीता कहती है कि—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता 8-22)

अर्थात् वह परात्पर परमपुरुष ईश्वर एक मात्र अनन्य-भक्ति से ही प्राप्य है। जिस ज्ञानी को भगवान् ने अपनी आत्मा के समान प्रिय कहा है, वह ज्ञानी-भक्त है। गीता कहती है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(गीता 7-16)

अर्थात् चार प्रकार से मेरी भक्ति की जाती है। '**भजन्ते**' शब्द विचारणीय है। इसमें आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तो सकाम भक्त हैं, एवं ज्ञानी-भक्त प्रभु को अत्यन्त प्रिय हैं। पुनः गीता कहती है कि—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

(गीता 12-1)

अर्थात् जब भगवान् से अर्जुन ने पूछा कि महाराज! कुछ भक्त तो निराकार-ब्रह्म की अभेद-भक्ति करते हैं, कुछ साकार भगवान् की भेद-भक्ति करते हैं तो इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है? तो भगवान् ने उत्तर दिया, दोनों ही कृतार्थ हैं क्योंकि '**अव्यक्तं पर्युपासते**' वे निराकार ब्रह्म की भक्ति ही तो करते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि मार्ग के काठिन्य के दृष्टिकोण से अभेद-भक्ति-रूपी ज्ञानयोग अत्यन्त कठिन है। सारी गीता में केवल एक श्लोक माया-निवृत्ति के हेतु विचारणीय है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता 7-14)

अर्थात् यह मेरी दैवी त्रिगुणात्मिका माया तभी छोड़ सकती है जब तुम मेरी शरण में आ जाओ, अर्थात् भक्ति के बिना ज्ञानादि से मुक्ति न होगी। सम्पूर्ण गीता में भगवान् ने एक स्थल पर यह कहा है कि मैं अत्यन्त सुगम हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता 8-14)

अर्थात् अनन्य मन से जो निरन्तर मेरी भक्ति करता है उसके लिये मैं सुलभ हूँ। और पुनः कहा कि—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता 7-19)

अर्थात् बहुत जन्मों के निरन्तर प्रयास के पश्चात् ज्ञानी मेरी शरण में आता है, तब वह '**सर्ववित्**' कहलाता है। अतएव पुनः गीता कहती है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता 15-19)

अर्थात् सम्पूर्ण तत्त्ववेत्ता ज्ञानी शरणागति के पश्चात् मेरा भजन करते हैं।

सम्पूर्ण गीता में केवल एक स्थल पर भगवान् ने कहा कि मैं दिव्य हूँ किन्तु अनन्य भक्ति द्वारा मुझे कोई भी देख सकता है, कोई भी जान सकता है, कोई भी प्रविष्ट हो सकता है, यथा—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता 11-54)

सम्पूर्ण गीता में केवल एक स्थल पर भगवान् ने प्रतिज्ञा पूर्वक चुनौती दी है, यथा—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

(गीता 9-31)

अर्थात् हे अर्जुन! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मेरे भक्त का पतन नहीं हो सकता। अन्य केवल ज्ञानी या केवल कर्मी का मैं ठेका नहीं लेता। पुनः गीता में भगवान् कहते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

(गीता 12-6)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता 12-7)

अर्थात् सब कर्मादि को मेरे में समर्पित करके अनन्यभाव से जो मेरी उपासना करता है, उसको संसार से तारने का मैं ठेका लेता हूँ। पुनः सम्पूर्ण गीता में सम्पूर्ण ठेकेदारी का निरूपण एक स्थल पर करते हैं, यथा—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता 9-22)

अर्थात् जो अनन्य-भाव से एक मात्र मेरी भक्ति करते हैं, ऐसे नित्ययुक्त भक्तों के योगक्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् अप्राप्त को देना एवं प्राप्त की रक्षा करना, यह मैं स्वयं करता हूँ।

सम्पूर्ण गीता में भगवान् ने एक स्थल पर अपने को पक्षपाती सिद्ध किया है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता 9-29)

अर्थात् अर्जुन! वैसे तो मैं सब के लिये समदर्शी ही हूँ, न कोई मेरा मित्र है और न शत्रु है, फिर भी जो मेरे भक्त हैं उनमें मैं नित्य निवास करता हूँ। भावार्थ यह कि उनको मैं कृपा द्वारा सदा संभाले रहता हूँ।

सम्पूर्ण गीता में पुनः एक ही स्थल पर भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता 4-11)

अर्थात् भोले लोग समझते हैं कि मैं आत्माराम पूर्णकाम हूँ अतएव कुछ नहीं करता। यद्यपि जनसाधारण के लिये यह ठीक है, किन्तु यदि कोई मेरी शरण में आता है तो मैं उसकी सेवा करता हूँ। जैसे नवजात शिशु की सेवा माँ करती है वैसे ही मैं शरणागत का भजन करता हूँ। आपको यदि यह विश्वास हो जाय कि भगवान् हम नगण्य जीवों का भजन केवल शरणागति मात्र से ही करते हैं तो तत्क्षण आप शरणागत हो जायें।

पुनः सम्पूर्ण गीता में एक स्थल पर भगवान् ने कहा है कि—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता 18-66)

हे अर्जुन! शरणागत होने के पश्चात् तुझे अपने अनन्तानन्त जन्मों के या वर्तमान या भविष्य के पापों पर कुछ सोच-विचार नहीं करना है क्योंकि शरणागति के क्षण से तो मैं ही संचालक संरक्षक बना रहूँगा एवं पिछले

अनन्त जन्मों के पापों को भी मैं क्षमा कर दूँगा, तू कुछ चिंता न कर। अर्थात् शरणागति के पश्चात् भक्त को भगवान् त्रिकाल के लिये निश्चिन्त कर देते हैं। पुनः सम्पूर्ण गीता में एक स्थल पर कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता 10-10)

अर्थात् जो निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं, उन्हें मैं अपनी कृपा से वह दिव्य ज्ञान देता हूँ जिससे वे सहज में ही सब कुछ जान लेते हैं।

सम्पूर्ण गीता में एक ही स्थल पर भगवान् ने यहाँ तक कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता 9-30)

अर्थात् देखने में घोर दुराचारी भी यदि मेरी अनन्य भक्ति करता है तो वह महात्मा ही मानने योग्य है क्योंकि उसने मुझे समझ लिया है। इसी आधार पर तो सुग्रीव, विभीषण आदि के देखने में दुष्कर्म को भगवान् ने देखा ही नहीं।

सम्पूर्ण गीता में एक ही स्थल पर भगवान् ने सबसे अन्तरंग से अन्तरंग बात कही है, यथा—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(गीता 18-64)

अर्जुन! तू मेरा प्रिय है अतएव मैं तुझे गुप्त से गुप्त बात सुनाता हूँ, इतनी गुप्त बात सबसे नहीं कही जाती। वह गुप्त बात क्या थी?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता 18-65)

अर्थात् अर्जुन! तू निरन्तर मेरे ही में मन लगाये रह, मेरी ही भक्ति कर, तो मेरे ही भीतर निवास करेगा और सदा आनन्दमय रहेगा।

अब आप गीता के द्वारा भली-भाँति समझ गये होंगे कि बिना भक्ति के, ज्ञान द्वारा कदापि परमानन्द-प्राप्ति का लक्ष्य हल नहीं हो सकता। अतएव निर्गुण-निराकार-निर्विशेष ब्रह्म की अभेदोपासना का नाम ही ज्ञानयोग है एवं सगुण-सविशेष-साकार भगवान् की भेद-भक्ति का नाम ही भक्तियोग है। इन दोनों को ही कृतार्थ कहा गया है क्योंकि दोनों ही ईश्वर-भक्ति करते हैं।

एक सबसे बड़ी मार्मिक बात यह है कि बिना भक्ति के ज्ञान-मार्ग में प्रवेश भी नहीं हो सकता। यदि प्रवेश हो जाय तो पुनः मार्ग में पतन हो जायगा और यदि जीवन्मुक्त भी हो गया तो भी पुनः बंधन हो सकता है। अब उपर्युक्त बातों को गंभीरतापूर्वक समझिये।

प्रथम यह कि बिना भक्ति के ज्ञान-मार्ग में प्रवेश ही न होगा। वह इसलिए कि—

'निर्विण्णानां ज्ञानयोगः।'

(भाग. 11-20-7)

अर्थात् साधन-चतुष्टय से सम्पन्न पूर्ण-विरक्त ही ज्ञान का अधिकारी है। अतएव जब तक सगुण साकार भगवान् की भेद भक्ति द्वारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो जाता, ज्ञान-मार्ग में प्रवेश ही असंभव है।

दूसरे यह कि यदि प्रवेश भी हो जाये तो वेदव्यास जी के कथनानुसार—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन स्त्वय्यस्तभावाद विशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः॥

(भाग. 10-2-32)

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥

(भाग. 10-2-33)

अर्थात् जो भक्ति-रहित ज्ञान के सोपान से भगवान् के पास जाना चाहते हैं, वे मार्ग से ही गिर जाते हैं किन्तु भक्ति-सोपान से जाने वाला नहीं गिरता, और कारण यह बताया कि भक्ति-सोपान से जाने वाले यात्री की भगवान् स्वयं रक्षा करते हैं। अतएव एक तो उन भक्तों को अपनी कोई चिन्ता ही नहीं रखनी पड़ती, दूसरे उनका मार्ग से पतन भी नहीं होता।

तीसरे यदि कोई ज्ञानी, ज्ञान-मार्ग से पार भी हो गया और समाधि में जाकर निर्विकल्प हो गया तो भी उसका पतन हो सकता है। वासनाभाष्य के अनुसार—

जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्मभिः ।

जीवन्मुक्त को भी पुनः बंधन हो जाता है, क्योंकि वे ईश्वर-भक्ति नहीं करते, अतएव ईश्वर उनका ठेकेदार नहीं होता। अतएव जड़भरत आदि जीवन्मुक्त ज्ञानी को भी हिरण बनना पड़ा। वास्तव में समाधि एक ऐसी गुफा है जहाँ माया नहीं जाती, किन्तु जैसे ही समाधिस्थ ज्ञानी बाह्य जगत में आता है, वैसे ही माया धर दबाती है। जैसे, किसी व्यक्ति को मधुमक्खी काट रही हो तो वह बेचारा चारों ओर भागकर भी नहीं बच पाता, अन्त में किसी बुद्धिमान् की सम्मति द्वारा पानी में सिर डुबो लेता है, तब मधुमक्खी से बच जाता है। किन्तु, जैसे ही सिर पानी से बाहर निकालता है, वैसे ही मधुमक्खी

डंक से प्रहार करना प्रारम्भ कर देती है। ज्ञानी की समाधि भी ऐसी ही है। जहाँ जाकर पुनः रोग न लग सके ऐसी स्थिति तो केवल शरणागति ही है क्योंकि उसमें भक्त को कुछ करना ही नहीं पड़ता, उसका तो जगत्कर्त्ता ही स्वयं कर्त्ता बन जाता है।

आजकल प्रायः किसी आध्यात्मिक कहलाने वाले बाबा के पास कोई जिज्ञासु जाता है और पूछता है कि भव-रोग की कुछ औषधि बताइये, बहुत कष्ट पा रहा हूँ तो बाबा लोग पूरा औषधालय खोल कर रख देते हैं और कहते हैं कि आपको जो पसन्द हो ले लीजिये, हमने तो अनेक प्रकार की अनेक औषधियाँ रखी हैं। अब जरा पूछिये बाबाजी से, यदि मरीज को यह बुद्धि होती कि वह अपना निदान कर ले तो फिर डॉक्टर (doctor) की आवश्यकता ही क्या थी ? यह सब धोखा है। अर्थात् आप मनमाने ढंग से किसी मार्ग का अवलम्ब नहीं ले सकते, अपितु जिस मार्ग के अधिकारी हैं, उसी मार्ग से चलने से लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। पूर्ण विरक्त के लिये ज्ञान-मार्ग है एवं नातिसक्त नातिविरक्त के लिए भक्ति-मार्ग एवं अत्यन्त आसक्त के लिए कर्म-मार्ग है।

अब आप समझ गये होंगे कि इन तीन मार्गों में से कौन कहाँ जा सकता है, एवं किस-किस मार्ग में क्या काठिन्य है। किन्तु, यह तो सिद्ध ही है कि तीनों मार्गों में भक्ति तो करनी ही पड़ेगी। ईश्वर-भक्ति के बिना कोई-कर्म या ज्ञान ईश्वर-प्राप्ति नहीं करा सकता।

भक्ति से ज्ञान वैराग्य की प्राप्ति

अब एक बात का और विचार करना है कि नातिसक्त नातिविरक्त ऐसे भक्तिमार्गी को ज्ञान एवं वैराग्य कैसे मिलेगा एवं उसके बिना उन्नति कैसे हो सकेगी ?

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

(भाग. 1-2-7)

अर्थात् भक्ति करने से ज्ञान एवं वैराग्य स्वयमेव आ जाते हैं, आपको तदर्थ प्रयत्न नहीं करना है।

वेदव्यास जी कहते हैं —

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥

(भाग. 11-2-42)

अर्थात् जितनी मात्रा में ईश्वर-भक्ति होती जायगी, उतनी ही मात्रा में स्वाभाविक रूपेण वैराग्य होता जायगा और उतनी ही मात्रा में ईश्वरीय कृपा द्वारा ईश्वरीय ज्ञान होता जायगा। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य एक साथ चलेंगे। जब भक्त पूर्णता को प्राप्त हो जायगा अर्थात् जब भगवद्दर्शन हो जायगा, तब पूर्ण वैराग्य एवं पूर्ण ज्ञान हो जायगा।

कुछ लोग कहते हैं, पहले वैराग्य करो, फिर ज्ञान, फिर भक्ति। कुछ लोग कहते हैं, पहले भक्ति, फिर ज्ञान, फिर वैराग्य। कुछ कहते हैं, पहले ज्ञान, फिर वैराग्य, फिर भक्ति इत्यादि। किन्तु ये सब बच्चों की बातें हैं। गंभीरतापूर्वक सोचने पर उपर्युक्त सिद्धान्त समझ में आ जायगा।

पंचकोश-निवृत्ति, मोक्ष, भगवद्धाम-प्राप्ति आदि

एक प्रश्न यह भी होता है कि पंचकोशों के बिना जले मुक्ति नहीं होती, पुनः भक्त के पंचकोश कैसे जलेंगे? वेदव्यास जी कहते हैं—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।

(भाग. 3-25-33)

अर्थात् अहैतुकी भक्ति द्वारा श्यामसुन्दर की विरहाग्नि में पंचकोश स्वयं जल जाते हैं, उसके हेतु पृथक् से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, जिस प्रकार खाना खाने के बाद जठराग्नि द्वारा खाना जला कर पचा दिया जाता है, तदर्थ किसी व्यक्ति को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। भावार्थ यह कि भक्ति से सारी समस्याएं हल हो जायेंगी। वेदव्यास जी कहते हैं कि—

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥

(भाग. 11-20-32, 33)

अर्थात् कर्म का जो भी फल हो सकता हो अर्थात् स्वर्गादिक एवं ज्ञान का जो भी फल हो सकता हो अर्थात् मोक्षादि तथा अन्य सिद्धियाँ आदि एवं भगवद्धामादि भक्त जो कुछ भी चाहता है, भक्ति से प्राप्त कर सकता है। भगवान् तो चाहते हैं कि यह भक्ति न माँगे, अन्य चाहे जो कुछ माँग ले। कागभुशुंडि से भगवान् राम कहते हैं—

कागभुशुण्डी माँगु वर अति प्रसन्न मोहि जान।
अणिमादिक सिधि अपर निधि मोक्ष सकल सुख खान॥

अर्थात् हे कागभुशुण्डी! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ अतएव अणिमादिक सिद्धियाँ एवं नवों-निधियाँ एवं परमतत्त्व मोक्ष तक, जो माँगो, सब देंगे।

कागभुशुण्डी ने कहा कि आप इतने प्रसन्न न हों, हमें तो कृपा–कटाक्ष ही चाहिये। यदि आपको कुछ देना ही है तो—

अविरल भक्ति विशुद्ध तव, श्रुति पुराण जेहि गाव।
जेहि खोजत योगीश मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
..... देहु दया करि राम।

भावार्थ यह कि वे तो भक्ति देने में संकोच करते हैं क्योंकि उसके द्वारा उन्हें अनन्तकाल तक के लिये बंधन हो जाता है। अस्तु, वेदव्यासोक्ति के अनुसार–

यद्दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितो ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥

(गरुड़ पुराण)

अर्थात् जो दुर्लभ है, जो अप्राप्य है एवं जो मन से आप सोच भी नहीं सकते, वह सब बिना माँगे ही भक्ति से उपलब्ध हो जायगा। एतदर्थ आपको प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है।

राधे राधे गोविंद गोविंद राधे। राधे राधे गोविंद गोविंद राधे॥

ज्ञान एवं भक्ति

ज्ञान एवं भक्ति-मार्ग के सिद्धांतों में कुछ विशेष मतभेद सा दीखता है (जो वस्तुतः है नहीं), वह यह कि ज्ञान-मार्गीय 'जीव' को ही ब्रह्म मानता है पर वह यह नहीं मानता कि जीव नामक शक्ति कोई पृथक् है, एवं भक्ति-मार्गीय 'जीव' को पृथक् शक्ति मानता है।

दूसरा अन्तर ज्ञान एवं भक्ति मार्ग में यह भी है कि ज्ञानमार्गीय माया को मिथ्या एवं अनिर्वचनीय कहकर टाल देता है, उसे ईश्वरीय शक्ति आदि नहीं मानता किन्तु भक्ति-मार्गीय माया को ईश्वरीय शक्ति मानता है। भावार्थ यह कि ज्ञानमार्गीय केवल ब्रह्म को ही नित्य तत्त्व मानता है एवं भक्ति-मार्गीय जीव, माया, ब्रह्म इन तीनों को नित्य तत्त्व मानता है। अतएव ज्ञान-मार्गीय के मार्ग एवं भक्तिमार्गीय के मार्ग में अन्तर सा है।

शंकराचार्य

ज्ञानमार्ग के प्रमुख आचार्य एवं प्रचारक आदि-शंकराचार्य हैं जिन्होंने समग्र भाष्यों में यही सिद्ध किया है कि जीव नाम का कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, न तो माया नाम की ही कोई शक्ति है। जीव स्वयं ब्रह्म है। ब्रह्म सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य है एवं सत्य-ज्ञानानन्द रूप है, साक्षी है, उदासीन है तथा निर्गुण-निर्विशेष-शुद्ध चैतन्य है। जगत् मिथ्या है, माया अनिर्वचनीय

तत्त्व है। जीव एकमात्र ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब है और ब्रह्म के ही समान है। घटाकाश के समाप्त होते ही महाकाश बन जाता है, वैसे ही अन्तःकरण की उपाधि समाप्त होते ही जीव ब्रह्म बन जाता है। उनका प्रमुख कथन है '**तत्त्वमसि**' अर्थात् तू वही ब्रह्म है, इसके श्रवण-मनन से ज्ञान होता है और '**अहं ब्रह्मास्मि**' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, यह ज्ञानी की अन्तिम स्थिति है। माया, अविद्या, अज्ञान, ये तीनों ही एक हैं। यही माया ब्रह्म का आश्रय करके नाना प्रकार के भ्रमात्मक कार्य करती है।

रामानुजाचार्य

इसके ठीक विपरीत आदि-जगद्गुरु रामानुजाचार्य का कथन है कि ब्रह्म एक है, साथ ही स्वगत-भेदयुक्त है और वह है जीव एवं जगत्। ब्रह्म निर्गुण नहीं है, वह ज्ञानानन्द, दयादि सिन्धु है, सविशेष है, ज्ञानानन्दादि उसके सविशेष धर्म हैं। जड़चेतनात्मक जगत् उसका विशेष देह है। निर्गुण से अभिप्राय केवल प्राकृत सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से रहित होने मात्र से है। जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, अतः मिथ्या नहीं है। माया ब्रह्म की शक्ति है एवं उसी में स्थित है।

जीव अग्नि-स्फुलिंग के समान ब्रह्म का अंश है। जीव अणु है, ब्रह्म विभु है; जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है। जीव अंश है अतएव सदा अपनी सत्ता रखेगा। केवल ब्रह्मानन्द भोगने मात्र में जीव ब्रह्म के समान माना जा सकता है। 'ध्रुवानुस्मृति' रूपा भक्ति ही जीव की मुक्ति का उपाय है। जीव दास है, वह अपने आपको ब्रह्म अर्थात् स्वामी कहे, यह महान् अपराध है। माया ब्रह्म की शक्ति है, ब्रह्म के आश्रित है। अज्ञान जीव को मोहित कर सकता है, ब्रह्म को नहीं। इनके मत को 'विशिष्टाद्वैत-वेदान्त' कहते हैं।

रामानुजाचार्य ने 'प्रपत्ति' पर विशेष जोर दिया। उनका कहना था कि न्यास–विद्या ही प्रपत्ति है। आनुकूल्य का संकल्प एवं प्रतिकूल विषयों का परित्याग ही न्यास या प्रपत्ति है, भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना ही जीव की प्रपत्ति है, सम्पूर्ण भाव से भगवान् के शरणागत होना ही प्रपत्ति है। उन्हीं की कृपा से जीव को चरम शान्ति मिल सकती है, अतएव समस्त विषयों का परित्याग करके एकमात्र भगवान् की ही शरण में जाना होगा। इसी भाव को लेकर आदि रामानुजाचार्य ने कहा है—

सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

अर्थात् हे प्रभो! मैं माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता, मित्र एवं पूज्यजन तथा रत्न, धन–धान्य, भूमि, गृह, समस्त धर्म, यहाँ तक कि सम्पूर्ण कामनाओं का भी परित्याग करके अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक आपके युगल–चरण–कमलों की शरण हूँ।

उनका कहना था कि भगवान् समस्त जीवों के हृदय में साक्षी बनकर बैठे रहते हैं। वे पुरुषोत्तम हैं। वे ही जगत् के रचयिता एवं स्वामी हैं। जीव उनका नित्य सेवक है। अपने व्यष्टि अहंकार को सर्वथा मिटाकर पूर्णरूप से उनकी शरण हो जाना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। रस्सी में साँप के भ्रम के समान संसार मिथ्या है। भगवान् हमारे माता–पिता हैं, अतएव माता–पिता की कृपा प्राप्त करना ही संतान का धर्म है। वाणी से उनका नाम लेना चाहिए तथा तन–मन–धन से उनकी सेवा करनी चाहिए। उनका कहना था कि जीव को निरन्तर दीनभाव से अपने समस्त अपराधों की क्षमा माँगते रहना चाहिए। ऐसा करने से वे अकारण–करुण भगवान् समस्त पापों को क्षमा कर देते हैं एवं जीव को परमानन्द प्राप्ति भी करा देते हैं।

निम्बार्काचार्य

इसी प्रकार आदि-जगद्गुरु निम्बार्काचार्य ने भक्तिपरक सिद्धान्त स्थापित किया, जिसमें उन्होंने संक्षेपतः यह अन्तर कर दिया कि चित् अर्थात् भिन्न-अभिन्न वह एक ईश्वर ही जगत् का निमित्तोपादानकारण है। सुवर्ण-कुण्डल की भाँति सोना एवं सोने का कुण्डल दोनों एक ही हैं, फिर भी, सोना जानने पर भी कुण्डल जानने की जिज्ञासा बनी रहती है अतएव द्वैतात्मक भेद भी है। चित् अर्थात् भोक्तृवर्ग एवं अचित् अर्थात् भोग्यवर्ग, ये दोनों ही उसी ईश्वर के आधीन हैं, अतएव भेद नहीं, किन्तु व्यवहार में विरुद्ध-धर्म हैं अतएव भेद भी है। ईश्वर-भक्ति से ही जीव को परमानन्द या मुक्ति प्राप्त हो सकती है अर्थात् जीव अपने आप को दास मानकर एवं भगवान् को स्वामी मानकर उपासना करे, तभी मुक्ति प्राप्त होगी। इनके सिद्धान्त का नाम 'द्वैताद्वैत-वेदान्त' है। इनका कहना है कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उनका सगुण रूप ही मुख्य है। इस जगत् के रूप में प्रगट होने पर भी वे निर्विकार हैं। वे जगदातीत एवं गुणातीत हैं। जगत् की सृष्टि, पालन एवं प्रलय उन्हीं से सम्बद्ध है। वे इस संसार के निमित्त एवं उपादान, दोनों ही कारण हैं। संसार उनका परिणाम है। जीव ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म का कारण परिणाम एवं नित्य है। इस सृष्टि का अभिप्राय यह है कि जीव उनका दर्शन एवं अनुग्रह प्राप्त करे। जीव की आत्यन्तिक-दुःख-निवृत्ति एवं परमानन्द-प्राप्ति भगवत्प्राप्ति से ही संभव है। उपासना द्वारा ही भगवत्प्राप्ति होती है। यद्यपि ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही स्वरूप हैं, फिर भी जीव के चरम कल्याण का साधन भक्ति ही है। सदाचार आदि के द्वारा, भगवन्नाम-गुण-लीलादि श्रवण-कीर्तनादि के द्वारा जब जीव को भगवत्प्राप्ति की वास्तविक इच्छा होती है, तब जीव वास्तविक सद्गुरु की शरण ग्रहण करता है। गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग

ही शुद्ध चित्त में भक्ति का प्राकट्य करता है। यही भक्ति जीव को भगवत्प्राप्ति कराकर सदा के लिए कृतार्थ कर देती है।

इस प्रकार निम्बार्काचार्य जी का भी सिद्धान्त द्वैत-भक्तिपरक है।

माध्वाचार्य

पुनश्च आदि-जगद्‌गुरु माध्वाचार्य का भी यह कथन है कि जीव, माया एवं ब्रह्म, तीनों ही तत्त्व वेद-सम्मत माननीय हैं। यदि कहीं अद्वैतवादिनी-ऋचा है भी, गौणार्थक है, परमार्थतः नहीं है। इनके सिद्धान्त से भक्ति ही एकमात्र ईश्वर-प्राप्ति करा सकती है एवं उसी से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। अपने आपको ब्रह्म कहना या मानना भ्रान्ति है क्योंकि स्पष्ट दीखता है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, जीव नहीं है; ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पशक्तियुक्त है; ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता आदि भी है, सर्वज्ञ भी है, जब कि जीव उससे उत्पन्न होता है एवं अल्पज्ञ भी है। इनके सिद्धान्त का नाम 'द्वैत-वेदान्त' है।

माध्वाचार्य का कहना था कि भगवान् का निरन्तर स्मरण करना चाहिये जिससे मृत्यु के समय भी उनका स्मरण बना रहे। बात यह है कि मृत्यु के समय में सैकड़ों बिच्छुओं के डंक मारने से भी अधिक कष्ट होता है। वात, पित्त, कफ कण्ठ को घेर लेते हैं। विविध प्रकार के ममतादि बन्धनों में बँधे रहने के कारण बड़ी घबराहट होती है। ऐसे समय में भगवान् की विस्मृति हो जाती है। उनका कहना था कि समस्त जीवों को कर्मानुसार सुख-दुःख मिलेगा ही, अतएव सुख का अनुभव करते समय भी भगवान् को मत भूलो तथा दुःखकाल में भी उनकी कृपा का अनुभव करो। वेदशास्त्र-सम्मत मार्ग पर ही अटल रहो। कोई भी शुभ कार्य करते समय दीन भाव से भगवान् का स्मरण करो। वे ही तुम्हारे सर्वस्व हैं। व्यर्थ के सांसारिक झगड़ों में अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान् में ही अपने को लीन कर दो।

भगवद्विषयक विचार, श्रवण, ध्यान एवं स्तुति से बढ़कर और कुछ सार नहीं है।

भगवान् के चरणकमलों के स्मरण करने की चेष्टामात्र से समस्त पाप भस्म हो जायेंगे। फिर वास्तविक स्मरण से तो सभी कुछ प्राप्त हो जायगा।

हम दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक कहते हैं कि भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं। यदि वे सर्वश्रेष्ठ न होते तो संसार उनके आधीन न होता और यदि संसार उनके आधीन न होता तो जीव सदा आनन्द का अनुभव करता।

वल्लभाचार्य

इसके अतिरिक्त वल्लभाचार्य के भाष्यानुसार भी जीव ब्रह्म से पृथक् तत्त्व हैं एवं ईश्वर-प्राप्ति ही जीव का परम-चरम लक्ष्य है। इन्होंने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की। भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण लीलाओं में इनकी बड़ी आस्था थी। इन्होंने ब्रह्मसूत्र, भागवत, गीता को अपने पुष्टिमार्ग का ही सहायक साधन घोषित किया। प्रेमलक्षणाभक्ति पर विशेष जोर दिया। 'पुष्टि' भगवत्कृपा का प्रतीक है। उन्होंने वात्सल्य-रस की भक्ति से परिप्लुत पद्धति पर जोर दिया। भगवान् के नाम-गुणगान को पुष्टि मार्ग में प्रधान मानते थे। इन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का विरोध करके यह सिद्ध किया कि जीव उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म। फिर भी वह ब्रह्म का अंश एवं सेवक है। अतएव उसका ब्रह्म के प्रति दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्यभाव सहज सिद्ध है। उनका कहना है कि जीव भगवद् भक्ति के बिना कल ही नहीं पा सकता। उन्होंने जीव के अणुत्व का समर्थन किया। ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होने के कारण जगत् भी ब्रह्म की तरह ही सत् है। परमात्मा साकार है। शंकराचार्य की तरह अद्वैत-मत का समर्थन करते हुए भी जीव और ब्रह्म के 'शुद्धाद्वैत' भाव का उन्होंने प्रतिपादन करके भगवान् की भक्ति-प्राप्ति के लिए जीव को प्रेरित

किया। लौकिक एवं वैदिक कर्मफल का त्याग अनिवार्य बताया। भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, उनकी सेवा ही जीव का चरम लक्ष्य है। संसार की अहंता-ममता का त्याग करके श्रीकृष्ण के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण कर अन्याश्रय-दोष से बचते हुए भक्ति के द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये। उनका एक मंत्र है—

सहस्त्रपरिवत्सरमित - कालजातकृष्णवियोगजनितताप-क्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणन्तः-करणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं श्रीकृष्ण! तवास्मि।

उन्होंने बताया कि गोलोकस्थ श्रीकृष्ण की सायुज्य-प्राप्ति ही 'मुक्ति' है। 'पुष्टि' वह है जो श्रीकृष्ण प्रेम को प्रकट करती है। पुष्टि का आधार भगवत्कृपा है। उनका कहना है कि गृह का सर्वथा परित्याग कर दे। यदि ऐसा न कर सके तो सब कर्मों को श्रीकृष्ण को ही अर्पित कर दिया करे।

श्री चैतन्यदेव गौरांग महाप्रभु

इसके अतिरिक्त राधावतार श्री गौरांग महाप्रभु ने भी भक्ति का ही सिद्धान्त स्थापित किया। उनके अष्टपदी ग्रन्थ में सम्पूर्ण साधना का सार गागर में सागर के समान भरा है। उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्त बन कर श्रीकृष्ण-भक्ति का पूर्ण प्रचार किया। कुछ लोग इन्हें कृष्णावतार कहते हैं। दोनों एक ही बात हैं। इनके जीवन के अन्तिम छः वर्ष राधा-भाव में ही व्यतीत हुए। उन दिनों इनमें महाभाव के समस्त लक्षण प्रकट हुए थे। उनके प्रभाव से वासुदेव सार्वभौम, प्रकाशानन्द सरीखे अद्वैत-वेदान्ती भी किञ्चित् संग से ही श्रीकृष्ण-प्रेमी बन गये। इन्होंने नाम संकीर्तन द्वारा श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। इनकी शिक्षा आठ श्लोकों में वर्णित है, जो मुझे सर्वाधिक प्रिय है। आप लोगों को भी प्रिय होनी चाहिए।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम्,
श्रेयः कैरवचंद्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्,
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

(शिक्षाष्टक)

अर्थात् श्रीकृष्ण के नामगुणादिकों का संकीर्तन सर्वोपरि है। उसकी तुलना में कोई दूसरी साधना नहीं है। वह चित्तरूपी दर्पण को शुद्ध कर देता है। संसार-रूपी घोर दावानल को बुझा देता है, कल्याण-रूपी कुमुदिनी को अपनी किरणों से विकसित करने वाला एवं आनन्द के समुद्र को बढ़ाने वाला चन्द्रमा है। विद्या-रूपी वधू को जीवन देने वाला है। पद-पद पर पूर्ण अमृत का आस्वादन कराने वाला, सम्पूर्ण आत्मा को शान्ति एवं आनन्द की धारा में डुबा देने वाला है।

1. **चेतोदर्पणमार्जनम्** - यह भक्ति की पहली भूमिका है। इसमें देहाभिमानयुक्त अशुद्ध अहंकार-मालिन्य हटकर श्रीकृष्णदास रूप शुद्धाभिमान द्वारा अन्तःकरण में निर्मलता आती है।

2. **भवमहादावाग्निनिर्वापणम्** - यह भक्ति की दूसरी भूमिका है। इसमें विषय-वासनाजन्य दैहिक-दैविक-भौतिक ताप रूप अग्नि का शमन हो जाता है।

3. **श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणम्** - यह भक्ति की तीसरी भूमिका है। सांसारिक सुख का नाम प्रेय है, भगवत्सुख का नाम श्रेय है। त्रिताप-रूपी सूर्य से कुमुदिनी नहीं विकसित होती, हरि-नाम रूपी चन्द्रमा की किरणों से विकसित होती है।

4. **विद्यावधूजीवनम्** - अपरा विद्या से क्षर वस्तु का ज्ञान, परा विद्या से अक्षर वस्तु का ज्ञान होता है। अक्षर ब्रह्म ही श्रीकृष्ण हैं। यही भक्ति की चौथी भूमिका है।

5. **आनन्दाम्बुधिवर्धनम्** - आनन्दमय श्रीकृष्ण हैं। भगवद्-गुण-विशिष्ट भगवन्नाम के संसर्ग से श्रीकृष्ण का अंश-स्वरूप जीव भी आनन्दमय हो जाता है। यह भक्ति की पाँचवी भूमिका है।

6. **प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्** - यह भक्ति की छठी भूमिका है। सम्पूर्ण रस-रूप श्रीकृष्ण हैं, सम्पूर्ण रसमयी श्रीकृष्ण-भक्ति है। अतएव उस भक्ति के द्वारा प्रतिपद में सम्पूर्ण रसानुभूति होती है। जो व्यतिरेक-चिन्ताशील-ज्ञानादि नीरस-उपासना द्वारा खंडबोध-पूर्वक श्रीकृष्ण की अंगज्योति-स्वरूप ब्रह्म एवं जो ब्रह्माण्डान्तर्गत विष्णु के अनुसंधान में लगे हैं, उनका रस अपूर्ण है।

7. **सर्वात्मस्नपनम्** - यह भक्ति की सातवीं भूमिका है। इस अवस्था में जीव मायामल-रहित होकर श्रीकृष्ण स्नेह में सिक्त अपने शुद्ध दास-स्वरूप में आ जाता है।

इसके अतिरिक्त अनन्तानन्त महापुरुषों ने, यथा तुलसी, सूर, मीरा, नानक, तुकाराम, हितहरिवंश, व्यास, ललित-किशोरी, नागरीदास, परमानन्ददास आदि ने भक्ति के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया।

भावार्थ यह कि एक शंकराचार्य को छोड़कर शेष सब ने भेद भक्ति का ही सिद्धान्त स्पष्ट किया है अतएव सर्वमान्य वही होना चाहिये, यद्यपि बोलने मात्र का भेद है। वस्तुतः शंकराचार्य ने भी अपने अन्तिम जीवन में श्रीकृष्ण-भक्ति ही की थी। उन्होंने अन्तःकरण शुद्धि के लिये कहा था—

शुद्धयति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोज भक्तिमृते॥

(प्रबोध सुधाकर-शंकराचार्य)

अर्थात् श्रीकृष्ण-भक्ति के बिना अन्तःकरण शुद्धि हो ही नहीं सकती। पुनः उन्होंने कहा था—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

(शंकराचार्य)

अर्थात् 'हे नाथ!' यह देखिये 'नाथ' शब्द बरबस मुँह से निकल ही गया। 'नाथ' कहने के पूर्व अपने आपको दास स्वीकार करना स्वाभाविक ही है। आगे कहते हैं, यद्यपि जीव एवं ब्रह्म में कोई खास भेद नहीं है फिर भी कुछ भेद तो है ही, वह यह कि जीव तो ब्रह्म से उत्पन्न होता है किन्तु ब्रह्म जीव से उत्पन्न नहीं होता। लोक में भी गोचरित होता है कि समुद्र से तरंग उत्पन्न होती है किन्तु तरंग से समुद्र उत्पन्न नहीं होता। अतएव शंकराचार्य पुनः कहते हैं—

मत्स्यादिभिरवतारै रवता रवता सदा वसुधाम्।
परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवतापभीतोऽहम्॥

(शंकराचार्य)

अर्थात् हे परमेश्वर! तुमने मत्स्य, कच्छप, वाराहादि अनन्त अवतार लेकर समय-समय पर पृथ्वी का भार उतारा है, तो क्या इस भवताप से डरे हुए शंकराचार्य का उद्धार न करोगे? तात्पर्य यह कि शंकराचार्य भी भवताप से डरे हुए स्वयं को स्वीकार करते हैं एवं भगवान् से रक्षा चाहते हैं। यह उनके हृदय के वास्तविक उद्‌गार हैं।

शंकराचार्य से उनके शिष्य ने पूछा—

'मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयम्'

अर्थात् मुमुक्षुजीव को तुरन्त क्या करना चाहिये ? उन्होंने उत्तर दिया—

'सत्संगतिर्निर्ममतेशभक्तिः'

अर्थात् सत्संग, एवं संसार से ममता तोड़ना तथा भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। उनसे पुनः शिष्य ने पूछा '**किं कर्म कृत्वा न हि शोचनीयम्**' ऐसा कौन सा कर्म है जिसे करने वाला बुद्धिमान् व्यक्ति कभी नहीं पछताता ? उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—

'कामारि-कंसारि-समर्चनाख्यम्'

अर्थात् भगवान् की भक्ति करने वाला ही निश्चिन्त रहता है। अपनी माता को शंकराचार्य ने श्रीकृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया एवं श्रीकृष्ण के दर्शन कराये। इतना ही नहीं, उनका दुन्दुभिघोष सुनिये—

काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किंचित् फलं स्वेप्सितम्।
केचित् स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः॥
अस्माकं यदुनन्दनांघ्रियुगलध्यानावधानार्थिनाम्।
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

अर्थात् सकाम कर्म करने वाले भोले लोग स्वर्ग-प्राप्ति हेतु सकाम कर्म करें, मैं नहीं करता एवं ज्ञान-योगादि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाले उस मार्ग में जाकर मुक्त हों, हमें नहीं चाहिये। हम तो आनन्दकन्द-श्रीकृष्ण चरणारविन्द-मकरन्द के भ्रमर बनेंगे। हमें लौकिक या पारलौकिक या मोक्षादि सुख नहीं चाहिये, हम तो प्रेम-रस के ही रसिक हैं और यदि आप उनके निम्नलिखित वचनों को पढ़ें, तब तो स्पष्ट ही प्रकट हो जाय कि वे कितने बड़े रसिक थे—

यमुनानिकटतटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये
कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरिस्थाप्य।
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्
पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वांगम्॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्
मन्दस्मितमुखकमलं सकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयांगुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलंकारान्।
गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥
गुंजारवालिकलितं गुञ्जापुंजान्विते शिरसि।
भुञ्जानं सहगोपैः कुंजांतर्वर्तिनं नमत॥
मन्दारपुष्पवासितमंदानिलसेवितपरानन्दम्।
मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥
सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतः परितः।
सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत॥

(प्रबोध सुधाकर, शंकराचार्य)

अर्थात् श्री यमुना जी के तट पर स्थित वृन्दावन की किसी अति मनोहर वाटिका में कल्पवृक्ष के नीचे की भूमि पर चरण पर चरण रखे श्रीकृष्ण बैठे हैं, जो नवीन बादलों के सदृश श्याम वर्ण के हैं, पीताम्बर पहने हुए हैं एवं सारे शरीर में कर्पूर से मिश्रित चन्दन का लेप किये हुए हैं। जिनके कर्ण पर्यन्त बड़े-बड़े नेत्र हैं, कान में सुन्दर कुण्डल सुशोभित हैं, मुखारविन्द मन्द-मन्द मुस्करा रहा है। जिनके वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणियुक्त सुन्दर मालायें सुशोभित हो रही हैं। जो अपनी कान्ति से कंकण एवं अँगूठी आदि मनोहर गहनों की कान्ति को दूनी कर रहे हैं, जिनके गले में वनमाला लटक रही है, जिन्होंने अपने तेज के प्रभाव से कलिकाल को नष्ट कर दिया है, जिनका गुंजावलि-अलंकृत मस्तक गूँजते हुए भौरों से शोभायमान हो रहा है। किसी कुंज के

भीतर बैठकर ग्वाल-बालों के साथ भोजन करते हुए उन श्रीकृष्ण का स्मरण करो, जो कल्पवृक्ष के फूलों की सुगन्धि से युक्त मन्द-मन्द वायु से सेवित हैं, जो स्वयं परमानन्द स्वरूप हैं, जिनके चरणों में भगवती भागीरथी विराजमान हैं। उन परमानन्ददायक श्रीकृष्ण का स्मरण करो, जिन्होंने समस्त दिशाओं को सुगन्धित कर रखा है, जो सैकड़ों कामधेनु से भी सुन्दर गायों से घिरे हुए हैं। जो देवताओं के भय को दूर करने वाले एवं भयानक राक्षसों को भी भयभीत करने वाले हैं, उन यदुनन्दन का स्मरण करो।

इसके अतिरिक्त महापुरुष देश-कालादि की परिस्थिति के अनुसार भी कभी-कभी विलक्षण सिद्धान्त घोषित करता है। यहाँ तक कि देश-काल की स्थिति को देखकर ही भगवान् बुद्धावतार ने वेद नहीं माना, ईश्वर को ही नहीं माना, यहाँ तक कि जीव को भी परिवर्तनशील विज्ञान-स्कन्ध-संतान माना है। इसी प्रकार शंकराचार्य के समय में भी ईश्वर रहित मीमांसा-दर्शन का तथा ईश्वर-रहित बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रचुर मात्रा में था, अतएव बुद्धि-चातुरी से उन दोनों का खण्डन किया किन्तु स्वयं भक्ति ही करते रहे। बस, आप लोग इतने मात्र से ही अनुमान लगा सकते हैं कि उनके कथन एवं उनके क्रियात्मक जीवन में कितना अंतर है।

वस्तुतः वेद-शास्त्र के विद्वानों से यह छुपा हुआ नहीं है कि 'माया' ईश्वर की शक्ति ही है, मिथ्यातत्त्वमात्र कह देने से समाधान नहीं हो सकता।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेता. 4-10)

अर्थात् माया ईश्वर की शक्ति है।

तर्क से भी अद्वैत-सिद्धि अशक्य है। यथा, यह विचार कीजिये कि जीव के ऊपर जो अज्ञान है उसका पूर्व-पर समय क्या माना जायगा ? यदि कहो कि

अज्ञान अनादि है अर्थात् सदा से है, माना कभी प्रारम्भ नहीं हुआ एवं साथ ही अनन्त भी है अर्थात् सदा रहेगा, कभी समाप्त न होगा, तब भी दो तत्त्व तो नित्य सिद्ध हो ही जायेंगे, जब कि अद्वैतवादी एक ही तत्त्व को नित्य मानता है।

यदि कहो अज्ञान सादि अर्थात् एक दिन प्रारम्भ हुआ था एवं सान्त अर्थात् एक दिन समाप्त हो जायेगा, तब तो एक बड़ी आपत्ति यह आ जायगी कि यह जीव पूर्व में भी तो ब्रह्म ही था। जब ब्रह्म-स्वरूप होने पर भी एक दिन अज्ञान ने अधिकार कर लिया तब यदि साधना द्वारा पुनः ब्रह्म बन भी जायेंगे तो कोई लाभ न होगा क्योंकि पूर्व की ही भाँति पुनः अज्ञान अधिकार कर लेगा। इस प्रकार—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता 7-3)

अर्थात् हजारों जन्मों के निरन्तर प्रयत्न के पश्चात् तो कहीं हम ब्रह्म बन पायेंगे किन्तु जब चाहेगा, अज्ञान पुनः अपने आधीन कर लेगा और हम चौरासी लाख योनियों में चक्कर लगाते रहेंगे। अतएव यह मत भी माननीय नहीं है।

यदि कहो कि अज्ञान सादि अर्थात् एक दिन प्रारम्भ तो हुआ था किन्तु अनन्त अर्थात् सदा रहेगा, तब तो सबसे बड़ी आपत्ति यह आ जायेगी कि कोई जीव कभी मुक्त ही नहीं हो सकता। भावार्थ यह कि फिर तो कुछ कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जो व्यक्ति साधन करे, वह भी सदा अज्ञानमय रहेगा एवं जो व्यक्ति दुराचार-भ्रष्टाचार करे, वह भी अपार अज्ञान युक्त रहेगा। यह तो सर्वथा ही अमाननीय सिद्धान्त है।

यदि कहो कि अज्ञान अनादि अर्थात् सदा से रहने वाला है या कभी प्रारम्भ नहीं हुआ एवं सान्त अर्थात् एक दिन समाप्त हो जायगा तब तो यह

आपत्ति आ जायगी कि सृष्टि को वेदों ने अनन्त माना है, पुनः वेद पर ही आघात पहुँचेगा। अतएव यह सिद्धान्त भी अमाननीय है। ये अद्वैती यह बतायें कि कौन-सा सिद्धान्त उन्हें स्वीकार है ? उसका उत्तर उनके पास शायद कुछ भी न होगा।

जरा आप लोग सोचिये कि यदि अंधेरे में रस्सी पड़ी हो तो किसी व्यक्ति को उसमें सर्प-बुद्धि से भय हो सकता है, किन्तु यह नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति अपने आपको सर्प मानने लगे। फिर ब्रह्म का ज्ञान सदा एकरस अखंड रहता है, उसमें अज्ञान कैसे आ सकता है ?

अतएव यही सिद्धान्त सर्वमान्य है कि जीव के ऊपर यह अज्ञान अनादिकाल से है, किन्तु अनन्तकाल तक नहीं रहेगा, एक दिन उपासनादि करने से समाप्त हो सकता है। हाँ, यह अवश्य विचारणीय है कि माया-शक्ति का अत्यन्ताभाव कोई नहीं कर सकता।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गीता 2-16)

अर्थात् किसी सत्ता का या शक्ति का अभाव नहीं हो सकता। चूंकि माया एक ईश्वरीय शक्ति है अतएव उसके नाश की कल्पना करना पागलपन है। यदि ऐसा होना होता तो अनादिकाल से अनन्तानन्त बार भगवान् के अवतार एवं महापुरुषों के प्राकट्य हुए, कोई भी उस माया को समाप्त कर देता और सब मुक्त हो गये होते। वास्तव में आप माया से मुक्ति अर्थात् छुटकारा पा सकते हैं और सदा के लिए मुक्त हो सकते हैं किन्तु यह सर्वथा असम्भव है कि आप माया-शक्ति को ही समाप्त करने की योजना बनायें।

एक बात और भी विचारणीय है, वह यह कि ब्रह्म सूत्र में लिखा है

'जगद्व्यापारवर्जम्।' (*ब्र.सू. 4-4-17*)

अर्थात् कोई जीव यदि ब्रह्म-ज्ञानी हो भी जाता है तो वह संसार का निर्माण या पालनादि नहीं कर सकता। पुनः ब्रह्मसूत्र के अनुसार—

'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।' *(ब्र.सू. 4-4-21)*

अर्थात् ब्रह्मानन्द भोगने मात्र में जीव, ब्रह्म की समता मानी गयी है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि जितने आत्मज्ञानी परमहंस हुए हैं, वे सब उस ज्योति-स्वरूप ब्रह्म में 'अपने' स्वरूप से प्राप्त हुए हैं, ज्योति-स्वरूप नहीं हो गये, यथा—

एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। *(छान्दो. 8-12-3, 8-3-4)*

अतएव—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। *(तैत्तिरीयो. 2-1)*

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त होता है। जब वह ब्रह्म ही है तो किसी पर को प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त जितने भी ज्ञानी हमारे इतिहास में हुए हैं, ये सब सर्वव्यापक नहीं हो गये। उन्होंने परब्रह्म का ध्यान किया एवं परब्रह्म में जाकर मिले हैं।

कुछ लोग कहते हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डको. 3-2-8)

अर्थात् जैसे नदी अपने नाम-रूप को समुद्र में खो देती है वैसे ही जीव भी ब्रह्म को प्राप्त होने पर अपने नाम-रूप को खो देता है। साथ ही लौकिक तर्क देते हैं कि नदी का पानी भी समुद्र से एक होकर खारा हो जाता है। बस,

यही एक उदाहरण लेकर वे समस्त वैदिक ऋचाओं के विरुद्ध बोलने को प्रस्तुत हो जाते हैं। जरा वे लोग सोचें तो कि यदि समुद्र में नमकीन जल ही है तो फिर बादल मीठा जल कैसे बरसाते हैं! अतएव यह कहना अयुक्तियुक्त है कि कोई सत्ता अपनी सत्ता ही खो देगी। यदि नदी नाम की सत्ता ही समुद्र है तो समुद्र में मिलने की क्या आवश्यकता है, वह स्वयं समुद्र बन जाय? अर्थात् ब्रह्म को जानने पर वह ब्रह्मज्ञानी सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक क्यों नहीं बन जाता? उसे परब्रह्म से मिलने की क्या आवश्यकता है? '**पुरुषमुपैति**' फिर क्यों कहा है?

भावार्थ यह है कि अद्वैत-सिद्धि का अभिप्राय तात्कालिक वातावरण था। जब शंकराचार्यादि श्रीकृष्ण की भक्ति कर रहे हैं, तब यह प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। और अगर अब भी शंका रह गयी हो तो गंभीरतापूर्वक सुनिये, मैं उन समस्त मायातीत जीवन्मुक्त अमलात्मा परमहंसों का उदाहरण समक्ष रखता हूँ, जिन्होंने प्रथम ब्रह्मज्ञान द्वारा ब्रह्म का स्थान प्राप्त किया, पश्चात् सगुण साकार ब्रह्म की द्वैत-प्रेम रस-माधुरी में बरबस विभोर हुए। मैं यह नहीं कहूँगा कि उनसे किसी ने ऐसा करने को कहा या उन्होंने कुछ प्रयत्न किया अपितु यह सिद्ध करूँगा कि वे हठात् विभोर हो गये। और वे क्यों विभोर हो गये, यह भी स्पष्ट किया जायगा।

ब्रह्मानन्द एवं प्रेमानन्द

यह कहना सर्वथा असंगत है कि ज्ञानयोगियों के अन्तःकरण की उपाधि पर निर्विकल्प-समाधि का ब्रह्मानन्द छोटा या सीमित या मायिक है एवं भक्ति-मार्गियों के सगुण-साकार ब्रह्म का प्रेमानन्द बड़ा या अमायिक या दिव्य है। वस्तुतः ब्रह्म एक है एवं सदा अपौरुषेय, अपरिमेय, दिव्य परमानन्द वाला है। उसके किसी भी स्वरूप को प्राप्त करने वाला सदा दिव्यानन्दमय हो

जाता है फिर भी निराकार-ब्रह्मानन्द से साकार-प्रेमानन्द में कुछ विशेष वैलक्षण्य है, अन्यथा वे परमहंस लोग प्रेमानन्द में बरबस क्यों विभोर हो जाते ? मेरी राय में तो वह विशेष-वैलक्षण्य लौकिक उदाहरणों से इस प्रकार समझा जा सकता है यथा-किसी व्यक्ति को यदि कोई व्यक्ति गुलाब की डाल सूँघते देख लेता है तो मुँह बिचका कर कहता है, वह मूर्ख है जो गुलाब के फूल को न सूँघकर उसकी डाल सूँघता है। विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि यद्यपि गुलाब का वृक्ष ही डाल, फूल आदि के रूप में खड़ा है, तथापि गुलाब के पेड़ से गुलाब के फूल में विशेष वैलक्षण्य स्पष्ट अनुभव में आता है। अब आप यह अनुमान लगाइये कि चन्दन के वृक्ष की डाल में इतनी खुशबू है, यदि उसमें फूल होते तो उस फूल की खुशबू में कितनी विशेषता होती! इस प्रकार जो विशेष वैलक्षण्य का अन्तर चन्दन के वृक्ष एवं उसके फूल की खुशबू में हो सकता है, वैसा ही वैलक्षण्य निराकार-ब्रह्मानन्द एवं साकार-प्रेमानन्द में होगा।

दूसरे उदाहरण से यों समझिये। यथा, यदि कोई व्यक्ति आम की डाल खा रहा हो तो लोग उसे मूर्ख कहेंगे जब कि वे बुद्धिमान् लोग आम का फल मूल्य देकर खाते हैं। यद्यपि आम का वृक्ष ही डाल, फल आदि में परिणत है, फिर भी डाल से फल के माधुर्य में विशेष वैलक्षण्य है। अब आप सोचिये कि गन्ने के वृक्ष में कितना माधुर्य है, यदि उसमें फल लगता तो कितना माधुर्य उस फल में होता। इसी प्रकार जो माधुर्य के वैलक्षण्य का अन्तर गन्ने के फल के माधुर्य में होता, वैसा ही वैलक्षण्य निराकार-ब्रह्मानन्द से साकार-प्रेमानन्द में होगा, ऐसा अनुमान है। तभी तो वेदव्यास जी के कथनानुसार—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(भाग. 6-14-5)

अर्थात् करोड़ों मुक्त परमहंसों में किसी बड़भागी को प्रेम-रस की उपलब्धि होती है। पुनः वेदव्यासोक्ति के अनुसार—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भाग. 1-7-10)

जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरि कथा न करहिं रति तिनके हिय पाषान॥

(रामायण)

अर्थात् परमहंसावस्था को प्राप्त कर लेने वाले आत्माराम-जन भी बरबस श्रीकृष्ण में अनुरक्त हो जाते हैं। ऐसी कुछ विलक्षणता ही है।

एक बार नारद जी स्वर्ग से द्वारिका आ रहे थे। उस समय उन्हें देखकर द्वारिकावासियों ने ऐसा अनुमान लगाया—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततःशरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुन्नारद इत्यबोधि सः॥

अर्थात् प्रथम तो जनता ने ऐसा समझा कि कोई तेजः पुञ्ज आकाश से पृथ्वी पर उतर रहा है, पश्चात् और समीप आने पर ऐसा अनुभव किया कि प्रकाश में कुछ झिलमिलाती आकृति भी है। जब बिल्कुल पास आकर नारद जी खड़े हो गये तो लोगों ने पूर्णतया परिचय प्राप्त कर लिया कि अरे! ये तो महर्षि नारद जी हैं। बस, इसी प्रकार ब्रह्म के भी तीन स्वरूप बताये गये हैं, जो एक ही ब्रह्म के अभिन्न स्वरूप हैं।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(भाग. 1-2-11)

अर्थात् वह एक अद्वितीय ब्रह्म-तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्, इन तीनों रूपों में प्रकट होता है। इसमें व्याप्त ब्रह्म अकर्त्ता है, जिसके उपासक ज्ञानी लोग हैं। ये लोग दूर से तेज: पुञ्ज के रूप में उसका अनुभव करके मुक्त हो जाते हैं। दूसरा स्वरूप प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में बैठकर परमात्मा-स्वरूप होकर उसके अनन्तानन्त जन्मों के अनन्तानन्त कर्मों का हिसाब रखता है एवं फल प्रदान करता है तथा वर्तमान प्रत्येक क्षण के प्रत्येक कर्म को नोट भी करता है। यह योगियों का उपास्य परमात्मा है। यह ज्ञानियों के ब्रह्म को और समीप से अनुभव करता है। तीसरा स्वरूप कृपामय होकर सगुण-साकार रूप से प्रत्यक्ष अवतीर्ण होता है, जिसमें उस ब्रह्म का अनुभव इन्द्रियों से भी होता है। यह सबसे निकट वाला भगवान् का स्वरूप है। इसके उपासक भक्त कहलाते हैं। इसी से गीतोक्ति के अनुसार—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता 6-46)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता 6-47)

अर्थात् तपस्वी कर्मकांडी एवं ज्ञानी से भी श्रेष्ठ योगी हैं एवं योगियों में सर्वश्रेष्ठ वह है, जो भक्त है। ये तीनों ही एक उसी तत्त्व को प्राप्त करते हैं, तीनों ही मुक्त हैं, तीनों ही अनन्त दिव्यानन्द अनन्तकाल के लिए प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं, फिर भी उस परमतत्त्व को अधिक एवं अधिकाधिक निकट से अनुभव करने के भेद से ही ज्ञानी, योगी एवं भक्त कहलाते हैं।

आपने आम का फल देखा होगा। यदि केवल देखने मात्र को आम का फल मिले तो समझिये यह ज्ञानियों का आनन्द है। यदि देखने एवं सूँघने को

भी मिले तो समझिये योगियों का आनन्द है। यदि देखने, सूँघने एवं चूसने को भी मिले तो यह भक्तों का प्रेमानन्द है।

वस्तुतः निराकार ब्रह्मानन्द एवं साकार प्रेमानन्द दो वस्तु नहीं हैं। आप तो यों समझिये। जैसे एक गर्भिणी माँ अपने पेट में अदृष्ट-पुत्र को महसूस करती हुई आनन्द-विभोर रहती है एवं अपने को पुत्रवती भी मानती है। जिस माँ को पचास वर्ष की आयु तक बन्ध्या रहना पड़ा हो एवं उस कारण वह दुःखी भी हो, आज गर्भाधान होने पर उसे कितना आनन्द मिल रहा है, यह माँ ही समझ सकती है। प्रतिमास आनन्द की वृद्धि भी होती जाती है जब कि पुत्र का अभी रूप, नाम, लीला व गुण, कुछ भी प्राप्त नहीं किया है। जब वही पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तब गर्भस्थ-पुत्र के सुख को नगण्य समझती है। गर्भस्थ-पुत्र को दूसरा नहीं समझती अपितु उस आनन्द की अपेक्षा इस रूप, गुण, लीला, नाम-युक्त पुत्र के आनन्द में विशेष वैलक्षण्य का अनुभव करती है। पुनः यदि उस माँ से कोई कहे कि जब गर्भस्थ-शिशु एवं बाहर का दृष्ट-शिशु एक ही है तो उसे पुनः गर्भ में कर दिया जाय, तो विश्व की कोई भी माँ ऐसा करना न स्वीकार करेगी क्योंकि अब तो इन्द्रियों से भी पुत्र का आनन्द प्राप्त कर रही है तब तो केवल अन्तःकरण से ही आनन्दानुभव करती थी। यह विशेष वैलक्षण्य है। ऐसा ही विशेष वैलक्षण्य निराकार ब्रह्मानन्द से साकार प्रेमानन्द में होगा, ऐसा अनुमान है।

यदि इतने पर भी आप न समझे हों तो उन परमहंसों के उदाहरण से समझिये जो प्रथम निराकार ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर चुके थे किन्तु पश्चात् साकार प्रेमानन्द में बरबस विभोर हो गये।

आइये, सर्वप्रथम सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के पास चलें। उसी से ज्ञान एवं प्रेम का विश्लेषण सुनें क्योंकि वह ज्ञान का भण्डार है। चारों वेदों का प्राकट्य सृष्टि के पूर्व में उसी से होता है। ब्रह्मविद्या आदि का प्रथम उपदेशक भी वही है।

जिसकी बनायी हुई सृष्टि के एक तिनके को भी विश्व का कोई बुद्धिमान्, जब तक ईश्वरीय शक्ति न प्राप्त कर ले, नहीं समझ सकता, तब फिर उसकी बुद्धि को कौन तौल सकता है ? आज के वैज्ञानिक तो ब्रह्मा के बनाये हुए सामानों को प्लस–माइनस करके नया सामान बनाते हैं। किन्तु ब्रह्मा ने तो प्रथम बिना सामान के ही सामान बनाया था। आज का वैज्ञानिक कुछ बनाता ही नहीं है, बनाता तो केवल ब्रह्मा है।

यदि आप कहें कि कितने सामान आज के वैज्ञानिकों ने बनाये हैं, फिर आप कैसे कहते हैं कि कुछ बनाते ही नहीं हैं। यह आपका भ्रम मात्र है क्योंकि किसी भी अन्य तत्त्व का निर्माण वैज्ञानिक नहीं करते अपितु उन अप्रकट तत्त्वों को प्रकट करते हैं। जैसे, जल में आग है, उसे सूझ–बूझ के द्वारा प्रकट कर लिया। यदि जल में आग न होती तो कैसे प्रकट करते ? इसी को *रिसर्च* यानी खोज कहते हैं जिसका अभिप्राय ही यह है कि वह वस्तु पहले से उसमें है किन्तु मैंने पता लगा लिया। कोलम्बस ने अमेरिका बनाया नहीं था, पता ही तो लगाया था। अस्तु, जिस ब्रह्मा के बनाये हुए प्रकृति के नियमों का अध्ययन तक भी अभी पूरा नहीं हो सका है, उसकी होड़ करना तो अनन्तकाल में भी असम्भव है। उसका प्रमुख कारण यह है कि ब्रह्मा जो आश्चर्यजनक सृष्टि करता है, वह ईश्वरीय शक्ति से करता है। ब्रह्मा कहता है—

षष्ठिवर्षसहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नन्दगोपब्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये।
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः ॥

(वृहद्वामन पुराण)

अर्थात् प्रेम–रस परिप्लुत ब्रज–गोप–गोपियों की चरण धूलि पाने के लिये मैंने साठ हजार वर्ष तप किया किन्तु फिर भी नहीं प्राप्त कर सका।

अब आप विचार कर लीजिए कि चारों वेदों का आदि-प्रकटकर्त्ता सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा निरक्षर गोपियों एवं गोपों की चरणधूलि के निमित्त तप करता है। फिर भी अप्राप्त ही रहता है। आपने भागवत में सुना होगा कि एक बार कृष्णावतार में ब्रह्मा को जब यह ज्ञात हुआ कि हमारी सृष्टि में भगवान् आया है तो वह परीक्षा लेने आया कि क्या सचमुच ये भगवान् हैं ? जैसे अल्पज्ञ विशेषज्ञ की परीक्षा नहीं ले सकता, ऐसे ही विशेषज्ञ भी सर्वज्ञ की परीक्षा नहीं ले सकता। क्योंकि वेद के अनुसार—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।

(मुण्डको. 1-1-9)

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है। जैसे आपके घर का *मेन स्विच पावर-हाउस* को *चैलेन्ज* करे तो यह एक पागलपन ही है, वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डों के रचयिता भगवान् की परीक्षा एक ब्रह्मा ले, यह उपहास की बात है।

संख्याचेत् रजसामस्ति न विश्वानां कदाचन।

(देवी पुराण)

अर्थात् पृथ्वी के रजकणों की गणना भले ही हो जाय किन्तु ब्रह्माण्डों की गणना नहीं हो सकती।

भिन्न-भिन्न प्रति लोक विधाता। भिन्न विष्णु शिव मनु दिसि त्राता॥

रामायण के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड के एक ब्रह्मा, एक विष्णु, एक शंकर होते हैं। इस प्रकार अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, शंकर के अधीश भगवान् हैं।

अस्तु, ब्रह्मा ने अनधिकार चेष्टा पूर्वक परीक्षा ली। अपनी शक्ति के द्वारा कुछ बछड़े, गायें, ग्वाले आदि चुरा ले गया। पश्चात् भगवान् ने वैसा ही बना दिया तथा उसका ब्रह्मलोक भी छिन गया। बेचारा ब्रह्मा ब्रह्मलोक से लौटा, ब्रज में देखा तो यहाँ भगवान् उसी प्रकार अपने सखाओं के मुँह से छीन-छीन

कर रोटी खा रहे हैं। यही देखकर तो उसे प्रथम भ्रम हुआ था, वही पुनः देखा एवं यह भी देखा कि जो जो हम चुरा ले गये हैं, वे वे उतने ही रूप, रंग, योग्यता आदि के ग्वाले, बछड़े आदि सब हैं। ब्रह्मा मूर्च्छित हो गया। पुनः क्षमा-याचना करते हुए कहता है—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(भाग. 10-14-30)

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

(भाग. 10-14-32)

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(भाग. 10-14-34)

भावार्थ यह है कि हे प्रभो! मैंने बड़ा भारी अपराध किया। मैं नहीं समझता था कि ये गोप, ग्वाल आदि प्रेमरस-परिप्लुत हैं। मैं यदि इनकी चरणधूलि पाने के लिये कोई पक्षी आदि बन जाऊँ तो भी अपना भूरिभाग्य मानूँ। इन गोपों के भाग्य की क्या सराहना हो सकती है, जिनका सनातन मित्र स्वयं सर्वशक्तिमान् भगवान् है।

अब आइये, आशुतोष भगवान् शंकर के पास। उनसे भी पूछें। शंकर जी के विषय में संसार जानता है कि मुक्तिदाता हैं, फिर ब्रह्म-ज्ञानी आदि पद का तो प्रश्न ही क्या हो सकता है। एक ब्रह्माण्ड को एक क्षण में बिना किसी सामान के त्रिनेत्र खोलकर भस्म कर देते हैं। वे शंकर जी कैलाश पर्वत पर सदा समाधिस्थ रहते हैं। उनको जब यह ज्ञान हुआ कि ब्रह्म ने रामावतार धारण किया है एवं अवधेश कुमार बन कर अयोध्या में अवतीर्ण हुए हैं तो

चट कैलाश छोड़कर बाबा जी के वेष में अयोध्या आ धमके एवं अयोध्या की वीथियों में चक्कर लगाने लगे कि जब राघवेन्द्र सरकार अवधेशकुमार घोड़े पर सवार होकर इधर से निकलेंगे तो उनके दर्शन करके भूरिभाग्यशाली बनूँगा एवं नेत्रों को कृतार्थ करूँगा। इतना ही नहीं, जब वे ही ब्रह्म राम द्वापर में श्रीकृष्ण बन कर आये तो अवतार लेते ही यशोदा मैया के द्वार पर सत्याग्रह करके शंकर जी बैठ गये और यह भिक्षा माँगने लगे कि मैया अपने लाला के दर्शन करा दे। मैया ने कहा, ऐसे भयानक भेष वाले बाबा को देखकर मेरा नवजात शिशु डर जायगा, मैं नहीं दिखाऊँगी। जिसके लिए वेद कहता है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठो. 2-3-3)

अर्थात् जिसके भय से अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु, काल आदि नियमित रूप से कार्य करते हैं, भावार्थ यह कि जिसके भय से 'भय' भी भयभीत होता है, वह कालात्मा भगवान् शंकर जी के गले में लिपटे हुए सर्पों एवं गले में पड़ी हुई मुण्डमाला से डर जायगा, यह बात भोली-भाली मैया कहती है। अन्ततोगत्वा शंकर जी निराश होकर यमुना के किनारे जाकर आसन लगा कर रोने लगे कि हे श्यामसुन्दर! तुम तो अकारणकरुण हो, भक्तवत्सल हो, क्या मुझे दर्शन न दोगे? तुम तो सब कुछ कर सकते हो।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता 4-11)

अर्थात् भगवान् का यह नियम है, जो जिस भाव से जितनी मात्रा में मेरे शरणापन्न होता है, मैं उसी भाव से उतनी ही मात्रा में उसका भजन करता हूँ। इतना ही नहीं, भगवान् कहते हैं—

जो तू धावे एक पग तो मैं धाऊँ साठ।
जो तू करों काठ तो मैं लोहे की लाठ॥

अर्थात् यदि जीव भगवान् की ओर एक कदम भी आगे बढ़ता है तो भगवान् उसकी ओर साठ कदम दौड़ कर जाते हैं। बस, इसी नियम के अनुसार शंकर जी के रुदन पर लीलाधारी श्यामसुन्दर भी रोने लगे। ऐसा रोना मैया ने इसके पूर्व नहीं देखा था। किसी प्रकार चुप न होते देखकर अन्य माताओं के द्वारा मैया ने यह निश्चय कर लिया कि हो न हो, बाबा ही इस लाला पर कुछ टोना कर गया है, उसी ने नज़र लगाई है। वही यदि आवे तो श्यामसुन्दर अच्छे हो सकते हैं। अस्तु, मैया अत्यन्त अधीर होकर शंकर जी को खोजने लगी। यमुना के तट पर शंकर जी को पाकर उनसे रोकर प्रार्थना करने लगी कि बाबा जी! चलो तुम्हें लाला बुला रहा है। शंकर जी समझ गये कि मेरी पुकार से लाला में इतना परिवर्तन हो गया। अस्तु, भगवान् शंकर गये एवं जैसे ही शंकर जी की नज़र श्यामसुन्दर की नज़र से मिली, वैसे ही श्यामसुन्दर की लगी हुई मिथ्या नज़र उतर गयी। पुनश्च, रास के समय भी भगवान् शंकर ने नारी वेश में प्रवेश किया, यह भी सर्वविदित है। इनसे बड़ा ज्ञानी बनने का दावा कौन कर सकता है।

अच्छा, अब आप और नीचे आइये। क्योंकि शायद आप लोग कहें, ये ब्रह्मा, शंकर तो भगवान् के ही स्वरूप हैं, गुणावतार कहे जाते हैं, अतएव इनका प्रमाण कोई प्रमाण नहीं है, यदि जीव-क्लास के परमहंस अपना प्रमाण दें तब ही मान्य हो सकता है। तो लीजिये, जीव-क्लास के उदाहरण समक्ष रखे जाते हैं।

सत्ययुग के परमहंसों के नेता इतिहास-प्रसिद्ध चार भाई हो चुके हैं जिन्हें हम यहाँ तक कह सकते हैं कि जन्मजात परमहंस थे। वे सनकादिक परमहंस

एक बार बैकुण्ठ में गये। वहाँ समासीन सगुण-साकार भगवान् के चरणकमलों पर रखी हुई तुलसी की मकरन्द-वायु जैसे ही सनकादि परमहंसों के नासिकारन्ध्र में प्रविष्ट हुई, वैसे ही उनकी निर्गुण-निराकार-ब्रह्मानन्द की समाधि समाप्त हो गयी एवं वे प्रेमरस-विभोर हो गये। इसी आशय से वेदव्यास ने कहा है कि—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

(भाग. 3-15-43)

पुनः परमहंसों ने भगवान् से वरदान माँगा—

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥

(भाग. 3-15-49)

अर्थात् हे श्यामसुन्दर! हमें भले ही नरक में वास दे दो किन्तु इतनी कृपा करो कि मेरा मन आपके चरणकमलों में भ्रमर बनकर अनुरक्त रहे। जरा आप लोग सोचिये कि जीवन्मुक्त ब्रह्मलीनावस्था के पश्चात् प्रेमरस-संयुक्त नरकवास-याचना का क्या अभिप्राय हो सकता है ? यही न कि प्रेम की रस-माधुरी में कुछ विलक्षण वैलक्षण्य है।

त्रेतायुग के ज्ञानियों के नेता महाराज जनक हो चुके हैं, जिनको उस युग में विदेह की उपाधि मिली थी, जिनके विषय में जगद्-विख्यात है कि उनका एक हाथ नंगी स्त्रियों के स्तनों पर पड़ा था, एक हाथ जलती हुई आग में पड़ा था एवं ध्यान ब्रह्मस्थ था। ऐसे विदेह जनक ने जब प्रथम बार सगुण-साकार भगवान् राघवेन्द्र सरकार को देखा तब—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ विदेह विदेह विसेखी।

अर्थात् जब श्री राम को देखकर विदेह विदेह हो गये, तब बरबस ज्ञानमार्गीय ब्रह्मानन्द छूट गया, उसका प्रयत्न नहीं किया गया।

इनहिं विलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥

आप कहेंगे कि ब्रह्मानन्द तो कथमपि छूट नहीं सकता। यदि '**ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा**' ऐसा हुआ तो क्या '**विषय सुखहिं मन लागा**' ऐसा हो गया? नहीं, ऐसा नहीं हुआ, किन्तु अपने ब्रह्म को और अधिक मधुरतम स्वरूप में देखकर उनमें स्वभावतः अनुरक्त हो गये। इसी से पुनः जनक जी ने कहा—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय रूप धरि की सोइ आवा॥

अर्थात् मेरा मन ब्रह्मानन्द का रस पीनेवाला है वह अन्यत्र कुत्रापि अनुरक्त ही नहीं हो सकता क्योंकि अन्यत्र कुत्रापि आनन्द है ही नहीं और यदि है भी तो वह भ्रमात्मक, सीमित, मायिक एवं क्षणभंगुर ही है। अतएव यह निश्चित है कि वह ब्रह्म ही है, मूर्तिमान होकर आया है। जिसे हम अभी तक अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य आदि कहते थे; वही दृष्ट, ग्राह्य एवं व्यवहार्य बन कर आया है।

द्वापरयुग के ज्ञानियों के नेता उद्धव जी हैं। उन्हें ब्रह्मानन्द का बड़ा ही शुद्धाभिमान था। भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्हें यह बोध कराने के लिये गोपियों के पास भेजा कि तुम्हारे निराकार-ब्रह्मानन्द से प्रेमानन्द का रस विशेष विलक्षण है। अस्तु, उद्धव जी गोपियों को ज्ञान देने गये और ऐसा ज्ञान देने गये कि बस, उनको ज्ञान देकर ही लौटे, फिर उसे अपने साथ वापस नहीं लाये, अपितु प्रेमरस विभोर होकर लौटे एवं श्रीकृष्ण से गोपियों की प्रशंसा करते हुए वरदान माँगा कि—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(भाग. 10-47-61)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! इन गोपियों की चरणधूलि पाने के लिए यदि मैं वृन्दावन में कोई लता, गुल्म, वृक्षादि होता तो भी अपना पुण्यपुंज समझता। मानव-देह पाना ही व्यर्थ सिद्ध हो रहा है क्योंकि इन गोपियों ने उस पदवी को प्राप्त किया है, जिसे श्रुतियाँ आज तक तपश्चर्या द्वारा भी नहीं प्राप्त कर सकीं।

पुनः समस्त पुराणों एवं वेदान्त के रचयिता वेदव्यास जी के पास आइये। वे अनेक पुराण एवं वेदान्त बनाने के पश्चात् भी अशान्त हैं। तब नारद जी ने संकेत किया कि व्यास जी! श्रीकृष्ण-लीलाओं के स्मरण-कीर्तन आदि के द्वारा ही परम शान्ति मिल सकती है। पांडित्य-प्रदर्शन पृथक् वस्तु है, प्रेमरस-परिप्लावन पृथक् वस्तु है। अस्तु वेदव्यास जी ने भागवत महापुराण द्वारा श्रीकृष्णलीलादि का गान किया, तब शान्ति मिली। वे वेदव्यास कहते हैं—

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥

भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥

बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥

जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्री विष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥

(भाग. 2-3-20 से 24)

अर्थात् जो कान श्यामा-श्याम के गुणानुवाद न सुनें, वे कान नहीं हैं अपितु साँपों के रहने के बिल के बराबर हैं। जो रसना श्यामा-श्याम की लीलाओं का गान न करे, वह मेंढकी है। जो सम्राट् अपने सुवर्ण के मुकुट से युक्त सिर को श्यामसुन्दर के सामने न झुका दे, वह भारस्वरूप है। भावार्थ यह कि वह इन्द्रिय वन्दनीय नहीं है अपितु घोर निन्दनीय है जो सगुण साकार भगवान् की सेवा में न लगे, एवं वह मन भी वज्र के समान है जो भगवान् के नाम-गुणादि श्रवण-कीर्तन से न पिघल जाय एवं नेत्रों में आनन्दाश्रु न आ जायें तथा शरीर में रोमांच न हो जाय। कहाँ तक कहें, वह जीवित अवस्था में ही मुर्दे की भाँति है जो श्यामसुन्दर के प्रेमरस से परिप्लुत न हो जाय।

अब इन वेदव्यास के रिश्ते में पुत्र एवं योग्यता में पिता के समान श्रीशुकदेव परमहंस के पास चलो। इन शुकदेव परमहंस की बात हमारे हिन्दू इतिहास में अत्यन्त विलक्षण है। ये अपनी माता पिंगला के उदर में 12 वर्ष तक पड़े रहे, बाहर ही नहीं निकले। वह इसलिए कि कहीं बाहर निकलते ही माया न लग जाय। अस्तु, परमहंसावस्था में बाहर आये एवं किसी अज्ञात दिशा को चल दिये। वेदव्यास जी पीछे-पीछे 'पुत्र! पुत्र!', ऐसा पुकारते हुए जा रहे हैं किन्तु शुकदेव जी सुन ही नहीं रहे हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सुना अनसुना कर दिया, अपितु परमहंसावस्था में बाह्य शब्द सुनाई ही नहीं पड़ता। यह उनकी नवजात शिशु वाली आयु में ही परमहंसावस्था है।

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥

(भाग. 1-2-2)

पुनः शुकदेव जी और आगे बढ़े। पीछे-पीछे वेदव्यास भी 'पुत्र! पुत्र!' पुकारते जा रहे हैं। थोड़ी दूर जाने पर वेदव्यास जी ने एक दृश्य देखा —

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः।

(भाग. 1-4-5)

अर्थात् कुछ स्त्रियाँ एक सरोवर में नंगी स्नान कर रही थीं। शुकदेव जी को देखकर उन लोगों ने वस्त्र नहीं धारण किये किन्तु जैसे ही वेदव्यास पास में गये, वैसे ही उन स्त्रियों ने वस्त्र धारण कर लिये। यह देखकर वेदव्यास जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उन स्त्रियों को डांटते हुए कहा-तुम लोगों ने मुझ बूढ़े के लिये पर्दा किया किन्तु मेरे युवा बेटे के लिए पर्दा क्यों नहीं किया? स्त्रियों ने उत्तर दिया कि वेदव्यास जी! क्षमा करेंगे। आप केवल हंस हैं एवं शुकदेव परमहंस हैं, अतएव आपके लिए पर्दा करना अनिवार्य है। वेदव्यास ने पूछा, हंस एवं परमहंस का भेद तो बताओ। तुम्हें कैसे ज्ञात हो गया कि शुकदेव परमहंस है एवं मैं केवल हंस हूँ? इसका तात्पर्य यह कि तुम लोग हम दोनों से अधिक योग्यता रखती हो। स्त्रियों ने कहा-नहीं महाराज! योग्यता तो हमारी आपसे बहुत कम है किन्तु हमने तो इस प्रकार निश्चय किया कि शुकदेव परमहंस हैं। हमने वेदों में यह सुना था कि—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

(बृहदा. 2-4-14)

अर्थात् जहाँ द्वैत होता है वहाँ किसी से किसी को देखता है, किसी से किसी को सूँघता है, किसी से किसी को सोचता है, किसी से किसी को जानता है। किन्तु जहाँ अद्वैत हो जाता है वहाँ वह परमहंस सर्वत्र अपने आप को ही अनुभव करता है, फिर वह किससे किसको देखे, किससे किसको सुने, किससे किसको सूँघे, किससे किसको सोचे, किससे किसको जाने। जानने वाले को किससे जाने।

और इस अवस्था का अनुमान हमने इस प्रकार लगाया कि यदि शुकदेव परमहंस अपने सिवा कुछ भी देखता तो उसकी दृष्टि में कुछ अन्तर अवश्य होता चाहे प्यार होता, चाहे क्रोध होता, चाहे आश्चर्य होता। किन्तु हम लोगों ने उसकी दृष्टि में थोड़ा भी अन्तर नहीं पाया एवं तुम्हारी दृष्टि में अन्तर पाया। तुमने प्रश्न किया, बस यही द्वैत है। यदि तुम भी अपने सिवा कुछ न देखते तो प्रश्न ही न उत्पन्न होता। फिर प्रश्न करते भी किससे? क्योंकि परमहंस जब अनुभव ही कुछ नहीं करता तो प्रश्न किससे करेगा? हंसावस्था का अभिप्राय आप लोग यह न समझेंगे कि वह मायिक द्वैतावस्था होगी, अपितु वह दिव्य द्वैतावस्था ही होती है। उसमें सत्यासत्य का भान तो होता है किन्तु सत्य के ऊपर असत्य कभी भी अधिकार नहीं कर सकता। रामायण के अनुसार—

जड़ चेतन गुण दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

अर्थात् हंस-प्रवृत्ति के सन्त सत्य, असत्य दोनों को देखते हैं किन्तु ग्रहण सत्य का ही करते हैं। असत्य का परित्याग उसी प्रकार कर देते हैं, जैसे हंस नीर का परित्याग करके केवल क्षीर का ही सेवन करता है।

वे शुकदेव परमहंस जंगल चले गये, वेदव्यास लौट आये। इसी बीच वेदव्यास ने भागवत का निर्माण किया। भागवत के एक श्लोक को एक शिष्य

ने याद कर लिया एवं वह जब जंगल की ओर दूर चला गया तो देखा कि शुकदेव परमहंस निर्विकल्प समाधि में लीन हैं। उस शिष्य ने वही श्लोक शुकदेव जी के कान में एक बार सुनाया। बस, फिर क्या था, शुकदेव परमहंस की समाधि खुल गयी। ध्यान देने की बात है कि प्राकृत शब्द समाधि में नहीं जा सकता किन्तु यह श्लोक समाधि में चला गया एवं समाधि को समाप्त कर आया। यह श्रीकृष्ण लीला-विषयक रहस्य है जिसे अन्तरंग रसिक ही जान सकते हैं एवं यह शुकदेव परमहंस सरीखे ही पर अपना चमत्कार भी दिखा सकता है। साधारण संसारी जीव उस श्लोक को सुनकर शायद उससे रस भी न ले सके। अस्तु, शुकदेव जी उसी शिष्य के पीछे-पीछे भागे हुए आये एवं वेदव्यास से सम्पूर्ण भागवत का श्रवण किया। अब यहीं ध्यान दीजिये कि परमहंसावस्था पर पुनः श्रवण प्रारम्भ हो रहा है।

भावार्थ यह कि मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा पातंजलि शास्त्रों के द्वारा ईश्वरीय श्रवण, मनन, निदिध्यासन के पश्चात् तो परमहंसावस्था प्राप्त होती है, वह तो शुकदेव जी को पहले ही प्राप्त हो चुकी है, अतः फिर प्रारम्भिक साधना अर्थात् श्रवण-रूपी साधना कैसे प्रारम्भ कर रहे हैं ? इसका उत्तर है—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

(भाग. 1-7-11)

अर्थात् श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा सिद्धावस्था पर पहुँचने पर भी दिव्य प्रेम के द्वैतरस सम्बन्धी श्रवण-कीर्तनादि सिद्धावस्था के ही रस हैं। साधक का श्रवण पृथक् वस्तु है, उसके सहयोग से वह ईश्वर में मन लगाने की साधना करता है, किन्तु शुकदेवादि परमहंसों का श्रवण दिव्य प्रेमरस पाने के लिए होता है। यह उसका अन्तरंग रहस्य है एवं यही सगुण साकार प्रेम-

रस का वैलक्षण्य है। प्राकृत द्वैत से अतीत होकर दिव्य अद्वैत में ब्रह्मानन्द का अनुभव करना, यह परमहंसावस्था है किन्तु पश्चात् दिव्य द्वैत-प्रेमरस-माधुरी का पान करना यह दिव्य सिद्धावस्था का विशेष रस है। शुकदेव परमहंस कहते हैं —

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥

(भाग. 12-13-15)

अर्थात् जितने भी वेदान्त-सिद्धान्त विश्व में हो सकते हैं (यथा अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैतादि) उन सबों का सारभूत तत्त्व यह है कि सगुणसाकार भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, लीला, गुण, धामादि में मन को अनुरक्त किया जाय एवं अनुरक्त करने के पश्चात् भगवत्कृपा से प्राप्त दिव्य प्रेम-रस के द्वारा पुनः उन्हीं नाम, गुण, लीलादि का सेवन किया जाय और यह दिव्य द्वैत-प्रेम-रस-माधुरी का आस्वादन अनन्तकाल तक प्रतिक्षण वर्द्धमान ही होता रहे।

अब आप सोचिये कि जन्मजात परमहंस शुकदेव सरीखे जब इस प्रकार एक श्लोक में विभोर हो गये, तब अन्य ज्ञानियों की तो बात ही क्या! आप लोग उत्सुक होंगे कि वह श्लोक कौन-सा है। सुनिये —

अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(भाग. 3-2-23)

अर्थात् हे अकारणकरुण श्रीकृष्ण! तुमको छोड़कर और किससे प्रेम करूँ? तुम्हारी इस गुण-गरिमा को सुनकर तो मैं विभोर हो जाता हूँ कि जिस पूतना ने अपने स्तनों में विष लगाकर तुम्हें मार डालने की इच्छा से विष पिलाया, तुमने उसे अपना लोक दे दिया, और जब किसी ने पूछा कि आप तो सर्वज्ञ हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, भावनाओं का फल दिया करते हैं और पूतना की

दुर्भावना को आप जानते थे, फिर भी आपने उसे सद्‌भावना का सा फल कैसे दिया ? तो आपने यह उत्तर दिया कि जब मैंने उसके स्तन में मुँह लगा दिया तो वह मेरी माँ हो गयी; अस्तु, उसका उद्धार करना ही चाहिये।

सिद्धान्त की दृष्टि से भी पूतना का उद्धार सत्य ही है क्योंकि पूतना ने श्यामसुन्दर को देखा, विभोर हो गयी; जब स्पर्श किया तब तो अवर्णनीय ही स्थिति थी। अतएव मन का ऐक्य होने पर उद्धार करना नियम–विरुद्ध नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि विरोधीभाव से उसने मन को द्रवीभूत करके उस मन में श्यामसुन्दर को एक कर दिया था। अस्तु, कुछ भी कारण हो वास्तव में तो यह उनकी अकारण–करुणा का ही परिणाम है।

अब आइये, कलियुग के ज्ञानियों के नेता आदि शंकराचार्य पर विचार किया जाय। मैंने पूर्व में यह बताया है कि शंकराचार्य ने श्रीकृष्ण–भक्ति ही की थी। केवल भाष्यों का निर्माण अद्वैतपरक किया था, जिसका अभिप्राय बौद्ध–धर्म एवं ईश्वर–रहित मीमांसा–कर्म का खण्डनमात्र था। शंकराचार्य को सभी विचारक प्रच्छन्न रसिक कहते हैं। बौद्धिक वस्तु पृथक् है, अन्तरंगता पृथक् है। विश्व–कल्याण के लिये कार्य पृथक्–पृथक् होता है, कहीं श्रीकृष्ण महाभारत करते हैं तो कहीं महारास करते हैं। अतएव महापुरुषों के भी कार्य भगवदनुरूप होने के कारण कई कक्षा के होते हैं उनमें उनका हृदय ही देखना चाहिये।

एक परमहंस तो ब्रह्म की स्थिति देखकर कहने लगा कि —

गोपालांगणकर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गोसुतहुंकृतैः स्तुतिपदैर्मौनं विधत्से सताम्।
दास्यं गोकुलकामिनीषु कुरुषे स्वाम्यं न दत्तात्मसु
जाने कृष्ण त्वदीय पादयुगलं प्रेमैकलभ्यं परम्॥

(सूक्ति)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! तुम तो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वसाक्षी, सर्वसुहृत्, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् भगवान् हो, ऐसा वेदादिकों में कहा गया है, किन्तु तुम इतने असमर्थ कैसे हो गये ? अर्थात् त्रिकाल में जिसमें अज्ञान नहीं आ सकता उस भगवान् में भी अधोनिर्दिष्ट बातें कैसे आ गयीं ? क्या ब्रह्म को भी भ्रम हो गया ? वह क्या ? सुनिये —

हे ब्रह्म–श्रीकृष्ण! तुम अनन्त कोटिब्रह्माण्डनायक होते हुए भी अनन्त ब्रह्माण्डों में भी एक ब्रह्माण्ड में भी एक लोक में भी एक देश भारतवर्ष में भी एक प्रान्त उत्तर प्रदेश में भी एक जिला मथुरा में भी एक गाँव नन्दगाँव में भी एक घर नन्द–घर के आंगन की कीचड़ में विहार करते हो एवं ब्राह्मणों द्वारा विधिवत् सम्पादित यज्ञों में भी जाने में लज्जा लगती है अर्थात् महत्तम विधिपूर्ण यज्ञ में केवल मन्त्रोच्चारण द्वारा ही तुम्हें आहुति दी जाती है, तुम प्रत्यक्ष जाकर नहीं स्वीकार करते। इतना ही नहीं, गोकुल ग्राम की गायों के बछड़ों के हुंकार से बातचीत करते हो, जबकि बड़े–बड़े प्रकाण्ड पण्डितों की वैदिक, पौराणिक महावाक्यों की स्तुतियों में मौन रहते हो अर्थात् मन्दिरों में अनेकानेक मनीषी वैदिक, पौराणिक महामन्त्रों से स्तुतियाँ करते हैं, परन्तु मूर्ति में स्थित तुम कुछ नहीं बोलते। तात्पर्य यह कि यदि तुम मूर्ति द्वारा इतना ही बोल दो कि – 'तुम गधे हो' तो भी विद्वद्वर्ग बलिहार जाय। क्योंकि एक बार ऐसा हुआ कि एक मुस्लिम फकीर ने दिनरात खुदा की इबादत की। नमाज पढ़ते–पढ़ते उसके घुटने घिस गये। एक दिन एक दूसरे मुस्लिम फकीर ने उससे पूछा कि तुम्हें खुदा मिले हैं या खाली *फिज़ीकल ड्रिल* करते हो ? पहले फकीर ने बड़े अदब से कहा कि मुझे तो खुदा कभी नहीं मिले, तुम्हें मिले हैं क्या ? इस पर दूसरे फकीर ने कहा – हमें तो रोज मिलते हैं। तब पहले फकीर ने कहा, तो इतना कष्ट कीजिये कि खुदा से पूछकर बताइये कि क्या मेरी कोई नमाज़ खुदा को पसंद आयी। उसने कहा, अच्छा मैं कल

बताऊँगा। दूसरे दिन वह फकीर आया और उससे कहा कि खुदा से मैंने पूछा था पर खुदा ने तो यह कहा कि हमें उसकी एक भी नमाज़ पसन्द नहीं आयी। यह सुनते ही फकीर विभोर होकर नाचने लगा। दूसरे फकीर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बार-बार यह दुहराया कि 'पसन्द नहीं आई', किन्तु वह तो आनन्द में मूर्च्छित हो गया। होश में आने पर जब पूछा कि तुम खुश क्यों हो रहे हो, तो उसने कहा कि जब खुदा ने यह कहा कि मेरी एक भी नमाज़ पसन्द नहीं आयी तो इसका अभिप्राय यह है कि खुदा ने मेरी हर नमाज़ देखी होगी। मुझ नाचीज़ इन्सान की हर नमाज़ खुदा देखता है, यह मेरे लिये कितनी खुशी की बात है! तात्पर्य यह कि यदि विद्वानों की स्तुति पर भगवान् मूर्ति से गाली भी दे दें तो विद्वान् लोगों को यह खुशी तो हो कि चलो बोले तो! इतना ही नहीं, अपढ़ गँवार गोकुल की अहीरनियों की दासता करते हो, उनकी छछिया भर छाछ पर अनेकों सेवायें करते हो किन्तु बड़े-बड़े जीवन्मुक्त ब्रह्मलीन परमहंसों की समाधि में भी, स्वामी बनकर भी जाने में संकोच करते हो। यह सब क्यों हुआ? सब एकमात्र भक्ति-महादेवी की गरिमा है, जिसके लिए भगवान् कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(भाग. 11-14-15)

अर्थात् मुझे जितने भक्त प्यारे हैं, उतने प्रिय न ब्रह्मा हैं, न शंकर हैं, न बलराम हैं, न मेरी अर्धांगिनी लक्ष्मी हैं। कहाँ तक कहें, मेरी आत्मा भी मुझे उतनी प्रिय नहीं है। पुनः कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(भाग. 9-4-63)

अर्थात् मैं भक्तो का दास हूँ, उनके पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, उन्होंने मेरा हृदय खा लिया है। अतएव—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(भाग. 11-14-16)

अर्थात् मैं उन प्रेमियों के पीछे-पीछे चलता हूँ कि उनकी चरणधूलि मेरे ऊपर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ। एक परमहंस कहता है —

निगमतरौ प्रतिशाखं मृगितं मिलितं परं ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटीपटांचले नद्धम्॥

(सूक्ति)

अर्थात् जिस ब्रह्म को चारों वेदों की प्रत्येक शाखाओं में ढूँढ़ने पर पृथक्-पृथक् बिखरा हुआ प्रकाश-स्वरूप पाया था, उसी ब्रह्म को बिना ढूँढ़े एक ही जगह इकट्ठे ही ब्रजगोपियों के वस्त्र के आँचल से बँधा हुआ पाया। पुनः—

धन्या गोकुलकन्या वयमिह मन्यामहे जगति।
यासां नयनसरोजेष्वंजनभूतो निरंजनो वसति॥

(शंकराचार्य)

उन ब्रजांगनाओं को धन्य है; उनके भाग्य की कौन सराहना कर सकता है, जिनकी आँखों में निरंजन ब्रह्म भी अंजन बन कर रहता है। पुनः नारद जी कहते हैं—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वम्
गत्वा कीदृग् विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादम्
तत् पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत्क्रोडमारोढुकामम्॥

(सूक्ति)

अर्थात् मैया यशोदा! तेरे भाग्य की क्या सराहना करूँ? मैं तो हैरान हूँ, क्योंकि वेदादि में ऐसा कहीं भी कोई साधन नहीं बताया गया है जिसका यह फल प्राप्त हो कि जिसके कृपा-कटाक्ष को ब्रह्मा-शंकर-इन्द्रादि भी नहीं प्राप्त कर पाते, वही प्रत्यक्ष गोचरित होने वाला ब्रह्म, गोपाल बन कर, तेरी गोद में आने के लिए रोता हुआ धरती पर लोट रहा है और फिर भी तू दुत्कारती हुई कहती है कि 'जाओ खेलो अभी हमें छुट्टी नहीं है, घर का काम करना है! तुम्हीं कोई अनोखे बेटे हो, सबके बच्चे दिन भर खेलते हैं,' इत्यादि।

भावार्थ यह कि यद्यपि निराकार-ब्रह्मानन्द एवं साकार-प्रेमानन्द एक ही हैं, एक ही ब्रह्म के दो अभिन्न स्वरूप हैं, दोनों दिव्यानन्द हैं, फिर भी उपर्युक्त रीति से प्रेमानन्द में कुछ विशेष चमत्कार है, जिसे पाकर परमहंस दीवाने हो जाते हैं। अब आप लोग समझ गये होंगे कि एक तो ज्ञानमार्ग का अधिकारी ही करोड़ों में कोई होता है। यदि कोई हुआ भी तो मार्ग के मध्य में पतन की विशेष सम्भावना है। और यदि घुणाक्षर-न्याय से निकल भी गया और ब्रह्मानन्द प्राप्त भी कर लिया तो भी करोड़ों ऐसे ब्रह्मानन्दियों में किसी सौभाग्यशाली को दिव्य-द्वैत का प्रेम-रसामृत पान करने को उपलब्ध होता है।

राधे राधे गोविंद गोविंद राधे। राधे राधे गोविंद गोविंद राधे॥

निराकार, साकार ब्रह्म एवं अवतार रहस्य

कुछ लोग कहते हैं कि अवतार क्या वस्तु है, ईश्वर तो निराकार ही होता है। किन्तु मैंने पूर्व में भी बताया था कि ईश्वर दो विरोधी धर्मों का अधिष्ठान है अर्थात् '**अजायमानो बहुधा विजायते**' *(पुरुष सूक्त, यजुर्वेद)* के अनुसार अशरीरी भी है एवं सशरीरी भी है। पुनः और स्पष्ट सुनिये। वेद कहता है—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च।

(*बृहदा. 2-3-1*)

अर्थात् निराकार एवं साकार, ब्रह्म के दो स्वरूप होते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि ईश्वर साकार है तो सूक्ष्म में भला कैसे व्याप्त होगा, और यदि साकार होता तो लोक में कभी तो दिखाई पड़ता। वास्तव में जीव भी तो निराकार है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।

(श्वेता. 5-9)

अपरञ्च-

चिन्मात्रं श्री हरेरंशं सूक्ष्ममक्षरमव्ययम्।

(वेद)

जैसे निराकार जीव शरीर धारण करता है, वैसे ही ब्रह्म भी शरीर धारण करता है। अन्तर इतना है कि जीव मायाधीन होने के कारण मायिक शरीर धारण करता है एवं कर्म-परवश शरीर धारण करता है, किन्तु ईश्वर योगमाया के द्वारा दिव्य चिदानन्दमय शरीर धारण करता है एवं जीवों को रस देने के हेतु स्वेच्छा से शरीर धारण करता है। यह कहना कि वह कभी तो दिखाई देता, तो यह बच्चों का सा तर्क है, क्योंकि ईश्वर का शरीर दिव्य है और हमारी आँखें प्राकृत हैं, अतएव प्राकृत आँख से दिव्य शरीर नहीं दिखाई पड़ सकता। हाँ, जब उपासनादि के द्वारा अधिकारी बन जाते हैं एवं ईश्वर कृपा से दिव्य दृष्टि मिल जाती है, तब उस दिव्य ईश्वर को साकार रूप से सर्वत्र देखते हैं। अनन्तानन्त सन्त इसके प्रमाण हैं।

जो ईश्वर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों को मुस्कराकर साकार रूप दे देता है, इतना ही नहीं, अनन्त सूक्ष्म तत्त्वों को साकार रूप प्रदान कर देता है, क्या वह स्वयं देह नहीं धारण कर सकता? यह विलक्षण सा प्रश्न है। सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् के लिये यह कौन सी बड़ी बात है? उसके तो अनन्त अचिन्त्य, अलौकिक शक्तियाँ हैं। यह तो प्राकृत जगत् में ही देखने को मिल जायगा कि निराकार तत्त्व साकार हो रहा है, यथा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्।

(तैत्तिरीयो. 2-1)

अर्थात् ईश्वर से आकाश बन गया। आकाश में स्पर्श गुण नहीं है, किन्तु उससे वायु बन गया। वायु से अग्नि या तेज बना एवं तेज से जल बन गया। इसी प्रकार जल से पृथ्वी बन गयी, पृथ्वी से औषधियाँ बन गयीं,औषधियों से अन्न बन गये अब सोचिये, निराकार एवं स्पर्शादि-गुण-रहित से ही तो

साकार-स्पर्शादि-गुण युक्त पृथ्वी बनी है, फिर स्वयं सर्वशक्तिमान् सर्वसमर्थ ईश्वर साकार न बन सके, यह कितने भोलेपन का तर्क है।

पुनः कुछ लोग बच्चों का सा प्रश्न करते हैं कि देखो, जगत् में बादल से जल बन जाने पर बादल समाप्त हो जाता है, भाप से बादल बन जाने पर कारण समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार सर्वव्यापी निराकार भगवान् साकार बन जाने से फिर व्यापक न रह सकेगा। अर्थात् उनको यह भय है कि निराकार ब्रह्म ही समाप्त हो जायगा, किन्तु ऐसी डरने की कोई बात नहीं। प्राकृत कारणों में भिन्न कार्यशक्तियाँ होती हैं, किन्तु ईश्वर में सर्व-कार्यसमर्था शक्तियाँ होती हैं। तभी तो ईश्वर को सर्वकारण-कारण एवं सर्वसमर्थ कहा गया है। अगर लौकिक कारणों में भी सर्वकार्य-समर्था शक्तियाँ होने लग जायें तब तो वह प्राकृत ही न कहलायें। अतएव लौकिक, सीमित कारण-शक्तियों के अनुमान से सर्वशक्तिमान् सर्वसमर्थ ईश्वर को नापना भोलापन है।

कुछ लोग और भी आगे एक तर्क उपस्थित करते हैं, वह यह कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान एवं सर्वसमर्थ है तो क्या वह अपना नाश कर सकता है? अर्थात् शायद उन प्रश्नकर्ताओं का यह अभिप्राय होगा कि अगर कहीं जोश में आकर ईश्वर अपना नाश कर डाले तो हम लोगों को ईश्वर से छुट्टी मिले, फिर हम मनमाने ढंग से पापादि में प्रवृत्त हों, कोई शासन न रह जाय। किन्तु वे लोग बड़े भोले हैं, वे इतना भी नहीं जानते कि शक्ति सदा स्वरूप के अनुकूल होती है, स्वरूप के विरुद्ध नहीं हुआ करती। देखो, अग्नि सर्वदहनसमर्थ कहलाती है—

'का नहिं पावक जरि सके'।

अर्थात् अग्नि सब कुछ जलाने में समर्थ है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अग्नि अपने आपको भी जला सकती है, क्योंकि ऐसा तो सर्वथा

असम्भव है, स्वरूप के प्रतिकूल है। नट अपने कन्धे पर चढ़कर नहीं चल सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि जैसे वह अनन्त ब्रह्माण्ड बना सकता है, क्या ऐसे ही अनन्त ईश्वर भी बना सकता है ? शायद उनका अभिप्राय यह है कि यदि अनन्त ईश्वर हो जायें तो कुछ होड़ चले जिससे हम लोगों को कुछ विशेष छूट मिल जाय। किन्तु यह असम्भव है कि अनन्त ईश्वर होने से कुछ नियम-विरुद्ध, लौकिक होड़ की भाँति लाभ हो जायगा। वैसे ईश्वर अनन्त रूप धारण ही करता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में सदा अनन्त अवतार हुए रहते हैं, एक अवतार में भी रासादि के प्रकरण में अनन्त रूप धारण करते हैं, किन्तु जब वह स्वयं ईश्वर है एवं अपने बराबर ही ईश्वर बनाता है तो सभी ईश्वर एक ही ईश्वर तो हुए। अर्थात् अनन्त रूप धारण करके पुनः एक हो जाता है। यदि प्रश्नकर्त्ता का यह अभिप्राय हो कि अनाद्यनन्त एक पृथक् ईश्वर बनाये जो इस ईश्वर से पृथक् अपना कार्य करे, तो यह लौकिक बुद्धि का ही तर्क ठहरा। यह सर्वथा असम्भव है, क्योंकि यह भी स्वरूप के विपरीत कार्य होगा। पुनः लौकिक, मायिक, राग-द्वेष के कार्य या अनावश्यक कार्य ईश्वर द्वारा नहीं सम्पादित होते।

भावार्थ यह है कि ईश्वरीय शक्तियाँ स्वरूप के विपरीत (अग्नि की भाँति) कुछ नहीं कर सकतीं; अन्यथा तो वह शक्ति के आधीन माना जायगा, किन्तु वह समस्त शक्तियों का स्वामी है। अतएव इन तर्कों का वहाँ प्रवेश ही नहीं है। निराकार एवं साकार दोनों ही ईश्वरीय स्वरूप वेद से लेकर रामायण तक सर्वत्र स्पष्ट हैं, लोक में भी सर्वविदित हैं। यह शंका अनर्गल है। पूर्व में मैंने यह भी बता दिया है कि देहधारियों के लिये निराकार ब्रह्म की उपासना अति क्लिष्ट है। अधिकारी की भी अपेक्षा है, मार्ग में भी कठिनता है, अन्तिम अवस्था में भी रस-वैलक्षण्य की न्यूनता है और यदि इन सब बाधाओं को

पार करते हुए भी कोई उस निराकार ब्रह्म की उपासना करना चाहे तो नियमानुसार अधिकारी बनने के पश्चात् ही कर सकता है, यह भी वेद-शास्त्र सम्मत मत है। किन्तु यहाँ तो भक्तियोग के प्रकरण में साकार-भक्ति का ही प्रतिपादन चल रहा है।

अवतार रहस्य

कुछ लोग कहते हैं कि यह ठीक है कि निराकार ब्रह्म साकार बन सकता है, किन्तु साकार बनकर अवतार लेने की क्या आवश्यकता है ? जब वह सर्वसमर्थ है तो बिना अवतार लिये भी सब कार्य कर सकता है। अस्तु , अब वे लोग अवतार का रहस्य समझें।

अवतार लेने के अनन्त कारण होते हैं, उन्हें कोई सीमा में नहीं बाँध सकता।

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जात न सोई॥

अर्थात् अवतार सम्बन्धी प्रयोजन 'यही है, इतना ही है,' यह कहना अनधिकार-चेष्टा है। उसका वास्तविक मर्म तो अवतारी ही समझ सकता है, किन्तु जो कारण जिसको रुचिकर होता है, वह बताता है। मेरी रुचि के अनुसार तो अवतार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण ईश्वर की अकारण करुणा ही हो सकती है। क्योंकि जिसका किसी से राग-द्वेष नहीं है और जो अपने में ही तृप्त एवं आत्माराम-पूर्णकाम है, उसका स्वयं का कोई स्वार्थ हो ही नहीं सकता, उसका सब कार्य परार्थ ही होगा। अकारण-करुणा का स्वभाव भी, ईश्वर का, जगद्विख्यात है। अतएव उसी स्वभाव के कारण अवतार आदि होते हैं।

यदि आप यह जानना चाहें कि आखिर अवतार लेने में जीवों पर क्या अकारण-करुणा हुई, तो यह तो साधारण सी बात है, फिर भी समझ लीजिये।

यह तो आप जानते ही हैं कि निराकार ब्रह्म सम्बन्धी अभेद-भक्ति-स्वरूप ज्ञानयोग का अधिकारी साधन-चतुष्टय-सम्पन्न ही होता है, जो कि लाखों में दुर्लभ है, और फिर उसका अधिकारी बनने के लिये भी शंकराचार्य ने लिखा है कि—

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोज भक्तिमृते॥

(*प्रबोध सुधाकर-शंकराचार्य*)

अर्थात् सगुण-साकार भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के बिना अन्तःकरण-शुद्धि ही नहीं हो सकती, फिर अधिकारी कैसे बनेगा ? पुनः यदि अधिकारी बन भी गया तो भी इने-गिने जीव ही मुक्ति पा सकेंगे। अतएव भगवान् ने अपने अकारण-करुण स्वभाव के कारण अवतार लिया। अवतार लेने से उनके सगुण-साकार-स्वरूप सम्बन्धी अनन्त नाम, अनन्त गुण, अनन्त लीलादि का प्राकट्य हुआ जिसके अवलम्बन के द्वारा अनन्तानन्त मायिक पामर जीव भी भव-सागर से उत्तीर्ण होकर प्रेम-रसार्णव में निमग्न हो रहे हैं। उदाहरणार्थ, वाल्मीकि सरीखा पापात्मा,जो 'राम' भी न कह सके, वह भी उल्टे नाम के बल से ब्रह्मर्षि हो गया। यह एक ज्वलंत उदाहरण है। इसी आशय से वेदव्यास ने कहा—

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥

(*भाग. 1-8-35*)

अर्थात् सगुण- साकार संसार को व्यवहार में लाते-लाते जीवों का स्वभाव बन गया है कि उनके मन की रुचि सगुण-साकार तत्त्व में ही होती है। अतएव भगवान् ने अवतार लेकर सगुण-साकार वातावरण दे दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप अनन्तानन्त जीवों का कल्याण हो रहा है।

दूसरा एक प्रमुख कारण मुझे और भी प्रिय लगता है, वह यह कि—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(भाग. 1-8-20)

अर्थात् निराकार ब्रह्मानन्दी परमहंसों को प्रेमरस-परिप्लुत करने के लिये सगुण-साकार भगवान् के अवतार हुये। जरा आप सोचिये कि निराकार ब्रह्मप्राप्त परमहंस सनकादिक, जनकादिक, शुकादिकों के बरबस प्रेम-रस-विभोर होने पर भी जब यह प्रश्न पैदा हो रहा है कि साकार स्वरूप की क्या आवश्यकता थी, तो यदि अवतार न होता तब तो निराकार मार्गावलम्बी बड़े जोरों से कहता कि साकार भगवान् होता ही नहीं। अस्तु, यद्यपि निराकार ब्रह्म दूसरी वस्तु नहीं है (यह मैं ज्ञानयोग के प्रकरण में समझा चुका हूँ) फिर भी भगवान् ने अपने निराकार स्वरूप के प्रेमियों को और सरस प्रेमरस पिलाने के दृष्टिकोण से भी अवतार लिया, साथ ही यह भी सिद्ध करने का अवसर मिल गया कि मेरे निराकार एवं साकार दोनों स्वरूप एक ही हैं, तभी तो परमहंस बरबस विभोर हो जाता है। यदि दूसरा होता तो पूर्णकाम परमहंसों को क्या आवश्यकता थी जो कि - '**बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा**' होते।

इसके अतिरिक्त धर्म-संस्थापन, दैत्य नाश, साधु-परित्राणादि के कारण सर्वविदित हैं ही, और भी अनन्त कारण हो सकते हैं। आप भी जब किसी स्थान पर जाते हैं तो कई लक्ष्य पूरे करते हैं, तब भगवान् के अवतार के कार्यों को गिनना सर्वथा असम्भव है। वह अवतार लेकर जीवों के साथ जो अपनी करुणा आदि का क्रियात्मक परिचय देता है, उसे सुनकर जीवों को साहस होता है एवं जीव अनन्य-विश्वास-युक्त होकर ईश्वर की ओर तेजी से बढ़ता है।

एक बात और भी जान लेना आवश्यक है कि भगवान् के समस्त अवतार दिव्य होते हैं। '**जन्मकर्म च मे दिव्यम्**' इस गीता की उक्ति के अनुसार जन्म भी दिव्य होते हैं एवं कर्म भी दिव्य होते हैं। यह पृथक् बात है कि अनधिकारी मायिक जीव को शरीर भी प्राकृत दिखाई पड़ते हैं एवं कर्म भी प्राकृत दिखाई पड़ते हैं जैसा कि मैं पूर्व में स्पष्ट कर चुका हूँ। भगवान् के अवतार में सर्वाधिक प्रमुख बात यही है कि उनके समस्त अवतार सम्बन्धी देह दिव्य हैं, अतएव नित्य हैं।

इतना ही नहीं, एक बात और भी विचारणीय है, वह यह कि उनके समस्त अवतार परिपूर्ण हैं। ऐसा नहीं है कि कोई अवतार छोटा हो, कोई बड़ा हो अर्थात् कोई आधा भगवान् हो, कोई चौथाई भगवान् हो । भगवान् के टुकड़े नहीं हुआ करते, वह सदा सर्वत्र सब स्थितियों में एकरस परिपूर्ण रहता है। वेदव्यास जी कहते हैं–

सर्वे पूर्णाः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।

प्रायः उपासको में एक रोग होता है, वह यह कि हमारे अवतार वाले इष्टदेव बड़े हैं, बाकी सब छोटे हैं, इत्यादि। यह महान् नामापराध है। भूल कर भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये। भगवान् तो सदा भगवान् रहेंगे। यदि उनके भी टुकड़े होने लगेंगे तो फिर वे भगवान् न रह जायेंगे।

राधे राधे गोविंद गोविंद राधे। राधे राधे गोविंद गोविंद राधे॥

भक्तियोग

अब यह विचार करना है कि जब सर्वसम्मत-मत यही सिद्ध हुआ कि—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणो हरिः॥

(लिंग पु., स्कन्द पु.)

सब कर मत खगनायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥

अर्थात् श्यामसुन्दर की भक्ति ही सर्वोपरि तत्त्व है, तो फिर उसे करने का उपाय जानना चाहिये। किन्तु, आप यह सुनकर हैरान हो जायेंगे कि जिस भक्ति को पाकर परमहंस लोग विभोर हो जाते हैं, वह भक्ति की नहीं जाती एवं अपने आप हो भी नहीं जाती वरन् वह तो एक परम अन्तरंग ईश्वरीय शक्ति का नाम है। अतएव वह भक्तिरूपी शक्ति एकमात्र ईश्वर के ही पास है। किसी मूल्य पर अमूल्य वस्तु नहीं मिला करती। इसीलिए रामायण ने बताया कि—

अविरल भक्ति विशुद्ध तव, श्रुति पुराण जेहि गाव।
जेहि खोजत योगीश मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥

अर्थात् बड़े-बड़े योगीन्द्र उसे खोजा करते हैं, किन्तु किसी-किसी बड़भागी को ही वह भक्ति मिलती है और वह भी ईश्वर-भक्ति से ही मिलती है। अस्तु, यह समझना आवश्यक है कि वह भक्ति क्या है?

भक्ति-तत्त्व

श्री गौरांग महाप्रभु के 'चैतन्य-चरितामृत' नामक जीवन, चरित्र में बताया गया है कि—

कृष्णेर अनंतशक्ति ताते तिन प्रधान्। चिच्छक्ति मायाशक्ति जीवशक्ति नाम॥

अन्तरंगा बहिरंगा तटस्था कहि जारे। अन्तरंगा स्वरूप-शक्ति सवार ऊपरे॥

अर्थात् परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण की शक्तियाँ अनंत हैं, जिनमें तीन प्रधान हैं। एक का नाम चित् शक्ति एक का नाम माया शक्ति एवं एक का नाम जीव शक्ति है। वे क्रम से अन्तरंग, बहिरंग एवं तटस्थ हैं। इन समस्त शक्तियों में चित् शक्ति अन्तरंग होने से सर्वश्रेष्ठ है। विष्णु पुराण में भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

(वि.पु. 6-7-61)

ह्लादिनी संधिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते।

(वि.पु. 1-12-68)

पुनः चैतन्य-चरितामृत में कहा गया है कि—

सत् चित्-आनन्दमय कृष्णेर स्वरूप। अतएव स्वरूप शक्ति होय तिन् रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी सदंशे संधिनी। चिदंशे संवित् जारे ज्ञान करि मानि॥

अर्थात् ब्रह्म श्रीकृष्ण की सर्वान्तरंग स्वरूप शक्ति भी तीन प्रकार की होती है - एक सत्, दूसरी चित् और तीसरी आनन्द। अतएव ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता है। 'आनन्द' स्वरूप शक्ति से ह्लादिनी शक्ति की उत्पत्ति होती है एवं 'चित्' स्वरूप शक्ति से संवित् ज्ञान शक्ति की उत्पत्ति होती है एवं 'सत्' स्वरूप-शक्ति से संधिनी-शक्ति की उत्पत्ति होती है। इन तीनों में भी ह्लादिनी शक्ति सर्वाधिक मधुर शक्ति है। इसी शक्ति से भगवान् अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के निर्माण एवं उसके हिसाब को रखते हुए भी सदा आनन्दमय रहते हैं। देखिये, आप लोगों की गृहस्थी 10-20 आदमी की होती है, आप उसी में अशांत रहते हैं, यहाँ तक कि एक स्त्री पति से एवं एक पति एक स्त्री से दिन में कई बार अशान्त होते हैं, किन्तु भगवान् अनन्तानन्त ब्रह्मांड के प्रत्येक जीव के अनन्तानन्त जन्मों के अनन्तानन्त कर्मों का हिसाब रखते हुए एवं उसका फल देते हुए तथा वर्तमान के प्रतिक्षण के प्रत्येक मानसिक कर्म तक को नोट करते हुए भी अशान्त नहीं होते। वे इसी ह्लादिनी शक्ति के बल पर सदा ही आनन्दमय रहते हैं। चैतन्यचरितामृत के अनुसार—

'ह्लादिनी शक्तिर् परम सार तार प्रेम नाम।'

अर्थात् ह्लादिनी शक्ति के भी सारतत्त्व का नाम प्रेम या भक्ति है। अब सोचिये, ईश्वर की समस्त शक्तियों में प्रधान तीन शक्तियाँ हैं - स्वरूप शक्ति, जीव शक्ति तथा माया शक्ति। उनमें भी प्रधानतम स्वरूप शक्ति में सत्, चित् और आनन्द तीन शक्तियाँ हैं जिनमें आनन्द-शक्ति प्रधान है। अब उस परम प्रधानतम आनन्द-शक्ति के भी सार ह्लादिनी-शक्ति के सार का नाम 'प्रेम' है, उसी को 'भक्ति', भी कहते हैं। तब भला उसके आधीन भगवान् क्यों न हों? समस्त रसिक भगवान् के समक्ष आने पर भी उसी अन्तरंग शक्ति 'भक्ति' को

माँगा करते हैं, कोई उन भगवान् को नहीं माँगता। वे सामने खड़े हैं, फिर भी सब भक्त अविरल भक्ति, अनपायिनी भक्ति, निर्भरा भक्ति, पराभक्ति, प्रेमा भक्ति आदि नामों से पुकार कर उसी प्रेम-तत्त्व को माँगते हैं और उसे देने में भगवान् बड़ी आनाकानी भी करते हैं किन्तु देना तो पड़ता ही है।

अस्तु, वह भक्ति की नहीं जाती एवं स्वयमेव हो भी नहीं जाती। कुछ लोग साधना के बल पर उस भक्ति को प्रकट करने में जुटे रहते हैं एवं कुछ हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहते हैं कि जब वह भक्ति की ही नहीं जाती तो फिर हमें क्या करना है, जब अपने आप हो जायगी तब हो जायगी। किन्तु वे दोनों सिद्धान्ततः गलत हैं अर्थात् न तो भक्ति साधना मात्र से ही मिलेगी और न तो चुपचाप अकर्मण्य बनकर बैठे रहने से मिलेगी, अपितु जैसा वेद कहता है कि एक भक्ति करने से ईश्वर-कृपा होगी, तब वह परमान्तरंग, शक्ति रूप भक्ति मिलेगी।

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च।

(श्वेता. 6-21)

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

(कठो. 1-2-23)

अब आप समझ गये होंगे कि एक भक्ति आपको करनी है जिसे रामायण ने इस प्रकार बताया है कि—

मन क्रम वचन छांड़ि चतुराई। भजतहिं कृपा करत रघुराई॥

अर्थात् निष्कपट भाव से कामना-हीन होकर भजन रूपी भक्ति करने से भगवान् की कृपा होती है, तब वह ह्लादिनी शक्ति की सारभूत भक्ति मिलती है।

साधना-भक्ति

अस्तु, अब आपको जो भक्ति करनी है उस पर गंभीर विचार करना है, क्योंकि जो भक्ति ईश्वर-कृपा से मिलनी है वह तो पूर्व भक्ति करने पर स्वयमेव मिल जायेगी। पुनः उस विषय में कोई विचार भी नहीं हो सकता क्योंकि वह दिव्य एवं अनिर्वचनीय शक्ति है। सर्वप्रथम भक्ति शब्द का अर्थ समझ लें। एक व्युत्पत्ति तो 'भजनं भक्तिः' ऐसी है, यह सिद्धा भक्ति है। दूसरी व्युत्पत्ति 'भज्यते भक्तिः' है, यह साधना-भक्ति है। इसी साधना-भक्ति का लक्षण हमें समझना है—

रूप गोस्वामी -

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

नारद जी -

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमानम्।

(ना. भ. सूत्र. 54)

नारद पांचरात्र -

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते॥

भागवत -

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥

(भाग. 3-29-12)

अर्थात् संक्षेपतः तीन बातें भक्ति में प्रमुख ज्ञातव्य हैं। उन तीनों में प्रथम तो यह है कि अन्य सब प्रकार की इच्छाओं से रहित हुआ जाय। दूसरी यह

कि भक्ति के ऊपर ज्ञान, कर्म, तपश्चर्या आदि किसी का भी आवरण न होना चाहिये। तीसरी बात यह है कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य इन पांच अनुकूल भावों से श्रीकृष्ण का अनुशीलन करना चाहिए।

इन तीनों बातों में, सर्वप्रथम बात पर गम्भीर विचार-विमर्श करना है क्योंकि मेरी राय में प्रायः सभी जीवों की साधना इसी कारण से रुकी हुई है और कोई जीव ईश्वर-साधना नहीं कर पा रहा है। उसको समझ लेने पर साधन मार्ग स्पष्ट हो जाएगा और हम अपने लक्ष्य की ओर द्रुतगति से बढ़ते जायेंगे।

सब प्रकार की इच्छाओं के परित्याग से ही भक्ति हो सकती है। वास्तव में रहस्य यह है कि भक्ति या उपासना मन को ही करनी है क्योंकि मैंने पूर्व में ही बताया था कि मन ही बंधन एवं मोक्ष का कारण है, और यदि मन में सांसारिक या पारलौकिक कामनाएँ रहेंगी तो उपासना किस मन से हो सकेगी। एक ही मन तो है, उसमें चाहे भौतिक कामना भर लीजिये, चाहे ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा भर लीजिये। आप एक मन में दोनों कामनाएँ भरना चाहें तो यह त्रिकाल में असम्भव है। हमारे विश्व में अधिकांश आस्तिक इस तत्त्व को गंभीरतापूर्वक नहीं सोचते हैं। अतएव अब सोच ही डालना चाहिये।

(1) सब प्रकार की कामनाओं से रहित होना - सब प्रकार की कामनाओं से क्या अभिप्राय है, सर्वप्रथम इसी पर विचार कीजिये। ईश्वरीय कामना को छोड़कर जो भी बचा, उसी को सर्व प्रकार की कामना समझना चाहिये। वह चार प्रकार की होती है - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इनमे धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को भुक्ति भी कहते हैं। इस प्रकार भुक्ति एवं मुक्ति - इन दोनों प्रकार की कामनाओं के परित्याग कर देने से समस्त कामनाओं का परित्याग हो जाता है।

आप कहेंगे, भुक्ति अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त के भोगों की कामना का परित्याग तो समझ में आता है, किन्तु मुक्ति की कामना भी त्याज्य है, यह बड़ी विलक्षण सी बात है। किन्तु, रसिकों की दृष्टि से—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

(भ.र.सि.)

अर्थात् भुक्ति एवं मुक्ति जब तक इन दोनों पिशाचिनियों का निवास जीव के अन्तःकरण में रहेगा तब तक भक्ति महादेवी का प्राकट्य नहीं हो सकता। एक प्रमुख बात मेरी राय में यह है कि भुक्ति एवं मुक्ति इन दोनों डाकिनियों में भुक्ति रूपी डाकिनी खतरनाक नहीं है क्योंकि वह तो जिसको लगी है, उसको उससे छुटकारा मिल सकता है। यदि कोई रसिक-सन्त किसी भाग्यशाली भुक्ति वाले को मिल गया एवं उसने उस सन्त को पहिचान लिया एवं शरणागत होकर साधना की तो भक्ति-रस को पी सकता है, किन्तु यदि मुक्ति रूपी डाकिनी किसी को लगी अर्थात् यदि कोई मुक्त होकर-ईश्वर में ऐक्य को प्राप्त हो गया तो कथमपि भक्ति-रस के पाने की सम्भावना नहीं हो सकती क्योंकि मुक्ति तो सदा के लिये हो जाती है, पुनः द्वैत में वह आ ही नहीं सकता।

आप कहेंगे, सनकादिक, जनकादिक करोड़ों परमहंस तो प्रेम-रस-रसिक बन गये, तो उसका कारण यह है कि जब तक परमहंस शरीर धारण किये रहता है तब तक ऐक्य को नहीं प्राप्त होता, शरीर परित्याग के पश्चात् ही ब्रह्म में ऐक्य को प्राप्त होता है। पश्चात् ब्रह्म से पृथक् होकर शरीर धारण ही नहीं कर सकता और बिना शरीर धारण किये द्वैत प्रेमरस-माधुरी के पान का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। अतएव मुक्ति डाकिनी भुक्ति से भी अधिक भयानक है। अस्तु, मोक्षपर्यन्त की कामना न करना।

प्राय: देखा जाता है कि लोग साधना के पूर्व ही सांसारिक विषयों की अनन्तानन्त कामनाएं अपने हृदय में भर लेते हैं और साथ ही दावा यह करते हैं कि हम सकाम-भक्त हैं। अरे भाई! सकाम भक्त का भी अभिप्राय यह नहीं होता क्योंकि सकाम-भक्त तो 'भक्त' भी होता है तुम तो केवल सकाम हो। अत: फिर द्रौपदी, गजराज आदि सकाम भक्तों की समानता कैसे करोगे?

सांसारिक कामना की भावना से उपासना करने में कई हानियाँ हैं। एक तो यह कि तुम अभी यह भी नहीं समझते कि संसार में सुख है अथवा भगवान् में। यदि संसार में ही सुख है तो भगवान् की क्या आवश्यकता है? यदि भगवान् में ही सुख है तो संसार सम्बन्धी कामना की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि संसाररूपी माया एवं भगवान् दोनों ही परस्पर विपरीत तत्त्व हैं। भगवान् में सुख मानते हुए भी संसार सम्बन्धी कामना करने वाली बात तो ऐसी ही है, जैसे कोई कहे, मुझे अग्नि के पास शीतलता माँगने जाना है। यदि हमें आनन्द ही चाहिये तो आनन्द के आश्रयभूत भगवान् को छोड़कर दु:ख के आश्रयभूत संसार की कामनापूर्ति के लक्ष्य से भगवान् की उपासना करने का तो स्पष्ट मतलब यही है कि हम अभी तक यही समझते हैं कि संसार में ही हमारा अनन्त सुख है। अतएव अभी जब लक्ष्य ही सही नहीं बन पाया तब साधना आदि कैसे होगी? सिद्धि की तो कल्पना ही क्या की जाय। सांसारिक वस्तु तो प्रतिक्षण वासनाओं की वृद्धि ही करने वाली हैं। उनके पाने पर तो और अभिमान बढ़ेगा। स्मरण रहे अभिमान ही भगवान् से विमुख करने का प्रमुख कारण है।

दूसरी बात यह है कि संस्कारों के अनुसार ही जब जीव को सांसारिक वस्तुएँ मिलती जायँगी, तब वह भगवान् की कृपा का नारा लगायेगा एवं जब संस्कारों के अनुसार ही सांसारिक वस्तुएँ न मिलेंगी तब भगवान् के कोप का भी स्पष्ट नारा लगायेगा तथा संसार की वस्तुओं की प्राप्ति की अवस्था में

आस्तिक एवं अप्राप्ति की अवस्था में नास्तिक बना करेगा। अतएव सांसारिक वस्तुओं की कामना का ही पूर्णतया परित्याग कर देना साधक के लिए हितकारक होगा।

तीसरी बात यह है कि यदि कोई यह कहे कि भगवान् तो सदा ही मेरी सुन लेते हैं, मैं तो सदा ही अपनी शुष्क पुकार से अपना काम बना लेता हूँ, तो भाई, धन्य भाग्य हैं उसके, जिसके लिए भगवान् ने अपना विधान बदल दिया, किन्तु तब तो उसको यह चाहिये कि एक बार भगवान् को ही भगवान् से माँग ले जिससे बार-बार माँगने की बीमारी ही समाप्त हो जाय। जिस संसार में कहीं सुख नहीं है एवं जिस संसार की वासना-पूर्ति के पश्चात् और भी विकराल वासना उत्पन्न होती है उस संसार को बार-बार माँगने में हानि ही तो है। एक बार भगवान् अथवा भगवद्दर्शन अथवा भगवत्प्रेम को ही माँग लेने से माँगने की जड़ रूप वासना का ही अत्यन्ताभाव हो जायगा और जीव पूर्ण काम बन जायगा, किन्तु यह सब तो विचार ही विचार है। जीव झूठ-मूठ ही ऐसा कहता है कि भगवान् मेरी सुन लेते हैं, वह अल्पज्ञ संस्कार-जन्य लाभ को ही भगवत्कृपा समझता है। है तो अच्छा क्योंकि इसी बहाने से वह भगवान् की कृपा का अनुभव तो करता है, किन्तु भयानक भविष्य यह है कि इस भाव के आधार पर जब सांसारिक वासना-पूर्ति का अभाव हो जायगा तब उपर्युक्त भाव का भी अभाव हो जायगा।

चौथी बात यह है कि जब जीव शास्त्रों द्वारा यह समझता है कि भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं, वे जो कुछ भी हमारे लिए ठीक समझेंगे, करेंगे ही तब उसे अपनी टाँग अड़ाने की आवश्यकता ही क्या है; क्योंकि अल्पज्ञ जीव तो यह भी नहीं जानता कि मेरा वास्तविक हित किसमें है। अतएव यदि भगवान् को सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ समझकर यह सब उन्हीं पर छोड़ दिया जाय तो माँगने की बीमारी ही उत्पन्न न हो।

पांचवी बात यह है कि शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक जीव कर्मबन्धन में है। प्रारब्धानुसार जितना भी सांसारिक सुख (जिसका वास्तविक स्वरूप दु:ख है) जिसके भाग्य में लिखा है मिलेगा ही। अरे भाई, हम जब शास्त्रों में पढ़ते हैं कि सर्वशक्तिमान् भगवान् राघवेन्द्र सरकार के पिता मर गये, किन्तु राम ने नहीं बचाया; इसी प्रकार जिसके मामा पूर्णतम पुरुषोत्तम ब्रह्म श्रीकृष्ण और पिता महापुरुष अर्जुन, दोनों मिल कर भी अभिमन्यु को नहीं बचा सके, तब हमें भी समझ लेना चाहिये कि हम दशरथ, अभिमन्यु आदि से तो बड़े नहीं जो हमारे लिये भगवान् का अकाट्य विधान कट जायगा।

छठी बात यह है कि हमको यह भी समझ लेना चाहिये कि सांसारिक वस्तुओं का अभाव ही भगवान् की कृपा है, क्योंकि उसी अवस्था में जीव उन्मत्त नहीं रहता। अतएव उस सुन्दर अवस्था की ही चाह होनी चाहिए। जिस अवस्था में भगवान् का स्मरण न हो ऐसी अवस्था को, फिर वह भी भगवान् से माँग कर चाहने से क्या लाभ कि जिसे पाकर हम भगवान् को ही भूल जायें।

इसके अतिरिक्त अनन्त हानियाँ हैं जो साधना ही न करने देंगी, महापुरुष-शरणागति ही न होने देंगी। फिर आगे होगा ही क्या ? अतएव हमें मोक्षपर्यन्त की इच्छाओं से रहित होना होगा। हमें सत्य स्वार्थ की ही कामना करनी चाहिये। वह सत्य स्वार्थ है, भगवान् का निष्काम-प्रेम प्राप्त कर लेना। तुलसी के शब्दों में—

स्वारथ साँच जीव कर एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा॥

उपर्युक्त भाव का ही दूसरा अभिप्राय यह भी है कि हमारा सत्य स्वार्थ है, भगवान् को प्रसन्न करना अथवा उनकी रुचि में ही रुचि रखना। वास्तव में यही उपासना का विशुद्ध स्वरूप है।

कामना एवं प्रेम – कामना 'प्रेम' का विरोधी तत्त्व है। लेने–देने का नाम व्यापार है। जिसमें प्रेमास्पद से कुछ याचना की भावना हो, वह प्रेम नहीं है। जिसमें सब कुछ देने पर भी तृप्ति न हो, वही प्रेम है। संसार में कोई व्यक्ति किसी से इसलिए प्रेम नहीं कर सकता क्योंकि प्रत्येक जीव स्वार्थी है। वह आनन्द चाहता है, अस्तु लेने–लेने की भावना रखता है। जब दोनों पक्ष लेने–लेने की घात में हैं तो मैत्री कितने क्षण चलेगी ? तभी तो स्त्री–पति, बाप–बेटे में दिन में दस बार टक्कर हो जाती है। जहाँ दोनों लेने–लेने के चक्कर में हैं, वहाँ टक्कर होना स्वाभाविक ही है और जहाँ टक्कर हुई, वहीं वह नाटकीय स्वार्थजन्य प्रेम समाप्त हो जाता है। वास्तव में कामनायुक्त प्रेम प्रतिक्षण घटमान होता है, जबकि–दिव्य प्रेम प्रतिक्षण वर्द्धमान होता है। कामना अन्धकार–स्वरूप है, प्रेम प्रकाश–स्वरूप है। चैतन्य–चरितामृतानुसार—

कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल। कृष्ण–सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
लोक धर्म, वेद धर्म, देहधर्म, कर्म। लज्जा, धैर्य, देह सुख, आत्मसुख मर्म।
सर्वत्याग करये करे कृष्णेर भजन। कृष्ण सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन।
अतएव कामे प्रेमे बहुत अन्तर। काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥

अर्थात् अपने सुख की इच्छा ही कामना है, वह अन्धकार स्वरूप है एवं प्रेमास्पद के सुख की कामना होना ही प्रेम है, वह प्रकाश स्वरूप है।

एक चातक को देखिये, वह कितना सुन्दर निष्काम प्रेम करता है। वह बारह मास अपने प्रियतम से प्यार करता है, जबकि हम लोग जब कोई सांसारिक आपत्ति आयी तब मंदिरों या महात्माओं के पास दौड़ते हैं एवं जैसे ही सांसारिक कामना पूर्ति हो गयी फिर कभी जाने का नाम भी नहीं लेते। यदि कोई पूछता है कि तुम आजकल मंदिरों या सत्संग में नहीं जाते तो कह देता हैं कि मुझे तो अपने अन्दर ही सब कुछ मिल जाता है, दिखावा करने से क्या लाभ, इत्यादि। सच तो यह है कि वह सांसारिक कामनाओं का ही

उपासक है, उसने ईश्वर–तत्त्व को अभी समझा ही नहीं है। अतएव, चातक से हमें शिक्षा लेनी चाहिये। जैसे वह बारह मास उपासना करता हुआ भी स्वाति में ही जल पीता है, उसी प्रकार हम भी प्रेमास्पद की इच्छा में इच्छा रखें एवं निरन्तर प्रेम करें—

जाचे बारह मास पिये पपीहा स्वाति जल।

एक बात और है कि हम लोग संसार में जो प्रेम करते हैं, चूँकि उसमें स्वार्थ निहित रहता है अतएव स्वार्थ–हानि होते ही प्रेम तो समाप्त हो ही जाता है साथ ही शत्रुता भी उत्पन्न हो जाती है, किन्तु चातक ऐसा प्रेम नहीं करता।

पवि पाहन दामिनि गरजि, झरि झकोरि खरि खीझि।
रोष न प्रियतम दोष लखि, तुलसी रागहि रीझि॥

अर्थात् चातक का प्रेमास्पद यह परीक्षा लेने के लिए (कि यह मुझसे कुछ स्वार्थ रखता है या नहीं) गरजता है यानी डांटता है, अपमानित करता है, चमकता है यानी चिढ़ाता है, ओले गिराता है, बिजली गिराता है परन्तु पपीहा इन दुर्व्यवहारों को नहीं देखता, इन व्यवहारों से उसे क्रोध नहीं आता, अपितु और अधिक प्रसन्नता होती है। इससे हमें शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि संसारी आपत्ति आवें तो हम प्रसन्न हों, अशान्त या क्रुद्ध न हों। इतना ही नहीं, एक पपीहा भूखा–प्यासा, हारा–थका उड़ते–उड़ते एक पेड़ पर बैठ गया ज्योंही उसे होश आया कि उस वृक्ष के नीचे बाण साधे बैठे व्याध ने बाण मार दिया। वह वृक्ष गंगा जी के तट पर था अतएव वह चातक बाण से बिंधा हुआ गंगा जी ही में जा गिरा। गिरते समय उसने सोचा, 'चलो यह भी अच्छा हुआ; पूरे जीवन प्रेम निभाया एवं मरते समय गंगाजी का जल मुख में जायगा जिससे मुक्ति हो जायगी', ऐसा सोच ही रहा था कि पुनः उसकी अन्तरात्मा ने उसे धिक्कारा कि यदि तू गंगाजल पी लेगा एवं मुक्त हो जायगा तो प्रेम के उज्ज्वल वस्त्र पर कलंक लग जायगा। बस, फिर क्या था, उस चातक ने अपनी चोंच

ऊपर उठा ली और उसी झटके में उसके प्राण–पखेरु उड़ गये। उसने मरते–मरते भी प्रेम को निष्कलंक ही रखा। इसी आशय से तुलसी दास जी ने लिखा कि—

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम–पट, मरतहुँ लगी न खोंच॥

इसी से आप समझ गये होंगे और इसी से आपको भी शिक्षा लेनी है। अस्तु, मुक्ति के चक्कर में पड़कर प्रेम–रस को नहीं खोना है, क्योंकि—

भक्ति करत सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवत बरि आईं॥

भक्ति करने पर मुक्ति तो स्वयमेव हो ही जायगी। जब भक्ति करने पर मुक्ति स्वयं ही हो जायेगी तो भक्ति–रस से क्यों वंचित रहा जाय? क्योंकि मुक्ति होने पर भक्ति–रस पाना असम्भव है किन्तु भक्ति पाने पर मुक्ति सहज सिद्ध है।

वास्तव में प्रेम में अपने प्रियतम के गुण भी न देखना चाहिये। यह भी कामना है। यही कारण है कि संसार में हम जिस गुण के कारण प्रेम करते हैं, उस गुण के समाप्त होते ही प्रेम भी समाप्त हो जाता है। यथा, किसी ने सौन्दर्य से प्रेम किया तो सुन्दरता नष्ट हो जाने पर प्रेम समाप्त हो जायगा; किसी ने धन से प्रेम किया तो धन समाप्त होते ही प्रेम समाप्त हो जायगा। देखो, पार्वती जी को बड़े–बड़े योगीश्वर लोग बहकाने आये थे कि तुम सांप लपेटे, मुंडमाल पहने एवं श्मशान–सेवी, भूत–संगी आशुतोष शंकर जी से क्यों प्रेम करती हो। फिर वे हृदयहीन भी हैं, बाबाजी हैं। तुम भगवान् विष्णु से प्रेम कर लो। पार्वती ने कहा कि यह सब ठीक है, किन्तु मैंने गुण से प्रेम नहीं किया है—

जन्म कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं शंभु न तु रहउँ कुवारी।

अर्थात् अनन्त जन्मों के लिये मेरी चुनौती है कि या तो भगवान् शंकर को पति रूप से वरण करूँगी या तो कुंवारी ही रहूँगी।

शंभु सकल अवगुण भवन, विष्णु सकल गुण खान।
जाकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥

यद्यपि भगवान् के गुणों या शक्तियों के नष्ट होने का प्रश्न नहीं है, तथापि प्रेम का स्वरूप ही यह है कि गुण न देखे जायें। वे निष्ठुर हैं तो भी ठीक हैं, वे दयालु हैं तो भी ठीक हैं। गौरांग महाप्रभु कहते थे—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

(शिक्षाष्टक-8)

अर्थात् हे लम्पट श्यामसुन्दर! तुम मेरी चुनौती सुन लो। तुम तीन ही व्यवहार कर सकते हो। या तो हमें अपना प्रेमी समझ कर प्यार कर लो, या शत्रु मानकर मारो, या उदासीन होकर अनन्तकाल तक तड़पाते रहो। हम तीनों ही व्यवहारों में एकरस प्रसन्न रहेंगे। हमें किसी व्यवहार में एतराज नहीं है अर्थात् तुम यह न सोचना कि इसने अकारण करुण आदि नाम सुना है, इसलिये प्रेम करता है। प्रेम तो वही है जो बिना गुण देखे हो। बस इसलिये प्रेम करते हैं कि वे ही एकमात्र हमारे प्रेमास्पद हैं एवं प्रेम करना जीवमात्र का स्वभाव है। इससे अधिक हमें कुछ सोचना ही नहीं है, भले ही हमें कोई भी गति मिले।

वृन्दावन में प्रेम-रस-मदिरा में विभोर एक संत श्यामसुन्दर को समक्ष देखकर पकड़ने दौड़े, किन्तु थोड़ी दूर जाने पर ही उनकी जटा एक झाड़ी में उलझ गयी और प्रेम-समाधि लग गयी। श्यामसुन्दर अलक्षित हो गये। बाबाजी ने कहा, ठीक है, देखते हैं कब तक तुम भागते हो। हमने भी अनन्तकाल के

लिये बीड़ा उठाया है। पुनः जटा सुलझाने की बात सोचते ही यह विचार उत्पन्न हुआ कि शायद मेरे प्रेमास्पद श्यामसुन्दर को मेरी यही झाँकी पसन्द हो, क्योंकि मैंने जानबूझकर तो जटा उलझाई नहीं। अस्तु, अपने सुख के लिये यदि हम जटा सुलझा लेंगे तो प्रेमास्पद की इच्छा-पूर्ति में बाधा होगी, उन्हें कष्ट होगा, अतः मैं नहीं सुलझाता। बस, उसी प्रकार 7 दिन तक खड़े रहे। श्यामसुन्दर का हृदय अत्यन्त कोमल है किन्तु व्यवहार कठोर है। जो इस रहस्य को जान लेता है वह उन्हें नहीं छोड़ सकता। अस्तु, सातवें दिन श्यामसुन्दर ने कहा, बाबाजी! बड़े आलसी हो, जटा नहीं सुलझा सकते। बाबाजी ने कहा - मियाँ-बीबी के मामले में किसी तीसरे को नहीं पड़ना चाहिये, तुम अपने रास्ते जाओ, तुमसे क्या मतलब? श्यामसुन्दर ने कहा - अरे भाई! मतलब है, तभी तो आये हैं। बाबा जी ने कहा - मैंने आपका आशय नहीं समझा। भगवान् ने कहा मैं ही तुम्हारा प्रियतम हूँ। बाबाजी ने कहा - जरा अपना मुख शीशे में देख आओ, हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर तो मदन-मोहन, त्रिभंगीलाल, राधा-रमण हैं। अस्तु ठाकुर जी हारकर उसी वेश में आये। फिर क्या था, बाबाजी विभोर हो गये। आज रंक को पारस-निधि मिल गयी। पुनः भगवान् ने जैसे ही अपने हाथ से जटा सुलझाना चाहा कि बाबा जी ने रोक दिया-अरे! पर-स्त्री को छूना पाप है। भगवान् ने कहा, अब भी तुम पर-स्त्री हो? बाबा जी ने कहा, हाँ, जब तक वृषभानुनन्दिनी राधिका जी स्वयं आकर यह न कहें कि ये हमारे ही प्रियतम हैं, तब तक हम न मानेंगे। भावार्थ यह कि अब ठाकुर जी इस समय दाँव पर चढ़े हैं, जो चाहो करवा लो, नहीं तो फिर निष्ठुर बन जायेंगे। अस्तु, किशोरी जी भी आईं, तब समस्या सुलझी एवं जटा सुलझी। यह है निष्काम-प्रेम की झाँकी!

(2) कर्म ज्ञानादि का आवरण न होना - भक्ति में दूसरी शर्त यह है कि भक्ति के ऊपर ज्ञान, कर्म, योग, तपश्चर्यादि आवरणों का अधिकार न

हो। अर्थात् भक्ति स्वतंत्र है; उसके ऊपर ज्ञान कर्मादि का अधिकार नहीं हो सकता, अनुगत होकर भले ही रहें।

(3) अनुकूलभाव से (श्रीकृष्ण का) अनुशीलन - भक्ति में तीसरी शर्त यह है कि भक्ति केवल भगवान् की न की जाय। आप लोग यह सुनकर अवश्य चौंकेंगे कि केवल भगवान् की भक्ति न की जाय से क्या अभिप्राय है। क्या भगवान् के साथ-साथ देव, मानव, दानव की भी भक्ति की जाय ? नहीं नहीं, यह अभिप्राय नहीं है, वरन् यह अभिप्राय है कि भगवान् को भगवान् मात्र मानने से भय, संकोच एवं दूरी अनुभव में आने लगेगी, जिससे सम्बन्ध दृढ़ न हो सकेगा।

सारांश यह कि भक्ति में रसिकों ने जो पाँच भाव निश्चित कर दिये हैं, उन्हीं पाँच भावों से सुलभ भगवान् की उपासना करनी चाहिये। उन पाँच भावों के नाम शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य हैं। इन भावों का एक प्रमुख रहस्य यह भी है कि शान्त भाव से श्रेष्ठ दास्य भाव है, दास्य भाव से श्रेष्ठ सख्य भाव है, सख्य भाव से श्रेष्ठ वात्सल्य भाव है, वात्सल्य भाव से श्रेष्ठ माधुर्य भाव है। और वह श्रेष्ठता इसलिए है कि शान्त भाव में केवल यही भाव रहेगा कि मैं प्रजा हूँ, भगवान् राजा हैं। दास्य भाव में और भी सामीप्य है,क्योंकि उसमें यह भाव तो रहेगा ही कि मैं दास हूँ, भगवान् मेरे स्वामी हैं। सख्य-भाव में और भी सामीप्य इसलिए है कि मैं भगवान् का सखा हूँ, वे मेरे सखा हैं। वात्सल्य-भाव में और भी अधिक सामीप्य है, क्योंकि उसमें यह भाव रहेगा कि मैं माता या पिता हूँ, भगवान् मेरे पुत्र हैं। माधुर्य भाव में सर्वाधिक सामीप्य है, क्योंकि उस भाव में 'हम प्रेयसी हैं वे हमारे प्रियतम हैं', ऐसी भावना निरन्तर रहती है।

अब आप लौकिक उदाहरण से समझ सकेंगे कि प्रेयसी का सम्बन्ध पति से अत्यन्त निकट का होता है, पुत्र का उससे कम, सखा का उससे कम, दास का उससे भी कम एवं प्रजा का सम्बन्ध सबसे कम निकट का होता है।

एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात और भी विचारणीय है, वह यह कि माधुर्य भाव में पाँचों भावों का समावेश है। जैसे पृथ्वी तत्त्व में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों का समावेश माना गया है, वैसे ही माधुर्य भाव में भी हम जब चाहें भगवान् को पति मान लें, जब चाहें बेटा मान लें, जब चाहें सखा मान लें, जब चाहें स्वामी मान लें, जब चाहें राजा मान लें। शान्त भाव उच्च रसिकों को विशेष मान्य नहीं है, अतएव प्राय: चार ही भाव के उपासक पाये जाते हैं – दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य।

वात्सल्य भाव में चार ही भावों का समावेश है। जैसे जल तत्त्व में जल, तेज, वायु, आकाश इन्हीं चार तत्त्वों का समावेश माना गया है, ऐसे ही वात्सल्य भाव में हम भगवान् को जब चाहें बेटा मान लें, जब चाहें सखा मान लें, जब चाहें स्वामी मान लें, जब चाहें राजा मान लें। केवल पति नहीं मान सकते।

सख्य भाव में तीन ही भावों का समावेश है। जैसे तेज तत्त्व में तीन ही तत्त्वों का समावेश है,तेज, वायु और आकाश उसी प्रकार सख्य भाव में भी जब चाहें भगवान् को सखा मान लें, जब चाहें स्वामी मान लें, जब चाहें राजा मान लें। किन्तु पति एवं पुत्र नहीं मान सकते।

दास्य भाव में दो ही भावों का समावेश होता है। जैसे वायु तत्त्व में वायु एवं आकाश दो ही तत्त्वों का समावेश माना गया है, वैसे ही दास्य–भाव में हम जब चाहें भगवान् को स्वामी मान लें एवं जब चाहें राजा मान लें। किन्तु सखा या पुत्र या पति नहीं मान सकते।

शान्त भाव में आकाश तत्त्व की भाँति एक ही भाव का समावेश है अर्थात् हम भगवान् को केवल राजा ही मान सकते हैं, स्वामी या सखा या पुत्र या पति नहीं मान सकते।

यह पाँचों भाव ही उपासना में माननीय हैं। केवल भगवान् को भगवान् मानने से यह भय होगा कि मैं एक साधारण जीव हूँ और भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, भला हमारा उनका प्रेम कैसे होगा ? इत्यादि।

लोक में भी यह अनुभव करते हैं। माधुर्यभाव-युक्त प्रेयसी यद्यपि स्वार्थमयी होती है फिर भी हल्का-फुल्का परिचय उससे भी मिल सकता है अर्थात् एक संसारी प्रेयसी भी अपने पति को पति मानती है साथ ही भोजन कराते समय मातृत्व के हृदय को लेकर वात्सल्य भाव भी अपना लेती है। आप लोग यह अनुभव किये होंगे कि यदि किसी दिन आप खाना कम खाते हैं तो उस दिन स्त्री ही माँ का अभिनय करती है कि तुम आजकल कुछ खाते-पीते नहीं हो, कमजोर होते जा रहे हो, एक रोटी और ले लो, इत्यादि।

पुनश्च सख्य-भाव तो प्रेयसी का रहता ही है। जिस विषय में अधिकार नहीं भी होता, वहाँ भी मंत्रणा देने को तैयार रहती है, फिर जहाँ अधिकार हो वहाँ तो परामर्श देती ही है। अंतरंग विषयों का परामर्श पुरुष प्रेयसी से ही करता है, सबसे गुप्त बात प्रेयसी के अतिरिक्त अन्य को नहीं बताई जाती।

दास्य भाव तो प्रेयसी में स्वयं सिद्ध है। भावार्थ यह कि इन पाँचों भावों की झाँकी सांसारिक स्वार्थमय प्रेम में भी झलकती है, किन्तु वास्तविकता तो दिव्य प्रेयसी में ही है। एक बात मैं यहीं पर और बता देता हूँ कि यद्यपि प्रेयसी पाँचों भाव प्रियतम में रखती है, किन्तु उन-उन सम्बन्धों के नाम उच्चारण नहीं करती अर्थात् कहीं कोई देवी जी यह सुनकर अपने पति को बेटा न कह बैठें, नहीं तो घर में बवाल मच जायगा। किन्तु भगवान् से हम सब कह सकते हैं।

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥

(भाग. 10-30-40)

अर्थात् हे नाथ! हे रमण! हे प्रेष्ठ! हे सखे! इत्यादि सब कुछ कह सकते हैं, वहाँ लौकिक सभ्यता नहीं है। यह भी विचार नहीं है कि भला पति को बेटा कहा जाय तो पाप की बात है। उस जगत् में यह पाप का विषय नहीं है।

शान्त भाव में विशेष रस का प्रादुर्भाव नहीं होता, किन्तु दास्य भाव से रस प्रारम्भ होता है। एक दास कहता है—

पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटम्,
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयांगन-
व्योम्निव्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

(सूक्ति)

अर्थात् जब मैं मर जाऊँ तब हे प्रभो! मेरे पांच भौतिक शरीर का पंच-महाभूत आपकी सेवा में लग जाय अर्थात् मेरे जल का भाग उस बावड़ी में जाकर मिल जाय जिसमें आप स्नान करते हों; मेरे तेज का भाग आपके उस शीशे में मिल जाय, जिसमें आप अपनी आकृति देखते हों; मेरे आकाश का भाग उस आकाश में मिल जाय, जहाँ आप चलते हों; मेरे पृथ्वीतत्त्व का अंश उस पृथ्वी में मिल जाय जिसमें आपके चरण पड़ते हों और मेरा वायु तत्त्व उस वायु में मिल जाय जिसे पंखे द्वारा आप सेवन करें। भावार्थ यह कि मरने के पश्चात् भी शरीर को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहता; क्योंकि प्राण तो स्वामी के पास रहेगा ही, इस शरीर से इतने दिन सेवा की है, फिर इस शरीर से ही वे मिले हैं, अतएव मरने के पश्चात् भी यह शरीर सेवा में लग सके, यह

दास्य भाव है। इस भाव में अधिकार कम हैं एवं मर्यादा बहुत हैं, यथा भरत जी कहते हैं—

सिर बल चलौं उचित अस मोरा। सब ते सेवक धर्म कठोरा॥

अर्थात् दास का तो यह धर्म है कि जहाँ स्वामी का चरण पड़े वहाँ दास का सिर पड़े। लक्ष्मण जी महाराज सीता-राम के चरणों को बचाकर दायें-बायें से चला करते थे। संसार में इतनी मर्यादा का पालन शायद कोई भी दास नहीं कर सकता। लक्ष्मण जी महाराज कहते हैं—

नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।

अर्थात् मैं सीता जी के चरणों को ही देखता था अतएव केवल नूपुर ही पहिचानता हूँ, अन्य अंगों के आभूषणों को नहीं पहिचानता। जरा सोचिये, यह कितना असम्भव सा है कि कोई दास अपनी स्वामिनी के साथ दिन-रात रहे किन्तु चरण के सिवाय अन्य अंग का दर्शन भी न करे। इसलिये यह कहा जाता है कि—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

सेवाधर्म योगियों के लिए भी कठिन है, जन-साधारण की तो बात ही क्या! किन्तु, प्रेमातिशयता में मर्यादा भी समाप्त हो जाती है। देखिये—

प्रभु तरुतर कपि डार पर।

अर्थात् स्वामी श्री राम तो पेड़ के नीचे बैठे हैं एवं वानर पेड़ पर बैठे हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि वानर प्रेम-विभोर हैं, अतएव उन्हें यह ज्ञान ही नहीं रह गया कि मुझे स्वामी के साथ किस मर्यादा का पालन करना है।

संसार में जहाँ कहीं मर्यादा का उल्लंघन होता है, वहाँ भी यह उदाहरण उपस्थित कर दिया जाता है, किन्तु यह ध्यान रहना चाहिए कि प्रेम-समाधि

में ही यह क्षम्य है, अन्यत्र अपराध हो जायगा। उधर श्री राम भी दास्य प्रेम में इतने बेहोश हैं कि उन्हें भी यह ज्ञान नहीं है कि मैं स्वामी होकर नीचे बैठा हूँ और ये दास पेड़ पर बैठे हैं, जरा डाँट दूँ। डाँटने का होश ही नहीं है, वे दास्य भाव के प्रेम में इतने विभोर हो जाते हैं। और जब कभी कुछ बोलते भी हैं तो आप सुन ही नहीं सकते, ऐसे मार्मिक वचन बोलते हैं। यथा, हनुमान जी से कहते हैं—

प्रत्युपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं॥

अर्थात् हनुमान जी! मैं तुम्हारे उपकार से उऋण नहीं हो सकता। यहाँ तक कि—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

(वा.रा.)

अर्थात् हे हनुमान! तुम्हारे एक ही उपकार के बदले में मुझे प्राण देना पड़ेगा, तब उऋण हो सकूँगा, शेष उपकारों से तो फिर भी ऋणी ही बना रहूँगा। यह दास्य प्रेम की गरिमा है।

सख्य भाव में तो और भी सामीप्य होता है। उसका रस और भी विलक्षण है। ब्रजवासी सखा लोग यद्यपि अपढ़ गँवार थे किन्तु उनका 'कनुवां' शब्द सुनकर श्यामसुन्दर विभोर हो जाते थे। उन्हें रुष्ट देखकर दु:खी हो जाते थे, उनके मुख से छीन-छीन कर जूठे कौर खाते थे, जिसे देख कर ब्रह्मा को भ्रम हो गया था। सखा लोग स्वप्न में भी नहीं सोचते कि वे भगवान् आदि हैं। वे भगवान् को खेल में हारने पर घोड़ा बनाते थे एवं उनके कन्धे पर चढ़कर चलते थे। उन्हें यदि थोड़ा भी आभास हो कि वे भगवान् आदि हैं, तो प्रेम में

न्यूनता आ जाय। जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण गोवर्धन पर्वत उठाये हुए थे, उस समय सखा लोग परस्पर कहते हुए सुनाई पड़े थे कि अरे देखो, श्रीदामा, मधुमंगल आदि सखाओं! हम सबों ने लाठी लगाकर दोनों हाथ से पूरी ताकत लगा रखी है किन्तु कन्हैया केवल एक हाथ की अंगुली ही लगाये हुए है, इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्ण भी यह सुनकर विभोर हो जाते हैं। किन्तु यह सब प्रेम-समाधि में ही क्षम्य है अन्यथा सखा के लिए भी कुछ मर्यादायें हैं, उन मर्यादाओं का अतिक्रमण जानबूझकर करना अनुचित है।

वात्सल्य भाव में तो और भी विशेषाधिकार हैं। किसी से अज्ञात नहीं है कि एक माँ अपने पुत्र के साथ कैसा व्यवहार कर सकती है। माँ यशोदा ब्रह्म श्रीकृष्ण को ऊखल में बाँधकर हाथ में एक पतला सा डंडा लेकर मारने दौड़ती हैं। भगवान् रोते हैं, काँपते हैं एवं गिड़गिड़ाते हैं कि मैया! मुझे अब की बार छोड़ दे, अब कभी मिट्टी नहीं खाऊँगा। एक दिन मैया यशोदा ने ठाकुर जी का श्रृंगार किया और कहा, जाओ लाला बाहर खेलो। किन्तु बाहर जाकर बाल-लीलानुसार ठाकुर जी धूलि में खेलकर पुनः माँ के पास लौट आये। माँ को बड़ा क्रोध आया कि अभी-अभी तो मैंने श्रृंगार किया था और तुरन्त ही लोट-पोटकर सब श्रृंगार नष्ट कर दिया। मैया क्रोध में कहती है—

पंकाभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य दामोदरं वदतिकोपवशाद्यशोदा।
त्वं शूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारेरित्युक्ति सस्मितमुखोऽवतु नो मुरारिः॥

(सूक्ति)

अर्थात् धूलि-धूसरित श्यामसुन्दर को देखकर मैया क्रोध पूर्वक डाँटती हुई कहती है, मुझे ऐसा लगता है कि तू उस जन्म का सूअर है। यह सुनकर ठाकुर जी मुस्कराने लगे कि बात तो ठीक कहती है, मैं पूर्व अवतार में सूअर बन चुका हूँ। भगवान् का एक शूकरावतार भी इसके पूर्व हो चुका था। किन्तु

यह सब होते हुए भी पुत्र के प्रति भी कुछ मर्यादायें होती हैं, जिन्हें चेतना में पालन करना पड़ता है।

सबसे निकटतम सम्बन्ध के माधुर्यभाव में सर्वाधिकार प्राप्त होता है। गोपियों का माधुर्यभाव एवं उनका दिव्य प्रेम लोक-प्रसिद्ध है, जिसके आधीन ब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी भगवत्ता खो बैठे। उन निरक्षर ब्रजांगनाओं के चोरी-जारी के शब्दों को सुनने के लिये उनके घर जाते हैं एवं गालियाँ खाने के लिए बेचैन रहते हैं। अतएव इन ब्रजांगनाओं की चरणधूलि पाने के लिए ब्रह्मा-शंकर इत्यादि बड़े-बड़े परमहंस वरदान माँगते हैं कि मैं वृन्दावन में यदि कोई लता, गुल्म, वृक्षादि बन जाता तो अपना भूरिभाग्य मानता। भागवत कहती है कि इन गोपियों की पदवी को श्रुतियाँ भी नहीं पा सकीं, तथा—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।

(भाग. 10-47-60)

महालक्ष्मी को भी वह प्रेम-रस नहीं प्राप्त हो सका, जो गोपियों को प्राप्त हुआ।

यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता।

(भाग. 10-16-36)

अर्थात् महालक्ष्मी ने घोर तप किया, किन्तु फिर भी महारास में प्रवेश नहीं पा सकीं।

मैं एक साधारण सी झाँकी बताता हूँ। गोपियाँ श्यामसुन्दर के वियोग में कहती हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(भाग. 10-31-19)

अर्थात् हे प्राणधन श्यामघन! तुम्हारे जिन अत्यन्त कोमल चरणों को मैं अपने हृदय में धीरे से लगाती हूँ कि कहीं मेरे कठोर स्तनों से उन कोमल चरणों को कष्ट न मिले, उन्हीं कोमल चरणों से तुम इन कंकड़-पत्थर से युक्त वनों में चलते हो यह दुःख हम लोगों से देखा नहीं जाता क्योंकि मेरे प्राण तुम ही हो। जरा सोचिये कि कितना कोमल भाव है कि वज्र-हृदय भी इस वाक्य को पढ़कर पिघल जाय। यह है गोपी-प्रेम की गरिमा।

अस्तु, आप समझ गये होंगे कि माधुर्यभाव ही सर्वाधिक मधुरभाव है। उसी भाव से उपासना करने से सर्वश्रेष्ठ रस की उपलब्धि हो सकती है। माधुर्यभाव का मोटा सा अभिप्राय यह है कि वे हमारे सर्वस्व हैं, हम उन्हें जब जो चाहें मान लें। सब भाव में पूर्ण अधिकार रहे एवं कहीं मर्यादा का निरोध न हो।
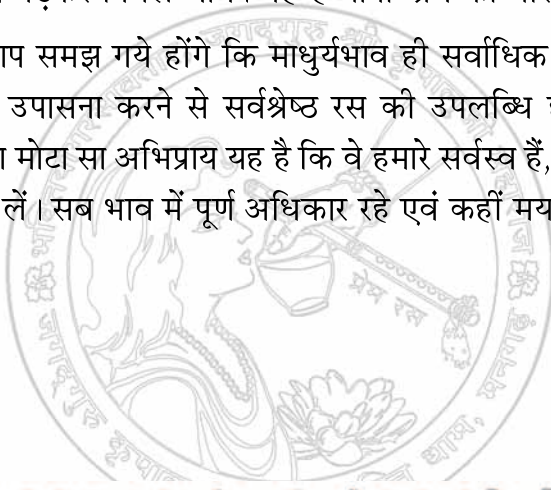
कर्मयोग की क्रियात्मक साधना

कर्मयोग का अर्थ प्राय: गीता के द्वारा सभी को विदित है। गीता कहती है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता 8-7)

अर्थात् प्रतिक्षण हमारा स्मरण करो एवं साथ ही इन्द्रियों का कार्य करते रहो। भावार्थ यह कि मन निरन्तर श्यामसुन्दर में हो एवं कर्त्तव्य कर्म करते रहो। अस्तु, इस कर्मयोग को क्रियात्मक रूप से कैसे किया जाय यह गम्भीर प्रश्न है क्योंकि इन्द्रियाँ बिना मन के सहयोग के कर्म नहीं कर सकतीं, यथा - आँख, कान आदि जो देखने-सुनने का कार्य करते हैं, वह मन के सहयोग से ही करते हैं। यह सबके अनुभव की बात है कि यदि मन अन्यत्र कुत्रापि संलग्न होगा तो अन्य कर्म करने में इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हो सकतीं, फिर युद्ध सरीखा सूक्ष्म कार्य बिना मन-बुद्धि के किया जाय, यह कैसे सम्भव है ? और शर्त यह है कि भगवान् का स्मरण भी प्रतिक्षण किया जाय। **'यो मां स्मरति नित्यश:' 'तेषां नित्याभियुक्तानाम्' 'एवं सततयुक्ता ये' 'तेषां सततयुक्तानाम्'** इत्यादि वाक्यों द्वारा यही निर्विवाद सिद्ध है कि स्मरण निरन्तर होना चाहिये। यदि यह प्रश्न हल हो जाय तो गीता का कर्मयोग क्रियात्मक रूप से किया जा सकता है।

आइये, इस पर विचार कर लें। देखिये, कर्म दो प्रकार का होता है – एक तो वह जिसमें मन–बुद्धि का संयोग मात्र होता है, दूसरा कर्म वह जिसमें मन–बुद्धि का संयोग ही नहीं वरन् मन–बुद्धि की आसक्ति भी होती है। यदि इन दोनों का अन्तर समझ में आ जाय तो कर्मयोग का क्रियात्मक रहस्य समझ में आ जाय। ऐसे तो आप सब लोग समझते हैं, केवल मुझे संकेत मात्र करना है। कोई नई या अपरिचित बात नहीं है।

कल्पना कीजिये कि किसी पतिव्रता स्त्री का पति इंग्लैण्ड में है एवं स्त्री उस पति से पूर्णतया प्रेम करती है। आज चार साल बाद उसका पति आया है। स्त्री ने पति के लिए कई प्रकार के खाने बनाये हैं। बड़े प्यार के शब्दों में खाना परोसा एवं खिलाया और यह पूछा – 'कहिये, खाना अच्छा बना है ?' पति ने भी उत्तर दिया, 'हाँ'।

अब कल्पना कीजिये शाम को किसी शारीरिक कारणवश स्त्री खाना नहीं बना सकी। उसने अपने रसोइये से कहा, 'देखो, तुम्हें इस समय खाना बनाना होगा और देखो, अमुक–अमुक तरकारी, अमुक–अमुक पदार्थ बनाना होगा।' रसोइये ने कहा, 'अच्छा सरकार।' उसने खाना बनाना प्रारम्भ किया। स्त्री की भाँति खाना परोसा एवं उसी प्रकार पति ने खाया। पुनः रसोइये ने पूछा, 'खाना अच्छा है ?' पति ने उसी प्रकार कह दिया 'बहुत अच्छा है।'

अब विचार यह करना है कि कर्म तो दोनों के एक सरीखे ही हैं, एवं खाने का स्वाद भी एक सा है, फिर इन दोनों के कर्म में अन्तर क्या है। अन्तर यह है कि स्त्री का कर्म मन–बुद्धि आसक्तियुक्त है एवं रसोइये का कर्म केवल मन–बुद्धि–युक्त है। किन्तु इसका पता कैसे लगाया जाय ? पता तब लगा, जब पति को खाना खिलाने के बाद वह स्त्री पड़ोसिन–सहेली के पास गयी तो बहुत खुश थी एवं बड़ी प्रसन्नता में फुदकती हुई सहेली से कहती है,

'आज हमारे वे आये हैं।' ऐसा कहकर सहेली को चिपटा लेती है। किन्तु जब रसोइया खाना बनाकर खिलाने के बाद घर गया तो अपनी स्त्री से कहने लगा, 'आज पता नहीं कहाँ से साहब आ मरे हैं, खाना बनाते-बनाते कचूमर निकल गया, पूरे चार घंटे में खाना बन पाया। मेम साहब ने आर्डर दे दिया - यह-यह खाना बनाना होगा, अब बनाने वाला मरे-जिये, उनकी बला से। संसार में सबसे निकृष्ट नौकरी रसोइये की है,' इत्यादि। अब सोचिये स्त्री का तो पति में प्रेम है, अतएव पति के निमित्त कर्म में आसक्ति है, किन्तु रसोइये का साहब में प्रेम नहीं है, उसे कर्म में मन-बुद्धि तो लगाना पड़ा किन्तु प्रेम न होने के कारण सुख का अनुभव नहीं हुआ। उसका प्रेम तो अपनी स्त्री आदि में है। अस्तु, जिस प्रकार रसोइया अपने स्त्री-बच्चों में मन लगाकर खाना बनाना रूपी कर्म करता है, उसी प्रकार आपको भी भगवान् में मन लगाकर संसार के कर्म करने हैं, उनमें सुख नहीं अनुभव करना है।

देखिये, एक नर्स या डाक्टरनी अस्पताल में अनेक बच्चे पैदा कराती है, किन्तु उसे कोई सुख नहीं होता, क्योंकि उसकी आसक्ति नहीं होती। इसका प्रमाण तब पक्का-पक्का मिलता है जब किसी का बच्चा मर जाता है। अर्थात् किसी के बच्चे के मरने पर नर्स इतना ही कह देती है कि माफ कीजिएगा, मैंने तो बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु ईश्वर को ऐसा ही मंजूर था। अच्छा, अब आप बच्चे को लेकर बाहर पधारिये। उस बच्चे की माँ की हालत खराब है, रो रही है, उसके अब तक एक ही लड़का हुआ, वह भी मरा हुआ, किन्तु नर्स की आसक्ति नहीं है, अतएव उस बच्चे को बाहर निकाल कर दूसरा कार्य करने लगती है। हमें भी उसी नर्स की भाँति ड्यूटी करना है, कर्तव्यपालन - मात्र करना है, सुख या दुःख नहीं अनुभव करना है।

एक खजांची नियमानुसार लाखों रुपये बैंक से देता है, किन्तु कोई दुःख नहीं होता। किन्तु उसे आज जो वेतन मिला है, कल्पना कीजिए, उसमें से

500 रुपये कहीं गिर गये। घर जाने पर पता लगा। अब वह उस 500 रुपये के लिए चिन्तित है, मार्ग में खोज रहा है एवं अपनी बुद्धि व लापरवाही को कोस रहा है। किन्तु उन लाखों रुपयों की चिन्ता उसे नहीं है, क्योंकि वह तो उसका रुपया था ही नहीं, सरकारी रुपया था, सरकारी आर्डर के अनुसार दे दिया गया, उसके पास से क्या गया? इत्यादि।

पड़ोसी के लड़के के मरने पर पड़ोसी रो रहा है, किन्तु आप चाय पी रहे हैं कमरा बन्द करके, साथ ही स्त्री से कह रहे हैं - 'अरे सुन रही हो, एक कप चाय और दे दो, अभी श्मशान घाट जाना पड़ेगा, पता नहीं कितनी देर लगे।' चाय-नाश्ता करके बड़ी मस्ती से घर से निकलते हैं एवं पड़ोसी के सामने पहुँचते ही अभिनय करने लगते हैं, 'अरे! यह कैसे हो गया, राम-राम।' अस्तु, उसे श्मशान घाट ले जाते हैं। लौटकर आने पर थक जाते हैं एवं बड़बड़ाते हैं कि इसको भी आज ही मरना था। एक तो कल हम एकादशी का व्रत किये थे, कुछ खाया-पिया नहीं था, दूसरे एक और बवाल सिर पर आ गया, इत्यादि। बस, इसी प्रकार आसक्तिरहित किन्तु मन-बुद्धियुक्त कर्म करना है।

यदि सच पूछा जाय तो जितने कार्य बेमनी से किये जाते हैं अर्थात् जिन कार्यों के करने में सुख नहीं मिलता किन्तु करने पड़ते हैं, वे सब मन-बुद्धि-युक्त कर्म हैं एवं जिन कर्मों के परिणाम में सुख मिलता है, वे मन-बुद्धि-आसक्ति युक्त कर्म होते हैं। मन-बुद्धि युक्त कर्तव्य-पालनमात्र के कर्म आपके दैनिक जीवन में अधिक मात्रा में होते हैं। कौन चाहता है कि हम ऑफीसर के आधीन रहकर ऑफिस का कार्य करें? किन्तु करना पड़ता है। मान लीजिए रात्रि को 12 बजे कोई आपके यहाँ अतिथि आया, वह अतिथि पहले का पड़ोसी-मात्र था। उसने आकर किवाड़ खटखटाये, 'अरे मिस्टर

शर्मा!' स्त्री-पति आराम से सो रहे थे, पति सुनते ही क्रोध में उठा – 'कौन है ?' उसने कहा – 'अरे मैं हूँ – त्रिपाठी, खोलो तो'।

अब मिस्टर शर्मा अपनी स्त्री की ओर देखते हुए, मुँह बिचकाते हुए, भन्नाते हुए किवाड़ खोलते हैं और खोलते ही बोले – 'अरे, आप हैं। आइये-आइये, मैं कई दिन से आपकी प्रतीक्षा कर रहा था, अभी-अभी हम लोग आप ही का जिक्र करते-करते सोये थे। आप भी ऐसे हैं कि एक टेलीग्राम भी न दे दिया कि हम लोग दोनों स्टेशन पर आ जाते, आपको बहुत कष्ट हुआ होगा।' ऐसा अभिनय करते हुए सामान अपने हाथ से उठाकर कमरे में रखते हैं और अपनी स्त्री से कहते हैं, 'त्रिपाठी जी के लिए खाना बनाओ।' त्रिपाठी जी भी यद्यपि भूखे हैं, फिर भी अभिनय करते हुए कहते हैं – ' अरे शर्मा! यह सब तकल्लुफ न करो, यह कोई खाने का वक्त है ?' शर्मा जी कहते हैं – 'वाह साहब! यह भला कैसे हो सकता है, अपने घर में भी ऐसी बात करते हो,' इत्यादि। खाना बनता है, त्रिपाठी जी खाते हैं, पुनः थोड़ी देर के लिए सब सो जाते हैं। सवेरे त्रिपाठी जी तैयार होते हैं अन्यत्र जाने को। शर्मा जी कहते हैं – 'अरे भाई, यही बात मुझे नापसन्द है कि एक तो तुम कभी आते ही नहीं और जब आये भी तो चल दिये। यह नहीं हो सकता।' सामान हाथ से छीन लेते हैं। अभिनयपूर्वक दोनों कुश्ती लड़ते हैं, इत्यादि। पश्चात् त्रिपाठी चले जाते हैं। जाने पर स्त्री से पति कहता है कि इस बेवकूफ त्रिपाठी को इतनी अक्ल नहीं है कि रात को 12 बजे किसी के घर पर नहीं जाना चाहिए। बस, चले आ रहे हैं। अब इनके लिए खाना बनाओ, सारी रात जागो, दिन में ऑफिस करो, क्या दुनियाँ है ? यह है बिना मन के यानी बिना मन-बुद्धि की आसक्ति के कर्म। यह आप लोग खूब कर लेते हैं। इसी को तो आजकल सभ्यता कहते हैं। जिसमें प्यार न हो केवल व्यवहार हो, बस वही कर्म मन-बुद्धि-युक्त मात्र है।

जब कोई प्रधानमंत्री आदि किसी नगर में आता है तो लोग उसके स्वागतार्थ बड़ी-बड़ी तैयारी करते हैं। बड़ी साज-सज्जा के साथ स्वागतादि करते हैं, बड़ा प्रबन्ध करते हैं। अनेक सी.आई.डी. आदि के द्वारा संरक्षणादि का कार्य करते हैं, दिन-रात वहाँ के अधिकारी परेशान रहते हैं। बड़े जोरों से अभिनन्दन करते हैं। किन्तु जब वे महोदय वहाँ से सकुशल चले जाते हैं तब स्वागत करने वाले लम्बी साँस लेते हुए कहते हैं - 'चलो छुट्टी मिली, सकुशल वापस चले गये, बला टली।'

अब आप एक उदाहरण से और समझ लीजिए। एक पिता अपने सन्निपात ज्वर से पीड़ित पुत्र के हेतु डॉक्टर के पास जाता है। साइकिल चलाता हुआ एक मील दूर डॉक्टर के घर जाता है। साइकिल चलाने में कितने मनोयोग की आवश्यकता है, यह अनुभवी जानते हैं, क्योंकि आगे से भी सवारियाँ आ रही हैं, पीछे से भी आ रही हैं, सब से बचते हुए अपने गंतव्य स्थान पर पहुँचना है। अस्तु, जब वह पिता डॉक्टर के घर पहुँचता है तब बड़ी व्याकुलता से कहता है - 'डॉक्टर! डॉक्टर!' यानी एक-एक क्षण डॉक्टर के बिना बेचैन है, जबकि डॉक्टर से एक रत्तीभर भी प्यार नहीं है, प्यार तो बेटे से है। अस्तु, डॉक्टर साहब इठलाते हुए घर से निकले, पूछा, 'क्या है ?' 'डॉक्टर साहब! जल्दी चलो, बेटे की हालत बुरी है।' डॉक्टर साहब ने भी अपनी फीस वगैरह बतायी, पश्चात् अभिनय करते हुए जल्दी-जल्दी दोनों चले। बच्चे को देखा, नुस्खा लिख दिया। पुनः वह पिता बाजार से दवा लाया।

यह सब जो कार्य डॉक्टर के पास जाना, दवा लाना आदि किया जा रहा है यह मन-बुद्धि से ही तो किया जा रहा है, किन्तु मन-बुद्धि की आसक्ति पुत्र में ही है, डॉक्टर आदि में नहीं है। अतएव हमें भी भगवान् के प्रीत्यर्थ, भगवान् में मन को आसक्त करके सांसारिक कार्य करना है, उसके परिणाम में सुखी-दुःखी नहीं होना है।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि स्त्री, पुत्र, पिता आदि में आसक्ति न हो तो कर्म ही अच्छे न होंगे; फिर तो बेगारी ही होगी। यह कहना भोलापन है। सच तो यह है कि प्यार होने पर कार्य सही नहीं हो पाता। यथा – एक छोटा-सा बच्चा दूध अधिक पी गया, पेट में दर्द हो गया, वह रो रहा है। माँ ने उसके रोने की आवाज सुनी, वह बर्दाश्त न कर सकी, उसने पुनः अपने स्तनों में बच्चे का मुँह लगा दिया बच्चा पुनः दूध पीकर और भी दुःखी हो गया। किन्तु माँ तो आसक्त है न, अतएव वह नर्स के समान ड्यूटी नहीं कर सकती। नर्स ठीक समय पर ही ठीक मात्रा में दूध देती है, चाहे बच्चा रोये, चाहे सर पटके। यह देखिये, प्यार में बच्चे को हानि है अर्थात् राग-रहित अवस्था में ही ड्यूटी सही हो सकती है।

एक जज के सामने कोई मुकदमा आता है। यदि जज का किसी भी पार्टी से न प्यार है न खार है तो न्याय होगा। यदि प्यार है तो पक्षपात होगा यदि द्वेष है तो भी अन्याय होगा। अतएव राग-द्वेष रहित अवस्था में ही कर्म श्रेष्ठ होता है।

सब के अनुभव की बात है कि प्यार में, कार्य में कुछ न कुछ गड़बड़ी अवश्य होती है। देखो, जिसमें प्यार होता है, उसके दर्शन, स्पर्श आदि में अधिक सुख मिलता है। परिणाम-स्वरूप बुद्धि सम नहीं रहती, जिससे कार्य में गड़बड़ हो जाती है।

इसी प्रकार ईर्ष्यादि-युक्त क्रोध में भी बुद्धि खो जाती है, तब भी कार्य सही नहीं हो पाता। अतएव सही-सही कार्य राग-द्वेष-रहित अवस्था में हो सकता है।

यदि ईश्वर से प्यार करें एवं संसार में व्यवहार करें तो हमारा व्यवहार भी ठीक-ठीक चले एवं ईश्वर प्राप्ति की समस्या भी हल हो जाय। गोपियों को देखिये—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

(भाग. 10-44-15)

अर्थात् गृहस्थी के प्रत्येक कर्म करती हुई श्यामसुन्दर से निरन्तर प्रेम कर रही हैं। देखिये, विदेह जनक परमहंस राज्य-कार्य कर रहे हैं; ध्रुव, प्रह्लाद राज्य-कार्य कर रहे हैं; अर्जुन भी युद्ध कर रहा है। इसी प्रकार आपको भी कार्य करना है।

भावार्थ यह कि कर्मयोग करने का सबको पूर्ण अभ्यास है। जैसे स्त्री, पुत्र, पति आदि दस-बीस लोगों में मन-बुद्धि की आसक्ति रखते हुए बाकी सबके प्रति कर्त्तव्य-पालन-मात्र करते हो, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, पति आदि में भी कर्त्तव्य पालन मात्र करो। मन का स्वभाव प्रेम करना तो है ही, उसे भगवान् में लगा दो। बस, तुम्हारे दोनों कार्य चलते रहें। यही बुद्धिमत्ता '**योगः कर्मसु कौशलम्**' वाला गीता का सिद्धान्त है।

देखिये, जैसे पहिया चलता है, किन्तु धुरी स्थिर रहती है, वैसे ही मन को भगवान् में स्थिर रखिये एवं शरीरेन्द्रिय से कर्म करते रहिये।

यदि कोई यह कहे कि ईश्वर से प्रेम बढ़ जायगा तो कर्म गड़बड़ होने लगेगा, तो प्रथम तो ऐसा कम होगा और यदि हो भी तो उसकी परवाह न करो। अन्ततोगत्वा कर्म छूट भी जाय तो तुम उस जिम्मेदारी से मुक्त हो। जान-बूझकर कर्म छोड़ देना एवं ईश्वर-प्रेम भी न करना अनुचित है, वह दण्ड का भागी होगा।

इस प्रकार गृहस्थादि के कार्य करते हुए मन को ईश्वर में लगाते हुए कर्मयोग का क्रियात्मक पालन करना चाहिये। प्रथम अभ्यास करना पड़ेगा, पश्चात् अपने आप होने लगेगा। पहले जब साइकिल चलाना सीखते हो तो

कठिनाई महसूस होती है, पश्चात् अभ्यास हो जाने पर हाथ पैर से काम होता रहता है और आप बात भी करते रहते हैं। ऐसे ही थोड़ा अभ्यास करने पर स्वयं होने लगेगा।

कर्मयोग की क्रियात्मक साधना में दो बातें समझना परम आवश्यक है- अनन्यता एवं रूपध्यान। जिसे न समझने के कारण साधक साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता।

अनन्यता

हम लोग अनन्यता पर ध्यान नहीं देते। अनन्य शब्द का अर्थ है 'अन्य नहीं' अर्थात् केवल एक श्यामसुन्दर से प्रेम होना ही अनन्यता है। साधक के अन्तःकरण में यदि श्यामसुन्दर के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व आ जायगा तो अनन्यता में बाधा पड़ जायगी और प्रेमास्पद उसका न बन सकेगा। देखिये, द्रौपदी के उद्धार का रहस्य।

जब द्रौपदी दुःशासन के द्वारा सभा में लायी गयी, तब द्रौपदी के समक्ष एक भयानक परिस्थिति थी। भरी सभा में एक भारत की प्रमुख नारी इस प्रकार अपमानित हो, यह अनुभवी की अन्तरात्मा ही समझ सकती है। अस्तु,द्रौपदी ने प्रथम यह सोचा कि मेरे पांच-पांच पति हैं (युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव) ये हमारी रक्षा करेंगे, अब क्या डर है! किन्तु पांचों पति जुए में हार जाने के कारण चुपचाप बैठे रहे तो द्रौपदी के अन्तःकरण से पतियों का बल निकल गया। अब द्रौपदी ने सोचा कि भीष्मपितामह, द्रोणाचार्यादि बड़े-बड़े धर्माचार्य रक्षा करेंगे। जब वे भी चुप रहे, तब उनका भी बल निकल गया। अब द्रौपदी के अन्तःकरण से समस्त विश्व का बल निकल गया, किन्तु अपना बल रह गया अर्थात् मैं स्वयं अपनी रक्षा करूँगी। भला एक अबला का बल ही क्या है जो 10 हजार हाथी के बल

वाले दु:शासन का मुकाबला कर सके। द्रौपदी ने दाँत से साड़ी दबायी। उस समय भगवान् द्वारिका में भोजन कर रहे थे। एक ग्रास मुँह में था, उसे न निगल सके, न उगल सके, एक हाथ मुँह की ओर जा रहा था, उसे न मुँह में डाल सके, न पात्र में तथा आँखें निर्निमेष खुली रह गयीं। ऐसी विलक्षण स्थिति देखकर रुक्मिणी ने पूछा, क्या बात है ? भगवान् ने कहा, बड़ी गम्भीर बात है, एक भक्त पर कष्ट आ पड़ा है। रुक्मिणी ने कहा, तो फिर जाकर बचाओ। भगवान् ने कहा मैंने हजार बार कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता 9-22)

अर्थात् मैं उसी का योगक्षेम वहन करता हूँ जो अनन्य शरणागत हो, किन्तु वह भक्त अभी अपने बल का विश्वास कर रहा है। अस्तु, दु:शासन ने जैसे ही साड़ी को झटका दिया, वैसे ही द्रौपदी के हाथ से साड़ी खिसक गयी।

अब द्रौपदी ने अपने बल का परित्याग कर दिया। अब केवल श्यामसुन्दर के ही बल पर निर्भर हो गयी। बस, अनन्य हो गयी। अम्बरावतार हो गया अर्थात् चीर बढ़ाने के लिये भगवान् तत्क्षण पहुँच गये। भावार्थ यह है कि उपासना में अनन्यता प्रमुख वस्तु है, जिस पर लोगों का विशेष दृष्टिकोण नहीं रहता।

कुछ लोग भगवान् से भी प्रेम करते हैं किन्तु साथ ही अन्य देवताओं या संसारियों से भी प्रेम करते हैं, अतएव भगवत्प्राप्ति नहीं हो पाती। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि एक मन है, उसमें एक श्यामसुन्दर सम्बन्धी ही विषय रहे, अन्य मायिक सत्त्व, रज, तम सम्बन्धी तत्त्व न आने पायें। आजकल प्राय: उपासक लोग अनेक देवी-देवताओं की उपासना साथ-साथ करते

रहते हैं। भगवान् की भी करते हैं, और यदि अवसर देखा तो कब्रिस्तान की भी कर लेते हैं। यह सब धोखा है। जब समस्त मायिक एवं अमायिक शक्तियों का मूल अधिष्ठान भगवान् ही है तो पृथक्-पृथक् उपासना क्यों की जाय? यह सिद्धान्त समझ लेना चाहिये कि सम्पूर्ण शक्तियों की उपासना करने पर भी भगवान् की उपासना नहीं मानी जायगी, किन्तु एक भगवान् की उपासना कर लेने पर सम्पूर्ण शक्तियों की उपासना मान ली जायगी।

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगंत्यपि।
रज्यंते जन्तवस्तत्र स्थावरा जंगमा अपि॥

(भ.र.सि.)

अर्थात् जिसने हरि की उपासना कर ली, उसने सबकी कर ली, सबकी तृप्ति हो गयी। वेदव्यास जी कहते हैं—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

(भाग. 4-31-14)

अर्थात् जैसे वृक्ष के मूल में जल देने से वृक्ष की शाखा, उपशाखा एवं उसके पत्र, फूल, फल सब को जल पहुँच जाता है, पृथक्-पृथक् जल देने की आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही समस्त शक्तियों के आधारभूत भगवान् की उपासना कर लेने पर समस्त शक्तियों की उपासना स्वयमेव हो जाती है, तदर्थ पृथक् से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु, जिस प्रकार समस्त पत्र, पुष्प, फलादि में जल देने से भी मूल को जल नहीं प्राप्त होता, यहाँ तक कि उस फल-फूलादि को भी जल भीतर से नहीं मिलता, उसी प्रकार समस्त देव-दानव-मानव की उपासना से न उनकी तृप्ति ही होती है और न भगवान् की उपासना कहलाती है। अतएव उपासना केवल असीम दिव्य ईश्वर की ही

करनी चाहिये, अन्य में आदरभावमात्र रखना चाहिए, जैसे एक पतिपरायणा स्त्री अपने पति में एकानुराग रखती है, किन्तु अपने अन्य देवर, ज्येष्ठ, सास, ससुर, नौकर आदि के प्रति आदर की बुद्धि रखती है। भगवान् ने गीता में स्पष्ट कहा है कि—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(गीता 7-21)

जो-जो भक्त जिस-जिस शक्ति की उपासना करेगा, उसकी की हुई उपासना के अनुसार उसको अपने उपास्य की ही शक्ति प्राप्त होगी। यहाँ तक कि पुनः गीता में कहा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(गीता 9-25)

अर्थात् देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के उपासक पितरों को प्राप्त होते हैं, अन्य मानवादि के उपासक उन मानवों को प्राप्त होते हैं एवं जो केवल मेरी ही उपासना करते हैं, वे मुझको प्राप्त होते हैं। इससे अधिक स्पष्टीकरण क्या हो सकता है। इसलिये—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

(गीता 7-14)

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता 18-62)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता 18-66)

इत्यादि के द्वारा बार-बार पुष्टि की गयी है कि उपासना में अनन्यता प्रमुख तत्त्व है।

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् की उपासना तो केवल मुक्ति के लिये करते हैं और शेष की उपासना संसार की प्राप्ति के लिये करते हैं। तब तो इसका अभिप्राय यही हुआ कि संसार की प्राप्ति की कामना अभी अंत:करण में है, और यदि ऐसा है, तब भक्ति के प्रथम लक्षण अर्थात् मोक्षपर्यन्त की कामनाओं से रहित होना, इसी से हम रहित हैं। साथ ही यह भी सिद्ध हो जायगा कि अभी हमने यही नहीं समझा कि आनन्द ईश्वर में ही है। और यदि यह भी मान लिया जाय कि कुछ आनन्द जगत् में भी है, तो भी ईश्वर ही जगत् का स्वामी है, तो केवल उसी की उपासना क्यों न की जाय, जगत् तो स्वयं मिल जायगा। किन्तु, भोले लोग अपनी अनादिकालीन वासना को छुपाने के लिये ही उपर्युक्त दलीलें दिया करते हैं। वस्तुतस्तु उपासना में कामना का परित्याग पहली शर्त है। अतएव एकमात्र भगवान् की ही उपासना करणीय है।

भगवान् के साथ-साथ उनके किसी भी अवतार की उपासना हो सकती है, उससे अनन्यता में बाधा नहीं पड़ती। आजकल कुछ भोले लोग यहाँ तक कहते हैं कि समस्त अवतार पृथक्-पृथक् हैं, यदि हम रामोपासक हैं तो कृष्णोपासक कैसे बन सकते हैं ? इष्ट बदल जायगा, हम अनन्य न रह जायेंगे इत्यादि। यह सबसे बड़ा भोलापन एवं सबसे बड़ा अपराध, नामापराध है। इसका रहस्य आगे समझाया जायगा।

रूपध्यान

साधना में जो बात सबसे गम्भीर तथा विचारणीय है, वह है भगवान् का रूपध्यान। यह तो मैं पूर्व में ही बता चुका हूँ कि बन्धन एवं मोक्ष का कारण मन है, भावार्थ यह कि उपासना जगत् की हो या भगवान् की, उसे मन को ही करना है। यदि रूपध्यान न किया जायगा तो मन संसार में अवश्य रहेगा, क्योंकि मन एक क्षण को भी चुप नहीं रह सकता। पुनः संसार माया से उत्पन्न है एवं मन भी माया से उत्पन्न है, अतएव सजातीय है तथा अनादिकालीन अभ्यास भी है। अतएव इन सब बातों को विचार में रखते हुए मन से भगवान् का रूपध्यान करना है, जो सर्वाधिक अनिवार्य है।

किन्तु, यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् को तो कभी देखा नहीं फिर रूपध्यान कैसे करें एवं क्या करें। संसार में तो किसी को देखकर ध्यान हुआ करता है। एक बार भगवान् को दिखा दीजिये, तब तो रूपध्यान करने में सुभीता हो जाय।

जरा इन भोले लोगों की बात तो देखिये, ये कहते हैं कि पहले भगवान् को दिखा दीजिये फिर रूपध्यान करेंगे। भावार्थ यह कि पहले सिद्धि मिल जाय तब साधना करेंगे, पहले परिणाम प्राप्त हो जाय तब क्रिया करेंगे। संसार में क्या ऐसा होता है कि पहले पुत्र हो जाय तब ब्याह करेंगे, अथवा पहले डिप्लोमा (diploma) मिल जाय तब परीक्षा में बैठेंगे अथवा पहले पेट भर जाय फिर खाना खायेंगे ? तात्पर्य यह कि यह तो लौकिक कार्य में भी सर्वथा असम्भव है कि पहले फल मिल जाय तब वृक्ष लगायेंगे। अतएव रूपध्यान-रूपी साधना प्रथम करनी ही है। एक बात और भी विशेष विचारणीय है कि यदि आप प्रथम भगवान् को देखकर पश्चात् रूपध्यान करने की सोचते हैं, और यदि ऐसा करा भी दिया जाय, तो आप सदा के लिए नास्तिक हो जायेंगे।

आप कहेंगे, यह बात तो हम कदापि नहीं मान सकते कि भगवान् के दर्शन के पश्चात् नास्तिक बन जायेंगे। किन्तु है ऐसा ही। यदि हम रहस्य बता दें तो आप अभी मान लेंगे।

आप सोचते होंगे कि भगवान् का सौन्दर्य अनंतकोटि कंदर्प से भी अधिक है; जब संसारी सीमित सौन्दर्य में ही हम भूल जाते हैं, तब भला अनन्त दिव्य सौन्दर्य को पाकर हम कैसे विभोर न हो जायेंगे ? पुनः इतिहास साक्षी है कि जनकादिक-सनकादिक परमहंस विभोर हो गये। जब बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंस भी एक झलक मात्र से अपना ब्रह्मानन्द भुला देते हैं, तब हम पामर विषयानन्दियों की तो गणना ही कहाँ है !

देखिये, अब इसका अन्तरंग रहस्य समझिये। जनकादिक-सनकादिक परमहंसों ने भगवान् का वास्तविक दिव्य रूप देखा था। वास्तविक स्वरूप चिदानन्दमय स्वरूप है—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥

अर्थात् भगवान् का देह चिदानन्दमय है। यह दिव्य स्वरूप प्राकृत आँख से दिखाई ही नहीं पड़ सकता, उसके लिये तो दिव्य दृष्टि चाहिये। हम अभी अधिकारी नहीं हैं, अतएव भगवान् का दिव्य एवं अनन्तकोटि कंदर्पलावण्य का विग्रह दिखाई नहीं पड़ सकता। हम तो अपनी प्राकृत दृष्टि से उन्हें प्राकृत रूप में ही देखेंगे।

अभी तो हमारी ऐसी भावनायें हैं कि वह दिव्य चिन्मय स्वरूप कितना सुन्दर होगा कि जिस शरीर की नखमणि-चन्द्रिका के दर्शन मात्र से ब्रह्माशंकरादि समाधि छोड़ देते हैं। किन्तु, जब प्राकृत दृष्टि के कारण प्राकृत रूप ही देखेंगे तो यह विश्वास भी चला जायगा। फिर तो हम यही सोचेंगे कि देख लिया तुम्हारे भगवान् को, सब गप्प है, शास्त्रों की कल्पना-मात्र है। इतना ही नहीं-

आपु जाहिं अरु आनहु घालहिं।

के अनुसार स्वयं नष्ट होंगे एवं औरों को भी ले डूबेंगे।

देखिये, रामावतार में भगवान् चिदानन्दमय-विग्रहधारी श्रीराम जनकपुर में धनुष तोड़ने के हेतु खड़े हैं, किन्तु दर्शकों ने अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही उन्हें विभिन्न रूपों में देखा, यथा—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥
देखहिं रूप महा रणधीरा। मनहुँ वीररस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छल छोनिप वेषा। तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥
विदुषण प्रभु विराटमय दीसा। बहुमुख कर पग लोचन सीसा॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥
हरिभक्तन देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुख दाता॥
रामहिं चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहहि कवि कोऊ॥

अस्तु, भगवान् का वास्तविक दर्शन तो होगा नहीं, हम अपने प्राकृत दृष्टि के दोष से प्राकृत ही देखेंगे। जैसे पीलिया का रोगी श्वेत वस्तु को भी पीली ही देखता है, जैसे नमक की डली मुँह में रखकर चींटी चीनी के ढेर पर चलती हुई भी नमक का ही अनुभव करती है, ठीक उसी प्रकार हम भी दिव्यानन्दमय स्वरूप से वंचित ही रहेंगे और साथ ही यह मिथ्या भ्रान्ति और भर जायगी कि मैंने देख लिया, जान लिया, सब धोखा है, कवियों की कल्पना है, इत्यादि। यही बात कृष्णावतार में पुराणविख्यात है। वेदव्यास जी कहते हैं—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

(भाग. 10-43-17)

अर्थात् जब श्रीकृष्ण कंस की सभा में पधारे तो सब दर्शकों को उनकी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न दिखाई पड़े। पहलवानों ने देखा कि इस लड़के का शरीर हाड़मांस का है ही नहीं, यह तो मानो वज्र का बना हुआ है। साधारण जनता ने देखा कि यह पुरुषों में सर्वाधिक श्रेष्ठ गुणयुक्त है। स्त्रियों ने देखा, यह तो कामदेव के समान सुकुमार एवं सुन्दर है। गोपों ने देखा कि यह हमारा लंगोटिया यार है। दुष्ट राजाओं ने देखा, यह तो हमारा शासक है। माता-पिता ने देखा कि हमारा छोटा सा कोमलांग शिशु है। कंस ने देखा कि यह तो यमराज का भी काल है। दुष्ट-प्रकृतियों ने देखा कि यह तो विराट् है अर्थात् हजारों मुख, हजारों कान आदि हैं एवं इसके एक-एक मुख से हजारों सूर्य की लपटें निकल रही हैं; अतएव वे डर के मारे काँपने लगे। योगियों ने देखा, यह तो परम तत्त्व है। भक्त यादवों ने देखा, यह तो मेरा इष्ट है। अब बताइये, आप उपर्युक्त दर्शकों में से कौन हैं? यदि आप योगी या भक्त हैं, तब तो आप उसे परम तत्त्व, इष्टदेवादि के स्वरूप में देखेंगे, अन्यथा यदि कहीं विराट रूप आदि में देख लिया तो रही सही ईश्वरीय भावना भी समाप्त हो जायेगी।

अतएव, देखकर रूपध्यान करने वाली बात भूलकर भी अपने मस्तिष्क में न लानी चाहिए। पहले अधिकारी बनने की साधना कर लो। जब अधिकारी बन जाओ और दिव्य दृष्टि प्राप्त करके उस दिव्य चिन्मय स्वरूप को देखो, तब शास्त्रोक्त सौन्दर्य-माधुर्य का अनुभव कर सकोगे।

फिर एक बात और भी सोचिये। तुम जो यह कहते हो कि संसार में तो देखकर ही प्रेम होता है, यह सर्वथा निराधार है। कल्पना करो, तुम्हें कलेक्टर बनना है, तो तुम आई.ए.एस की परीक्षा में बैठते हो, पास होने के लिए व्यग्र होते हो, वर्षों प्रयत्न करते हो, तब कहीं कलेक्टर बनते हो। अगर यह कहो कि हम तो कलेक्टर का सुख देख चुके हैं, अतएव तदर्थ प्रयत्न करने लगते हैं, तो यह कहना गलत है, क्योंकि कलेक्टर का या कोई भी सुख देखा नहीं जाता, वह तो अनुभव किया जाता है और अनुभव उस परीक्षा के पास करने के कुछ वर्ष पश्चात् ही सम्भव है।

एक सुन्दर स्त्री में क्या सुख है, यह तो उपलब्धि के पश्चात् ही अनुभव में आयेगा। शराब का नशा पीने के पूर्व नहीं आता, रसगुल्ला देखने से उसके रस का अनुभव नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य कह सकते हो कि चीनी खा चुके हैं अतएव रसगुल्ला की प्रशंसा सुनने पर तदर्थ व्यग्र हो जाते हैं। जैसे चीनी के दसगुने माधुर्यवाली वस्तु के लिये यह सोच कर व्यग्रता होती है कि जब चीनी में इतनी मिठास है, तब उसमें कितनी अधिक होगी, तब क्या यह नहीं सोच सकते कि अनन्तगुनी मिठास कितनी होगी ? बस, इसी आधार पर साधना कर सकते हो। जब कलैक्टर के इस बहिरंग सुख के देखने पर कि पूरा जिला प्रणाम करेगा, हम पूरे जिले के लोगों से लाभ ले सकेंगे, सब हमारे आधीन होंगे, इत्यादि सोचकर तदर्थ प्रयत्न कर सकते हो, तब यह सोचकर क्यों नहीं प्रयत्न कर सकते कि जब भगवद्दर्शन हो जायेगा तब अनन्त इन्द्र, वरुण, यमराज आदि हाथ जोड़े खड़े रहेंगे, माया पास न आ सकेगी; त्रिताप, त्रिकर्म, त्रिदोष, त्रिशरीर आदि पास न फटक सकेंगे। सदा के लिए दिव्यानन्द मिल जायगा तथा शरीर भी दिव्य मिल जायगा, इत्यादि। वास्तव में विचार करने पर यह बड़ी सुगम सी साधना है।

आपको रूपध्यान करना ही है। आप कहेंगे, यह सब तो ठीक है, किन्तु जो भी रूपध्यान करेंगे, वह तो मायिक ही होगा, दिव्य रूपध्यान भला कैसे कर सकेंगे, जबकि उसका हमें कुछ अनुमान ही नहीं है। रामायण के अनुसार—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। *(तैत्तिरीयो. 2-9)*

अर्थात् वहाँ इन्द्रिय, मन, बुद्धि की गति नहीं है।

हाँ, प्रश्न यह अवश्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हमारा मन तो मायिक ही है, प्रकृति से बना है, उसका जो भी महान् से महान् विचार होगा, वह मायिक ही होगा। ईश्वर दिव्य है, पुनः इन्द्रिय, मन, बुद्धि से सर्वथा परे है। हमारा प्रत्येक रूपध्यान प्राकृत जगत् का ही हो सकता है और ऐसा प्राकृत रूपध्यान दिव्य लाभ कैसे प्रदान करेगा ?

इस विषय में बहुत गम्भीर विचार करना होगा क्योंकि यही एक प्रश्न ऐसा है कि यदि साधक के मस्तिष्क में ठीक से बैठ जाय तो रूपध्यान की समस्या हल हो जाय और साधक तेजी के साथ आगे बढ़ जाय। आइये, इस पर विचार करें।

यह तो आप जानते होंगे कि भगवान् को वास्तविक रूप में देखने पर भगवान् वाला ही लाभ मिलता है। यह सर्वमान्य है। अर्थात् जिन अधिकारी जनकादिकों ने भगवान् को दिव्य रूप में देखा है एवं प्रेम किया है, वे तो कृतार्थ हो ही गये।

अब दूसरे उन लोगों पर विचार करो, जिन्होंने राम-कृष्णादि भगवान् को दिव्य रूप से नहीं देखा एवं नहीं जाना, यथा—

तमेव परमात्मानं जार बुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

(भाग. 10-29-11)

अर्थात् कुछ गोपियों ने श्रीकृष्ण को दिव्य चिन्मय भगवत्स्वरूप में नहीं जाना, किन्तु एक पुरुष ही जानकर पूर्ण अनुराग कर लिया, वे भी कृतार्थ हो गयीं, क्योंकि—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

(गीता 10-10)

इस गीता की उक्ति के अनुसार भगवान् ने उन्हें दिव्य शक्ति देकर कृतार्थ कर दिया। कंसादिक भी इसी प्रकार के भाग्यशाली हैं।

भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि जानकर सेवन करने से या अनजाने में ही सेवन करने पर एक ही फल देती है। कोई स्त्री सोलह शृंगार करके सती हो अथवा किसी को बाँधकर अग्नि के कुंड में फेंक दो, दोनों ही अग्निरूप हो जायेंगी। इसी प्रकार भगवान् को भगवान् जानकर मन एक कर दो, चाहे भगवान् को बिना भगवान् जाने उनमें मन एक कर दो, दोनों को वही भगवत्स्वरूप प्राप्त होता है। किन्तु, यह बात तो केवल अवतार-काल में ही प्रायः सम्भव हो सकती है, वर्तमान काल में क्या किया जाय?

शायद आप लोग यह सोचेंगे कि अवतार-काल में यदि हम होते तो बड़ा अच्छा था, हमारा भी काम बन जाता। किन्तु यह ध्यान रहे कि उस अवतारकाल में भी आप थे। आपके समक्ष अनन्त बार अवतार हो चुका है किन्तु आपने उस समय अवतार सम्बन्धी प्राकृत कार्यों को देखकर यही कहा था कि ये राम तो हम से भी नीचे दर्जे के हैं। देखो तो! स्त्री में इनकी इतनी आसक्ति है, जितनी कलियुग में भी शायद किसी की न होगी। राम लक्ष्मण जी से पूछते

हैं कि मैं कौन हूँ। लक्ष्मण जी कहते हैं कि आप आर्य हैं। तब राम जी पूछते हैं, '**आर्यः स कः ?**' मैं कौन सा आर्य हूँ ? तब लक्ष्मण जी कहते हैं, '**राघवः**' आप राघव हैं। तब राम जी पूछते हैं, तुम कौन हो ? लक्ष्मण जी कहते हैं, '**दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः**' अर्थात् मैं तुम्हारा दास लक्ष्मण हूँ। तब राम जी पूछते हैं कि हम दोनों यहाँ जंगल में क्या कर रहे हैं ? तब लक्ष्मण जी कहते हैं, '**देव्या गतिर्मृग्यते**' हम देवी जी को ढूँढ़ते है। तब राम जी पूछते हैं, कौन सी देवी जी ? तब लक्ष्मण जी कहते हैं '**जनकाधिराजतनया**' जानकी जी को ढूंढ़ रहे हैं। तब राम जी, '**हा जानकी क्वासि हा**' कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं। जरा आप लोग सोचें, इस प्रकार का बहिरंग व्यवहार आज भी कोई पुरुष करता हुआ दिखाई पड़े तो उसे हम अच्छा आदमी भी न कहेंगे, भगवान् या महापुरुष मानना तो बहुत दूर की बात है। हम तो उसे अपने से भी अत्यन्त निम्न कक्षा का ही मानेंगे एवं उसकी बुराई ही करेंगे, तब प्यार कैसे होगा ? और बिना प्यार के अग्निस्वरूप भगवान् का लाभ कैसे मिलेगा ? पुनः रामायण के अनुसार—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम देखी सीता मृगनैनी।
येहि विधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

अर्थात् भगवान् राम सीता के वियोग में रोते हुए वृक्षों से, लताओं से पूछते हैं कि मेरी सीता कहाँ है। जरा सोचिये, आज भी ऐसा कोई स्त्री-प्रेमी न होगा जो स्त्री-प्रेम में इतना विदेह हो जाय कि उसे यह भी भान न हो सके कि यह वृक्ष भला क्या पता बता सकेगा, किसी आदमी से पूछें। आज भी अनेक पुरुषों की स्त्रियाँ एवं माताओं के बच्चे खो जाया करते हैं, भाग जाया करते हैं किन्तु कोई भी ऐसा उदाहरण आप नहीं बता सकते, जो समाधिस्थ हो जाय अर्थात् वृक्षादि से उसका पता पूछे। अब आप समझ गये होंगे कि अवतार-काल में तो बड़े-बड़े बुद्धिमानों के भी दिमाग भ्रष्ट हो जाते हैं।

राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥

अतएव अवतार–काल में उनसे अनुराग हो जायगा, यह सोचना ही भ्रम है।

अस्तु, अब तीसरे सिद्धान्त पर विचार करना है। वह यह कि प्राकृत पदार्थों में ईश्वरीय भावना करने पर भी ईश्वरीय लाभ ही मिलता है। आप कहेंगे, यह तो हम नहीं मान सकते, क्योंकि जैसे एक व्यक्ति गोबर का लड्डू खाय और भावना रसगुल्ले की रखे तो उस भावना का फल थोड़े ही मिलेगा, अपितु गोबर का ही फल मिलेगा। अथवा, जैसे कोई दूध में मिले हुए जहर को न जाने एवं दूध की ही भावना से दूध पिये तो वह मरेगा ही, भावना दूध की रहा करे। इसी प्रकार यदि पत्थर–लक्कड़ में कोई ईश्वरीय भावना कर भी ले, या मन ही प्राकृत रूपध्यान बना ले और उसमें ईश्वरीय भावना कर ले तो भावना का फल उसे कैसे मिल जायगा, जबकि वस्तु का ही फल मिलना अनुभव–सिद्ध है ?

इसी प्रकरण में मूर्तिपूजा का भी रहस्य समझ लीजिये। देखिये, एक प्राकृत जड़ पदार्थ होता है, एक चैतन्य होता है, दोनों प्रकृति के आधीन हैं। जैसे, गोबर के लड्डू में रसगुल्ले की भावना की। इस उदाहरण में गोबर का लड्डू जड़ है एवं जिस रसगुल्ले की भावना की, वह भी जड़ है। अतएव जड़ वस्तु की भावना करने से भावना का फल नहीं मिला, जड़ वस्तु का ही फल मिला।

अब देखिये, जड़ वस्तु में चैतन्य की भावना का फल क्या होता है। जैसे, मैंने एक जड़ चित्रादि में चैतन्य किसी पुरुष की भावना की तो यहाँ भी वस्तु का ही फल मिला, पुरुष की भावना का नहीं मिला। यद्यपि किसी अंश में मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त से चैतन्य पुरुष की भावना का फल मिलता है, किन्तु हमें उससे कोई अभिप्राय नहीं है।

अब देखिये, किसी जड़ या चैतन्य वस्तु में ईश्वरीय भावना का फल क्या होता है। जैसे, जड़ पत्थर में ईश्वरीय भावना से ईश्वरीय लाभ होता है। आप कहेंगे, भावना से क्या मतलब ? जैसे पूर्व के उदाहरणों में वस्तु का फल मिला था, ऐसे ही इसमें भी मिलेगा। किन्तु ऐसी बात नहीं है क्योंकि, प्रथम तो ईश्वर सर्वव्यापक है, जब कि जड़ गोबर का लड्डू या चैतन्य पुरुष सर्वव्यापक नहीं है। अतएव सर्वव्यापक वस्तु का फल मिलेगा। यदि आप कहें कि तब तो कोई भी व्यक्ति दूध में व्याप्त विष में भी व्याप्त ईश्वर का अनुभव कर सकता है, किन्तु अनुभव में तो मृत्यु को ही प्राप्त होते हैं, व्यापक ईश्वर का लाभ कहाँ होता है ? हाँ, इसमें एक रहस्य है, वह यह कि दूध में व्याप्त विष में व्याप्त ईश्वर का लाभ सब को नहीं हो सकता। जिनकी ईश्वर में दृढ़ निष्ठा होती है, उसी को ईश्वरीय लाभ हो सकता है। जैसे मीरा ने ऐसा विष पिया, जिसमें व्याप्त ईश्वर था, अतएव मीरा मृत्यु को नहीं प्राप्त हुई। बिना निष्ठा के यानी बिना मन के ठीक अनुराग के पीने वाले की रक्षा भगवान् नहीं करते। अग्नि में व्याप्त ईश्वर का लाभ उसी को मिलेगा जो ईश्वर में मन को एक कर चुका है, जैसे प्रह्लाद आदि। अब आप समझ गये होंगे कि जड़-चेतन से ईश्वर विलक्षण है, क्योंकि सर्वव्यापक है। किन्तु यह ध्यान रहे कि उस व्यापक ईश्वर का लाभ पाने के लिये ईश्वर में मन को एक करना होगा। दूसरी साइंस और समझिये।

यदि ईश्वर न भी व्यापक हो तो भी वह सर्वान्तर्यामी है, अतएव हमारे प्राकृत विचारों को भी जानता है कि यद्यपि मैं दिव्य भाव नहीं बना सकता, किन्तु संकल्प तो दिव्य का ही है। अतएव वह अपने नियम एवं स्वभाव के अनुसार दिव्य लाभ ही देता है। प्राकृत जड़ या चेतन सर्वान्तर्यामी नहीं है।

यों समझिये कि हमने लड्डू को पुकारा, वह नहीं आया। आप कहेंगे, हाँ, नहीं आया। आप जानते हैं क्यों ? इसलिये कि वह जड़ है, उसके इन्द्रिय,

मन, बुद्धि चैतन्य नहीं हैं। किन्तु यदि मैंने किसी चैतन्य पुरुष को पुकारा तो वह आ गया। वह इसलिये आ गया कि उसके इन्द्रिय, मन, बुद्धि चैतन्य हैं। यदि वह चैतन्य भी मेरी आवाज न सुन सके अर्थात् वह कहीं दूर हो या न आना चाहे, तब वह नहीं आ सकेगा। परन्तु ईश्वर दूर नहीं है, वह सर्वव्यापक है, साथ ही वह सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी भी है। वह तो हमारे प्रत्येक संकल्प को नोट करता है। अतएव ईश्वर को पुकारने पर वह अपने नियम एवं स्वभाव के कारण आ जाता है।

अब आप समझ गये होंगे कि प्राकृत पदार्थ में भी ईश्वरीय भावना से मन लगा देने से आप अपने ईश्वरीय लक्ष्य को ही प्राप्त करेंगे। और इसी सिद्धान्त से सदा अनन्तानन्त जीवों ने रूपध्यान द्वारा ईश्वर-प्राप्ति की है एवं कर रहे हैं। यह ईश्वरीय नियम है कि भगवान् उस प्राकृत रूपध्यान में ईश्वरीय भावना होने के कारण अपनी कृपा से ईश्वरीय फल ही प्रदान करते हैं, अन्यथा तो कोई भी जीव कभी ईश्वर-प्राप्ति ही न कर सके।

अब यदि आप चाहें तो चौथा सिद्धान्त और समझ लें, यद्यपि वह आपके काम का नहीं है। प्राकृत जगत्, जड़ या चैतन्य, में प्राकृत जड़ या चैतन्य की भावना से मन को एक कर देने में मायिक लाभ अर्थात् दु:ख की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह कि रसगुल्ले में रसगुल्ले की भावना से प्यार करने से हमें रसगुल्ले का ही फल मिलता है। स्त्री, पति, पुत्रादि में भी इसी प्रकार तत्तद्भाव करके मन लगाने से उन्हीं की प्राप्ति होती है।

अतएव हमें संसारी किसी जड़ चेतन पदार्थ में ईश्वरीय भावना करने से ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है, यह सर्वथा निर्विवाद सिद्ध हुआ। किन्तु, एक बात प्रमुख रूप से विचारणीय है कि यह प्राकृत जगत् है। जड़ पदार्थ में तो ईश्वरीय भावना स्थिर रह सकती है, ऐसा करना सुगम है, किन्तु चैतन्य पुरुष,

स्त्री आदि में ईश्वरीय भावना स्थिर रखना अत्यन्त कठिन है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको सदा ईश्वर माने, यह इसलिये कठिन है क्योंकि उस व्यक्ति में दोष दीख रहे हैं। गुरु के ध्यान से ईश्वरीय लाभ मिल सकता है। अनेक आस्तिक मतावलम्बी गुरु का ही रूपध्यान करते हैं। किन्तु यदि गुरु में दिन में दस बार संसारी भाव आ जाय तो वह उपासना दस बार बिगड़ गयी। अतएव गुरु की उपासना भी वही सही है जो गुरु में सदा दिव्य भाव बनाये रहे। पुनः संसारी व्यक्तियों में तो ईश्वरीय भाव रखना असम्भव-सा ही है, अतएव जड़ पदार्थ में ही ईश्वरीय भावना द्वारा उपासना करने की मूर्ति-पूजा वाली प्रणाली विश्व में अधिक प्रचलित है।

अतएव आपका बनाया हुआ प्राकृत रूपध्यान सर्वान्तर्यामी ईश्वर के द्वारा दिव्य फल ही प्रदान करेगा। यदि आप चाहें तो रूपध्यान की सहायता के लिये मूर्ति आदि की सहायता ले सकते हैं, यदि न चाहें तो मन से ही रूपध्यान बना सकते हैं। किन्तु रूपध्यान बिना बनाये साधना करना वस्तुतः परिश्रममात्र ही है। रूपध्यान में सबसे बड़ी एक बात तो यह है कि मन को टिकने का स्थान मिल जाता है और सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् में मन का लगाव होने के कारण ईश्वरीय लाभ भी प्राप्त हो जाता है अर्थात् एक तो संसार से मन हट जायगा, दूसरे ईश्वरीय लाभ भी मिल जायगा।

कुछ लोग ईश्वर में मन न लगाकर बिन्दु आदि में मन को केन्द्रित करते हुए मन का वशीकरण करते हैं, किन्तु इसमें दो हानियाँ हैं। एक तो यह कि मन बिना दिव्य रस पाये सदा के लिए एकाग्र नहीं हो सकता। दूसरे, अनन्तानन्त जन्मों के संस्कार एवं अविद्या के नाश हुए बिना वह क्षणभंगुर एकाग्रता पुनः संसार में वापस पहुँचा देती है। अतएव ईश्वर में ही मन केन्द्रित करना चाहिए, जिससे संसार से भी छुट्टी मिले एवं सदा के लिये छुट्टी मिले तथा ईश्वरीय दिव्य लाभ भी सदा के लिये हो जाय।

पुनः एक बात और भी है, वह यह कि किसी बिन्दु आदि में मन लगाने में कठिनाई भी है, किन्तु ईश्वर सम्बन्धी दिव्य परमाकर्षक रूप-गुण-लीलादि में मन लगाना स्वभावतः सुगम है।

अतएव हमें भक्ति करते समय भगवान् का रूपध्यान अवश्य करना है। रूपध्यान में प्रकृति से परे का दिव्य भाव मानना एवं वह रूपध्यान सदा करने का अभ्यास करना है अर्थात् रूपध्यान द्वारा यह सदा महसूस करना है कि हमारे सर्वस्व सदा सर्वत्र हमारे साथ हैं एवं हमारे हैं तथा हमारे रक्षक हैं।

प्रायः ऐसा होता है कि जो रूपध्यान करते भी है, वे साधना करते समय तो कुछ काल यह महसूस करते हैं कि भगवान् मेरे सामने या मेरे अन्तःकरण में विद्यमान हैं, किन्तु पश्चात् बिल्कुल भूल जाते हैं और उनका अनुभव ही नहीं करते। यह साधना ठीक नहीं, क्योंकि यदि हमने 10 रुपया कमा भी लिया तो कोई लाभ नहीं जब उसे हमने दस मिनट बाद ही गवाँ भी दिया। हम अपने इष्टेदव को सदा-सर्वदा अपनी भाँति ही अपने साथ महसूस करें। अब, रूपध्यान किस अवतार का करें, यह सोचना है।

संसार में प्रायः राम, कृष्ण दो ही अवतारों के अनुयायी अधिक होते हैं, जिसका प्रमुख कारण यह नहीं है कि ये दो अवतार बड़े-बड़े हैं। बड़े-छोटे का प्रश्न ही गलत है। वरन् यह कारण है कि राम, कृष्ण इन दोनों अवतारों में लीलाएं अधिक हुई हैं, जिन लीलाओं से साधकों का मन शीघ्र ही ईश्वर में लग जाता है। मन लगाने के दृष्टिकोण से ही इन दोनों अवतारों को विशेष महत्त्व दिया गया है। वस्तुतस्तु किसी अवतार में भी कमी-बेशी नहीं है। देखिये, आपने केवल चीनी की मिठाइयाँ देखी होंगी। बच्चों के लिये दीपावली आदि के अवसर पर केवल चीनी के खिलौने बनाये जाते हैं, यथा-चीनी का घोड़ा, चीनी का हाथी, चीनी का साहब, चीनी की मेम इत्यादि। बच्चे भोलेपन के कारण अवश्य झगड़ते हैं 'हम तो साहब लेंगे', दूसरा कहता है

'हम घोड़ा लेंगे', किन्तु माता-पिता यह जानते हैं कि चाहे साहब खाओ, चाहे घोड़ा खाओ, सब में मिठास बराबर ही है, यह तो आकृति मात्र का भेद है। इसी प्रकार चाहे जिस अवतार से प्यार करो, सब में अनन्त शक्तियाँ, अनन्त गुण एवं दिव्यता आदि सब बराबर ही बराबर हैं।

यदि कोई कहे कि आप तो भगवान् के दस या चौबीस अवतार ही बताते हैं, हमें पच्चीसवाँ स्वरूप पसन्द है तो हम क्या करें, तो वे लोग ध्यान दें कि भगवान् के अवतार तो प्रतिक्षण अनन्त-अनन्त हो रहे हैं क्योंकि अनन्त ब्रह्मांड हैं। अतएव वेदव्यास जी कहते हैं कि—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।

(भाग. 1-3-26)

अर्थात् अवतार असंख्य हो चुके हैं, आप जो भी स्वरूप चाहें, मान लें, इतना ही नहीं, यदि कोई स्वरूप ऐसा भी हो सके जिस स्वरूप का अवतार कभी न हुआ हो, आप उसे भी मान सकते हैं एवं उन्हें उसी रूप में आना होगा। भगवान् को भला क्या परिश्रम है रूप धारण करने में। अतएव आप स्वेच्छा से रूप का निर्माण कर सकते हैं। इसी प्रकार स्वेच्छा से रंग आदि भी बना सकते हैं। ईश्वर इतना दयालु है कि उसने ऐसा कोई कड़ा नियम नहीं बनाया या ऐसी कोई पाबन्दी नहीं लगायी, जिससे किसी जीव को आपत्ति हो। इसी से उसे **'अनन्तनामरूपाय'** अर्थात् अनन्त नाम, रूप वाला कहा जाता है। उस अनन्त शक्तिमान् को सीमा में बाँधना अपनी ही नासमझी है। अतएव सभी बातों में आपकी स्वेच्छा रखी गयी है।

यहाँ तक कि उसके नामों में भी सीमा नहीं रखी गयी है। आप जिस भाषा या देश के हों, अपनी इच्छानुसार नाम रख लें। उसे कोई आपत्ति नहीं। यह भी नहीं है कि कोई नाम छोटा है या कोई बड़ा है; ऐसा सोचना ही अक्षम्य

नामापराध है। देखो, भगवान् श्रीकृष्ण को सखा लोग कन्हैया कहा करते थे। मैया यशोदा कृष्ण-बलराम को कनुआं, बलुआ अथवा लाला ही कहा करती थीं। कहाँ तक कहें, गोपियाँ तो चोर-जार शब्द से ही पुकारती थीं, जिसे सुनने के लिये श्यामसुन्दर व्याकुल रहा करते थे। द्वारिका में 'रणछोर' नाम अधिक प्रिय माना जाता है, जिसका अर्थ है, लड़ाई के मैदान को छोड़कर भागने वाला। भगवान् श्रीकृष्ण जरासंध के भय से भाग कर द्वारिका गये थे। अतएव भक्तों ने उनका नाम रणछोर रख दिया। और इन लीला के नामों में भक्त एवं भगवान् दोनों को रस मिलता है, बशर्ते कि अन्तरंग प्यार हो। प्यार न होने पर तो सारे नाम-रूप व्यर्थ ही से हैं। अतएव नामों में भी शंका न होनी चाहिये कि कौन सा नाम श्रेष्ठ है या किस नाम से नामी शीघ्र मिलेंगे। वस्तुतस्तु भगवान् के वास्तविक भगवत्ता के नामों, रूपों या कार्यों से किसी भक्त को प्यार नहीं होता। अर्जुन ने विराट रूप देखकर तुरन्त हाथ जोड़ दिये। नाम-रूप तो असामर्थ्य के ही मधुर होते हैं, क्योंकि उसमें यह सोचने का अवसर मिलता है कि देखो भगवान् कितने दयालु हैं, कितने भक्तवत्सल हैं कि एक बेपढ़ी-लिखी गँवारिन ग्वालिन उन्हें चोर-जार शब्द से पुकारती हुई दुत्कार रही है और वे उसके प्यार में विभोर होकर उसकी दुत्कार पर बलिहार जा रहे हैं। अतएव नामों का झगड़ा भी कुछ नहीं रहा।

इसी प्रकार लीलाओं के विषय में भी सोच लीजिए। जितनी लीलाएं राम-कृष्णादि की ग्रन्थों में लिखी हैं, ये तो समुद्र के अपार जल की एक बूँद के बराबर भी नहीं हैं। भगवान् राम-कृष्ण की लीलाएं तो अनादिकाल से प्रतिक्षण हो रही हैं एवं नित्य नई-नई लीलायें हो रही हैं, उन्हें सीमा में बाँधना भोलापन है। '**हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता**' अर्थात् अवतार एवं लीलाएं अनन्त हैं। '**रामायण शतकोटि अपारा**' का भी यही अभिप्राय है। यदि कोई

चाहे कि हम राम–कृष्णादि या किसी अवतार से नई–नई लीलाएं करायेंगे जो पहले नहीं हुई, तो यद्यपि यह सोचना भोलापन है कि पहले नहीं हुई, अनन्तकाल की सीमा में तुम्हारी ऐसी कौन सी काल्पनिक लीला है जो नहीं की गयी, फिर भी तुम जैसी लीला चाहो मान लो, यदि नहीं भी की होगी तो उनके लिये करना क्या कठिन है। सारांश में यह समझ लेना चाहिए कि वे तुम्हारी भक्ति के वश में सब कुछ कर सकते हैं। हाँ, यदि कोरी कल्पनामात्र ही होगी, भाव न होगा तो लीला करने, न करने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

इसी प्रकार उनमें समस्त गुणों का समावेश है एवं वे गुण अनन्तसीमा के हैं। तुम्हें जो गुण प्रिय हों, तुम उन्हीं का अवलंब ले लो। यह आवश्यक नहीं है कि अमुक गुण ही ग्रहण करो। किसी भक्त को संस्कारवश कोई गुण प्रिय लगता है, किसी को कोई गुण प्रिय लगता है, उनमें भेद–भाव न रखना चाहिये, किन्तु स्वयं जो प्रिय लगे, स्वीकार कर लेना चाहिए।

इसी प्रकार उनके समस्त धाम भी परस्पर एक ही हैं। जो धाम आपको प्रिय हो, उसे स्वीकार कर लीजिये। यहाँ तक कि वे नरक में भी मिल सकते हैं। ऐसी कोई जगह नहीं जो उनका धाम न हो, किन्तु यह ध्यान रहे कि रूप की भाँति नाम, गुण, लीला, धामादि में भी दिव्य चिन्मय भाव बना रहे। रामायण के अनुसार—

'प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।'

अर्थात् भगवान् समान रूप से सर्वत्र रहते हैं, और यदि कोई असमान यानी विशेष रूप से साकार–रूप में चाहे तो भी सर्वत्र रह सकते हैं। फिर भी जिस धाम से विशेष प्यार हो उसको अपना लेना चाहिये। भेद–भाव न रखना चाहिये।

इसी प्रकार उनके भक्तों में भी समझ लेना चाहिये कि उनके सभी भक्त एक से हैं। हमें जिस भक्त के द्वारा विशेष लाभ हो, उसको अपना लेना चाहिये, अन्य में दुर्भावना न रखनी चाहिये।

यह प्रमुख स्मरणीय है कि भगवान् के अनन्त नाम, अनन्त रूप, अनन्त गुण, अनन्त लीलाएं, अनन्त धाम एवं अनन्त जन हैं, जो परस्पर सब के सब एक ही हैं। सब में सब रहते हैं। अतएव किसी एक के अवलम्ब से भी ईश्वरप्राप्ति हो सकती है। उनमें परस्पर भेद-भाव रखना नामापराध है। हाँ, स्वयं की रुचि जहाँ पर हो उसका सेवन कर लें। बस, इससे अधिक बुद्धि का प्रयोग न करें।

प्राय: विश्व में ऐसा होता है कि एक नाम-रूप-गुणादि के उपासक अन्य नाम-रूपादिकों के उपासक की निन्दा करते हैं। यह महत्तम भूल है। यदि आप कहें कि पुराणादिकों में विरोध सा दीखता है, पर ध्यान रहे कि वह विरोध परिहासयुक्त रसिकता की शैली मात्र है, एवं अपने इष्ट में विशेष निष्ठा-जनक मात्र है, वास्तविक निन्दा नहीं है। शास्त्र कहते हैं कि—

न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुम्

अर्थात् निन्दा का अभिप्राय केवल अपने पक्ष की स्तुति में ही है। एक बार सूरदास ने तुलसीदास से रसिकों की अटपटी शैली में कहा कि राम तो 12 कला के अवतार हैं, किन्तु श्रीकृष्ण 16 कला के अवतार हैं, तो फिर तुम रामोपासना क्यों करते हो ? तुलसीदास जी महाराज सही उत्तर दे सकते थे। किन्तु उन्होंने कहा, मैं तो अभी तक यही जानता था कि राम एक राजकुमार मात्र हैं, अब आज से यह ज्ञान हो जाने पर कि वे 12 कला के अवतार भी हैं, मेरी भक्ति और बढ़ गयी।

यह रसिकों की एक अनोखी शैली है जिसमें अन्तरंग एकत्व होते हुए विनोद मात्र करते हैं, जैसे आप लोक में करते हैं। यथा, एक स्त्री के पति ने पास में बैठे हुए कुत्ते को देखकर विनोद में स्त्री को संकेत करते हुए कुत्ते से कहा- 'यह साला रोज यहाँ आकर बैठता है।' बस, भोली-भाली स्त्री क्रुद्ध हो गयी कि तुम तो हमारे भाई की बुराई ही करते रहते हो, उसे कुत्ता कह रहे हो। पति को उसके क्रोध पर आनन्द-सा आ गया। अगर स्त्री भी विदुषी होती तो सीधा सा उत्तर विनोद में दे देती कि आखिर साला जीजा के पास न बैठे तो कहाँ बैठे।

हमारे शास्त्रों में अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, पूर्णावतार आदि अवतारों के भेद पढ़ने-सुनने में आते हैं। उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जिस अवतार में जितनी शक्तियों के प्राकट्य की आवश्यकता होती है, उतनी ही शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। उन प्रकट शक्तियों को देखकर दर्शकगण अनुमान लगाते हैं, यह अवतार अंशावतार आदि है। वस्तुतः सिद्धान्त वही है। एक प्रोफेसर अपने बच्चे को ए, बी. सी. डी पढ़ाता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि बस उसकी योग्यता उतनी ही है। उसकी योग्यता तो आवश्यकतानुसार पृथक्-पृथक् दीखती है। वह बच्चे से तोतली भाषा में बोलेगा, स्त्री से मातृभाषा में बोलेगा, नौकर से थोड़ी योग्यता लगाकर बोलेगा, किन्तु युनिवर्सिटी में लेक्चर देगा तब विशेष योग्यता का प्रदर्शन करेगा। बस, यही बात अवतारों के शक्ति-प्राकट्य में भी है।

अस्तु, सिद्धान्ततः सभी अवतार शाश्वत हैं, दिव्य हैं एवं पूर्ण हैं तथापि साधक के लिये किस अवतार का रूपध्यान अधिक उपयुक्त होगा, यह विचारणीय है। यह तो आप सब का अनुभव है ही कि मन केवल रूप ही नहीं चाहता, वह सुन्दर एवं आकर्षक रूप चाहता है। अस्तु, इस दृष्टिकोण से विचार करने पर राम एवं कृष्ण दो ही स्वरूपों का ध्यान सर्वसुगम हो सकता

है। यदि कोई वाराहावतार का ध्यान करने चले तो उसे प्राकृत शूकर का ही ध्यान होगा, जो मन को प्रिय नहीं लगेगा।

राम और कृष्ण इन दो अवतारों में भी विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण का अवतार ही मधुरतम अवतार है तथा लीलाएं भी इसी अवतार में सर्वाधिक हुई हैं। प्रारम्भ में साधक का मन केवल स्वरूप के ध्यान में तो स्थिर होता नहीं, उसे मन को भगवद्विषय में लगाने के लिये लीलाओं का भी सहारा लेना पड़ता है और श्रीकृष्ण की लीलाएं इतनी मधुर हैं कि साधक का मन बरबस इन लीलाओं में आकृष्ट हो जाता है। अस्तु, कृष्ण-लीला-ध्यान उसके लिए सुगम पड़ता है। कृष्णावतार में पाँचों भावों (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य) की लीलाएं हुई हैं, साधक अपनी रुचि के अनुसार जिस भी लीला का चिन्तन करना चाहे, कर सकता है। इस प्रकार साधना करने में भी सुगमता है।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि राम और कृष्ण एक ही हैं, किन्तु फिर भी कृष्णावतार में लीला-रस का मधुरतम स्वरूप प्रकट हुआ, जो रामावतार में प्रच्छन्न था। यही कारण है कि रामावतार के भगवत्प्राप्त संत भी कृष्णावतार में उस मधुर रस की अनुभूति के हेतु पुनः गोपी बनकर आये।

अस्तु, मधुरतम माधुर्यरसानुभूति के हेतु तथा साधना में सुगमता के दृष्टिकोण से भी अनन्तसौन्दर्यमाधुर्य रस सिन्धु, प्रणतचितचोर, रसिकसिरमौर, ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द का रूपध्यान ही उपयुक्त है।

वे ही पूर्णतम पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण लीला-क्षेत्र में राधा-कृष्ण बन जाते हैं। उपनिषद् कहता है,

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाऽभूत्।

(राधिकातापनीयोपनिषद्)

अर्थात् राधा-कृष्ण दोनों एक ही हैं, किन्तु लीला के हेतु वे दो रूप धारण कर लिये हैं। लीला नित्य है, अस्तु राधा-कृष्ण का स्वरूप भी नित्य है। वेदव्यास की उक्ति के अनुसार—

'आत्मा तु राधिका तस्य'

अर्थात् राधिका जी श्रीकृष्ण की आत्मा हैं, तथा उपनिषद् भी राधिका जी को '**हरेः सर्वेश्वरी**' '**कृष्ण-प्राणाधिदेवी**' अर्थात् श्रीकृष्ण की स्वामिनी, श्रीकृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री देवी आदि कहता है।

अतः अब साधक चाहे वृषभानुनन्दिनी राधिका जी तथा नन्दनन्दन श्यामसुन्दर इन दोनों का ध्यान एक साथ करे अथवा इन दोनों में से किसी भी एक का ध्यान करे। जब जैसा चाहे, अपनी इच्छा एवं रुचि के अनुसार कर सकता है।

अस्तु, कुछ समय का नियम बनाकर प्रतिदिन श्यामसुन्दर का स्मरण करते हुए रोकर उनके नाम-गुण-लीलादि का संकीर्तन एवं स्मरण करो, यह कर्मसंन्यास की साधना है, एवं शेष समय में संसार का सम्पूर्ण आवश्यक कार्य करते हुए बार-बार यह महसूस करो कि श्यामसुन्दर हमारे प्रत्येक कार्य को देख रहे हैं और उन्हें आप दिखा-दिखाकर कर्म कर रहे हैं। इस प्रकार कर्म भी न्यायपूर्ण होगा एवं थकावट भी न होगी तथा अभ्यास परिपक्व होगा। एक बार करके देखिये। बस इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है।

इस प्रकार जब रोकर आँसू बहाये जायेंगे, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा, तब गुरु ईश्वरीय नियमानुसार दिव्य-प्रेमदान करेगा, तब ईश्वर-प्राप्ति होगी एवं तुम्हारा परम चरम लक्ष्य प्राप्त होगा।

किन्तु, यह सब होते हुए भी एक बात सबसे अधिक विचारणीय है, वह है कुसंग से बचना। अन्यथा, जैसे एक सूरदास रस्सी बट रहा है; 50 फुट रस्सी बटने के पश्चात् जब पीछे की ओर देखा तो रस्सी एक ही फुट मिली, सब रस्सी भैंस खा गई, वैसी ही स्थिति होगी।

दिव्यादेश

प्रत्येक व्यक्ति, पूर्णतम पुरुषोत्तम ब्रह्म-श्रीकृष्ण का नित्यदास है। अतः श्रीकृष्ण-सुखैक तात्पर्यमयी सेवा ही प्रत्येक प्राणी का एकमात्र लक्ष्य है।

वह नित्य निष्काम सेवा, श्रीकृष्ण के दिव्य-प्रेम प्राप्त होने पर ही मिलेगी। वह दिव्य-प्रेम, किसी श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ रसिक गुरु की कृपा से ही मिलेगा। वह रसिक गुरुकृपा, अंतःकरण की शुद्धि हो जाने पर ही प्राप्त होगी। वह अंतःकरण शुद्धि, गुरु निर्दिष्ट साधना करने से ही होगी।

अतएव गुरु-शरणागति में, गुरु निर्दिष्ट साधना द्वारा अंतःकरण शुद्ध करना सर्वप्रथम परमावश्यक है।

साधना

श्रीराधाकृष्ण का रूप ध्यान करते हुये, उनके दिव्य प्रेम एवं दिव्य दर्शन की लालसा से रोकर, उनका नाम-गुण-लीलादि संकीर्तन करना है। रूप ध्यान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। रूपध्यान, मन से बनाना सर्वश्रेष्ठ है। फिर भी स्वेच्छानुसार मूर्ति अथवा चित्रादि का अवलंब लिया जा सकता है। इस रूप में दिव्य भावना रखनी है, क्योंकि उनका देह चिदानंदमय दिव्य है।

रूपध्यान, नव जात शिशु से लेकर वृद्धावस्था की आयु तक का करना है। उस रूप का शृंगार आदि स्वेच्छापूर्वक नित्य नया नया करते रहना है।

रूपध्यान के साथ साथ, उनकी अनेक मनभायी लीलाओं का भी ध्यान करना है। तथा उनके दीनबंधुत्व, पतितपावनत्वादि गुण भी सोचना है।

श्रीकृष्ण, उनके नाम, उनके गुण, उनकी लीला, उनके धाम, उनके संतजनों में पूर्ण अभेद मानना है। ये सब श्रीकृष्ण ही हैं। मोक्ष पर्यंत की कामना एवं अपने सुख की कामना का पूर्ण त्याग करना है। इष्टदेव एवं गुरु को सदा सर्वत्र अपने साथ निरीक्षक एवं संरक्षक के रूप में मानना है। कभी भी स्वयं को अकेला नहीं मानना है।

खाली समय में यत्र तत्र सर्वत्र श्वास से राधे श्याम, नाम का जप करते रहना है। परदोष दर्शन, परनिंदा, (भले ही सही निंदा हो) लोकरंजन, कामना, आलस्य, विषयी जनों का संग आदि कुसंग से बचना है।

श्रीकृष्ण, उनके नाम, गुण, धाम, एवं भक्तों के प्रति अक्षम्य नामापराध से बचना है। वे ही मेरे सर्वस्व हैं, यही भावना दृढ़ करना है।

निवेदक: - कृपालु:

कुसंग का स्वरूप

संसार में सत्य एवं असत्य केवल दो ही तत्त्व हैं , जिनके संग को ही सत्संग एवं कुसंग कहते हैं। सत्य पदार्थ हरि एवं हरिजन ही हैं,यह हमने पूर्व में ही समझा दिया है। अतएव केवल हरि, हरिजन का मन-बुद्धि-युक्त सर्वभाव से संग करना ही सत्संग है तथा उसके विपरीत यावन्मात्र अवशिष्ट विषय हैं, सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से युक्त होने के कारण मायिक हैं, अतएव असत्य हैं। तात्पर्य यह है कि जिस किसी भी संग के द्वारा हमारा भगवद्विषय में मनबुद्धि-युक्त लगाव हो वही सत्संग है। इसके अतिरिक्त समस्त विषय कुसंग हैं। यह कुसंग कई प्रकार का होता है। कुसंग में पड़ जाने पर स्वयं मन-बुद्धि का भी तदनुकूल ही निर्णय हो जाता है, जिससे साधक स्वयं अपनी बुद्धि से यह निर्णय नहीं कर पाता कि मैं कुसंग में पड़ गया हूँ। जिस प्रकार शराब के नशे की मात्रानुसार ही बुद्धि भी नशे से युक्त हो जाती है, उसी प्रकार कुसंग की मात्रानुसार ही बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। एक शराबी नशे में धुत्त, नाली में पड़ा हुआ हो एवं उससे कोई पूछे कि तुम यहाँ कैसे पड़े हो, अपनी कोठी पर क्यों नहीं जाते ? तो वह नशे में चूर शराबी कहता है,'अरे यार! मैं अपनी ही कोठी में तो हूँ। ' अब तुम सोचो कि क्या वह शराबी बनकर बात कर रहा है ? अर्थात् क्या वह बातें बना रहा है ? नहीं नहीं, उसने तो शराब के नशे में ही विभोर, अपनी पूरी बुद्धि की शक्ति लगा दी है, किन्तु जब बुद्धि नष्ट हो चुकी है, तब वह बेचारा करे ही क्या ? ठीक

इसी प्रकार हम जब तीनों गुणों रूपी कुसंगों के चक्कर में पड़ जाते हैं, तब हमारी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है; उस नष्ट बुद्धि से यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वास्तव में ही हम कुसंग कर रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि जीव में जब तक देहाभिमान है,तब तक वह आसानी के साथ स्वयं अपने आपको कभी भी गिरा हुआ नहीं मानता। अतएव, नित्य होश में रहने वाले एक महापुरुष की आवश्यकता होती है जो उस बेहोश साधक की त्रुटियों को बता-बता कर उसे होश में लाता रहता है अन्यथा जीव तो सदा ही अपने आपको अच्छा समझता है। वह भले ही पराकाष्ठा का मूर्ख क्यों न हो, उसे यह कथन बिल्कुल ही प्रिय नहीं है कि 'तुम मूर्ख हो।'

तात्पर्य यह है कि तीनों गुणों से अभियुक्त बुद्धि प्रतिक्षण स्वतः परिवर्तनशील है, उसका नियामक गुणातीत महापुरुष अवश्य होना चाहिये।

कुसंग का बीज प्रत्येक देहाभिमानी जीव के अन्तःकरण में नित्य निहित रहता है एवं वह अपने अनुकूल बाह्य गुणविषय को पाकर अत्यन्त बढ़ जाता है। तुम अनुभव करते होंगे, दिन में कई बार ऐसा होता है कि तुमको जैसा भी वातावरण मिलता है, वैसी ही तुम्हारी मनोवृत्तियाँ भी बदलती जाती हैं। कभी तो यह विचार होता है कि 'अरे! पता नहीं कब टिकट कट जाय, शीघ्र से शीघ्र कुछ साधना कर लेनी चाहिये। संसार तो अपने आप छोड़ देगा नहीं। फिर संसार ने पकड़ भी तो नहीं रखा है, मैं स्वयं ही जा-जाकर उसमें (संसार में) पिस रहा हूँ।' कभी यह विचार उत्पन्न होता है, 'अरे! कर लेंगे, जल्दी क्या है, समय बहुत पड़ा है, ऐसी भी क्या जल्दी है। फिर अभी अमुक-अमुक संसार का काम (ड्यूटी) भी तो करना है। रात तक कर लेंगे, कल कर लेंगे,' इत्यादि । कभी-कभी यह विचार पैदा होता है, 'अरे! यार

खाओ, पियो, मौज उड़ाओ, चार दिन की जिन्दगी है, आगे किसने देखा है क्या होगा, भगवान् वगवान् तो बिगड़े हुए दिमाग की उपज है।' पता नहीं वह मौज उड़ाने का क्या अर्थ समझता है। अरे मौज ही तो महापुरुष भी चाहता है।

अस्तु , यह सब अन्तरंग गुण-वृत्तियों का दैनिक परिवर्तनशील अनुभव है, जिसे तुम भली-भाँति समझते होंगे। अब यह देखो कि उपर्युक्त रीति से अपनी ही मनोवृत्तियाँ कैसे बदल जाती हैं। किसी क्षण में मान लो कि तुम्हारी मनोवृत्ति यह हुई कि मैं चलूँ कुछ साधना कर लूँ। इतने में ही रजोगुण या तमोगुण आदि का वातावरण विशेष मिल गया, अर्थात् स्त्री, पुत्रादि का आसक्ति-वर्धक कुछ विषय मिल गया, तो, हमारी मनोवृत्ति उन गुणों के वातावरण को पाकर फिर बदल गयी एवं हम तत्क्षण साधना से च्युत हो गये। यह सब अन्तरंग त्रिगुण एवं बहिरंग सामग्री की महिमा है।

अब सोचो, जब अन्दर भी त्रिगुणयुक्त मनोवृत्तियों का कुसंग भरा है, तथा बाहर भी निन्यानवे प्रतिशत कुसंग के ही वातावरण विशेष मिलते हैं, साथ ही अनन्तानन्त जन्मों से कुसंग का अभ्यास भी पड़ा हुआ है, तब फिर भला जीव का कल्याण कैसे हो ? तुलसी के शब्दों में क्या ही सुन्दर चित्रण है—

'ग्रह गृहीत पुनि वात वस, ता पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुणी, कहिय कहा उपचार॥'

अर्थात् एक तो बन्दर स्वभावत: चंचल, दूसरे उसे वातरोग (histeria), तीसरे उसे बिच्छू ने डंक मार दिया,चौथे उसे शराब भी पिला दी गयी। अब विचार करो, उस बन्दर की क्या दशा होगी ? यही बात जीवों के विषय में भी है। एक तो अनादिकाल का पापमय जीव, दूसरे कुसंस्कार-जन्य कुप्रवृत्तियाँ, तीसरे कुसंग का बाह्य वातावरण, चौथे बुद्धि का तीनों ही गुणों के वशीभूत

होकर नशे में हो जाना; अब इस बेचारे जीव रूपी बन्दर का भगवान् ही भला करे।

किन्तु, घबड़ाने की बात नहीं; अभ्यास करते-करते सब ठीक हो जायेगा। एक महान् जंगली शेर भी बिजली के दण्ड (*हण्टर*) के इशारे पर नाचता है। देखो, साधक सर्वप्रथम अपनी बुद्धि को ही ठीक करे, क्योंकि गीताकार के सिद्धान्तानुसार, '**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**' अर्थात् बुद्धि के विकृत होने से ही जीव का पतन होता है। हाँ, तो साधक ने अपनी बुद्धि को जब महापुरुष एवं भगवान् के ही हाथ बेचा है, तब उसे अपनी बुद्धि को महापुरुष के आदेश से ही सम्बद्ध रखना चाहिये। लोक में भी देखो, एक कूपमण्डूक अत्यन्त मूर्ख ग्रामीण भी अपने मुकदमे में किसी व्युत्पन्न वकील के द्वारा प्रमुख कानूनी विषयों को अपनी बुद्धि में रखकर धुरन्धर वकील की जिरह में भी नहीं उखड़ता।

कुछ लोगों का कहना है कि इसमें क्या रखा है ? यह तो अत्यन्त ही साधारण सी बात है। साधक मन-बुद्धि को निरन्तर भगवद्विषय में लगाये रहे तो बहिरंग, अन्तरंग दोनों ही कुसंग न व्याप्त होंगे। किन्तु निरन्तर भगवद्विषय में मन-बुद्धि का लगाव पूर्व में सहसा नहीं हो सकता। वह तो धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा ही होगा। तुलसी के शब्दों में—

'**कहत सुगम करनी अपार, जाने सोइ जेहि बनि आई।**'

यह कुसंग भी कई प्रकार का होता है। एक तो भगवद्विषयों से विपरीत विषयों का पढ़ना, दूसरे सुनना, तीसरे देखना, चौथे सोचना आदि। किन्तु, इन सब में सबसे भयानक कुसंग सोचना ही है, क्योंकि अन्त में पढ़ने, सुनने एवं देखने आदि वाले कुसंग भी यहीं पर आ जाते हैं। फिर यहीं से कार्यवाही आरम्भ हो जाती है। सोचते-सोचते मनोवृत्तियाँ उसी के अनुकूल होती जाती

हैं एवं बुद्धि भी मोहित हो जाती है, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि कुछ काल बाद मन पूर्णतया उन विपरीत विषयों में लीन हो जाता है। मुझे इस सम्बन्ध में गीता की अधोनिर्दिष्ट अर्धाली अत्यन्त ही प्रिय है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।

(गीता 2-62)

अर्थात् जिस विषय का हम बार-बार चिन्तन करते हैं, उसी में हमारी आसक्ति हो जाती है।

किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि चिन्तन तो पश्चात् होता है, पूर्व में तो भगवद्विपरीत विषयों का सुनना, पढ़ना आदि है। अतएव यदि पूर्व कारण से बचा जाय तो अत्यन्त ही सरलतापूर्वक कुसंग से निवृत्ति हो सकती है। यदि आग को लकड़ी न मिले तो अग्नि कैसे बढ़ेगी ? फिर यदि साथ ही उस अन्तरंग कुसंग रूपी आग में श्रद्धायुक्त सत्संग रूपी जल भी छोड़ा जाय, तब तो आग धीरे-धीरे स्वयं ही बुझ जायगी। देखो, प्रायः हम लोग यह सब जानते हुये भी बहादुरी दिखाने का स्वाँग रचते हैं, अर्थात् कुसंग की प्रारम्भिक अवस्था में ही सावधान न होकर यह कह देते हैं 'अरे, कुसंग हमारा क्या कर लेगा, हम सब कुछ समझते हैं।' अरे भाई! विचार करो कि यद्यपि डॉक्टर यह समझता है कि अमुक विष मारक है, किन्तु यदि परिहास में भी पी लेता है तो उसका वह जानना थोड़े ही काम देगा, विष तो अपना मारक गुण दिखायेगा ही।

अतएव साधारण कुसंग को भी साधारण न समझना चाहिये, वरन् इसे अत्यन्त महान् शत्रु समझकर तब तक इसे दूर रखना चाहिये, जब तक शुभ मुहूर्त न आ जाय। तुलसी के शब्दों में—

अब मैं तोहि जान्यो संसार।
बाँधि न सकइ मोहि हरि के बल, प्रकट कपट आगार।
सहित सहाय तहाँ बसु शठ जेहि, हृदय न नन्दकुमार॥

अर्थात् हे संसार! अब मैं तुझे भली भाँति समझ गया। अब तू मुझे किसी प्रकार नहीं बाँध सकता, क्योंकि मेरे पास श्रीकृष्ण का बल है। अरी माया! अब तू अपने दलबल को लेकर वहाँ जाकर अपना डेरा जमा, जिसके हृदय में नंदकुमार का वास न हो। यहाँ अब तेरी कुछ भी दाल न गल सकेगी। तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्ति के पूर्व किसी भी जीव को यह दावा करने का अधिकार नहीं है कि कुसंग मेरा कुछ भी नहीं कर सकता। यह तो सिद्ध महापुरुषों के ही क्षेत्र की बात है कि उनके ऊपर कुसंग का प्रभाव नहीं पड़ सकता। '**चन्दन विष व्यापै नहीं, लिपटे रहत भुजंग,**' इस रहीम की उक्ति के अनुसार, सिद्ध महापुरुष रूपी चन्दन के वृक्ष पर ही कुसंगरूपी साँपों के विष का प्रभाव नहीं पड़ता।

अब कुछ कुसंग ऐसे भी सुनो जो सिद्धान्ततः तो कुसंग नहीं हैं, किन्तु जीव उनके द्वारा कुसंग कमा बैठता है।

अनेकानेक शास्त्रों, वेदों, पुराणों एवं अन्यान्य धर्मग्रंथों को पढ़ना भी कुसंग है। चौकों मत, बात समझो। कारण यह है कि वे महापुरुष के प्रणीत ग्रन्थ हैं, अतएव उन्हें हम भगवत्प्रणीत ग्रन्थ भी कह सकते हैं। उनका वास्तविक तत्त्व अनुभवी महापुरुष ही जानते हैं। तुम उन्हें पढ़कर अनन्तानन्त प्रश्न पैदा कर बैठोगे, जिनका कि समाधान अनुभव के बिना सम्भव नहीं। यदि किसी मात्रा में सम्भव भी है तो वह एकमात्र महापुरुष के द्वारा ही। अतएव हमारे यहाँ के प्रत्येक शास्त्रादि स्वयं प्रमाण देते हैं कि महापुरुष के द्वारा ही शास्त्रों का तत्त्वज्ञान हो सकता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता 4-34)

यदि तुम शास्त्रों वेदों को पढ़कर स्वयं ही तत्त्वनिर्णय करना चाहो तो सर्वप्रथम इस विषय में महापुरुष का निर्णय पढ़ लो। तुलसी के शब्दों में -

श्रुत्रि पुराण बहु कहेउ उपाई। छुटै न अधिक अधिक अरु झाई।

अर्थात् यदि महापुरुष के बिना ही, अपने आप शास्त्रीय भगवद्विषयों का तत्त्वनिर्णय करने चलोगे तो सुलझने के बजाय उलझते जाओगे। सारांश यह है कि एक प्रश्न के समाधान के लिये तुम शास्त्रों में अपनी बुद्धि को लेकर उत्तर ढूँढ़ने जाओगे, तो शास्त्रों का वास्तविक रहस्य न समझकर सैकड़ों प्रश्न उत्पन्न करके लौटोगे। क्योंकि पुनः तुलसी ही के शब्दों में—

मुनि बहु, मत बहु, पंथ पुराननि, जहाँ तहाँ झगरो सो

(विनयपत्रिका)

अर्थात् अनेक ऋषि-मुनि हो चुके हैं एवं उनके द्वारा प्रणीत अनेक मत भी बन चुके हैं। पुराणादिकों में इस विषय में झगड़े ही झगड़े हैं। फिर तुम्हारी बुद्धि भी मायिक है अतएव तुम मायिक अर्थ ही निकालोगे।

परदोष-दर्शन भी घोर कुसंग है, क्योंकि परदोष-दर्शन से दो हानि हैं। एक तो यह है कि परदोष-दर्शन-काल ही में स्वाभाविक रूप से स्वाभिमान-वृद्धि होती है, जो कि साधक के लिये तत्क्षण ही पतन का कारण बन जाती है। दूसरे यह कि यह दोष-चिन्तन करते हुये शनैः शनैः बुद्धि भी दोषमय हो जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हीं सदोष विषयों में प्रवृत्ति होने लगती है, अतएव सदोष कार्य होने लगता है। फिर जब संसारमात्र ही सदोष है, तो हम कहाँ तक दोष-चिन्तन करेंगे।

आश्चर्य तो यह है कि मूर्ख को मूर्ख कहने का अधिकार तो ज्ञानी ही को है। मूर्ख, मूर्ख को मूर्ख क्यों कहता है ? वह भी तो स्वयं मूर्ख है। यदि यह कहो कि क्या करें, दोष-दर्शन स्वभाव सा बन गया,तो हमें कोई आपत्ति नहीं, तुम दोष देख सकते हो, किन्तु दूसरों के नहीं अपने ही दोष क्या कम हैं। अपने दोषों को देखने में तुम्हारा स्वभाव भी न नष्ट होगा, तथा साथ ही एक महान् लाभ भी होगा। वह महान् लाभ तुलसी के शब्दों में - **'जाने ते छीजहिं कछु पापी'** अर्थात् दोष जान लेने पर कुछ न कुछ बचाव हो जाता है, क्योंकि वह जीव उनसे बचने का कुछ न कुछ अवश्य प्रयत्न करता है।

मेरी राय में तो परदोष-चिन्तन करना ही स्वयं के सदोष होने का पक्का प्रमाण है, अन्यथा भला किसी को इन बातों से क्या अभिप्राय है। लोक में भी देखो, एक बाप अपने सन्निपातरोगग्रस्त पुत्र के हेतु औषधि लाने के लिये डाक्टर के यहाँ जाता है। यदि उसे मार्ग में कोई बुलाता भी है, तो वह सभ्यता आदि की परवाह न करते हुए सीधे ही कह देता है, 'अभी अवकाश नहीं, फिर मिलेंगे।' वह सीधे ही डाक्टर के पास लक्ष्य करके जाता है। इसी प्रकार साधक को भी अपने मानसिक सन्निपातिक रोगों की निवृत्ति के हेतु सद्गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलकर अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहिये। उसे यह अवकाश ही न होना चाहिये कि साधना रूपी औषधि खाने के बजाय बैठे-ठाले परदोष-चिन्तन-स्वरूप कुसंग का कुपथ्य करे। अतएव इस परदोष-चिन्तन रूपी अत्यन्त भयानक कुपथ्य से सर्वथा ही सावधान रहना चाहिये।

अश्रद्धालु एवं अनधिकारी से अपने मार्ग अथवा साधनादि के विषय में वाद-विवाद करना भी कुसंग है, क्योंकि जब अनधिकारी को सर्वसमर्थ महापुरुष भी आसानी के साथ बोध नहीं करा पाता, तब वह साधक भला किस खेत की मूली है। यदि कोई परहित की भावना से भी समझाना चाहता है, तब भी उसे ऐसा न करना चाहिये, क्योंकि अश्रद्धालु होने के कारण

उसका विपरीत ही परिणाम होता है, साथ ही उस अश्रद्धालु के न मानने पर साधक का चित्त अशान्त हो जाता है।

शास्त्रानुसार भी भक्ति-मार्ग को लेकर वाद-विवाद करना घोर पाप है। भरत जी कहते हैं—

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनु रमते गताः॥

(वा. रा.)

अर्थात् भक्तिमार्ग को लेकर वाद-विवाद कर्मसरीखा महान् पाप मुझे लग जाय, यदि राम के वन जाने के विषय में मेरी राय रही हो।

अतएव न तो वाद-विवाद सुनना चाहिये, न तो स्वयं ही करना चाहिये। यदि अनधिकारी जीव इन विषयों को नहीं समझता, तो इसमें आश्चर्य या दु:ख भी नहीं होना चाहिये,क्योंकि कभी तुम भी तो नहीं समझते थे। यह तो परम सौभाग्य महापुरुष एवं भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है कि जीव भगवद्विषय को समझकर उसकी ओर उन्मुख हो।

अनधिकारी को भगवद्विषयक कोई अन्तरंग रहस्य भी न बताना चाहिये, क्योंकि वर्तमान अवस्था में अनुभवहीन होने के कारण अनधिकारी उन अचिन्त्य विषयों को नहीं समझ सकता, उल्टे अपराध कमाकर अपनी रही सही आस्तिकता को भी खो बैठेगा। साथ ही अन्तरंग रहस्य बताने वाले साधक को भी अशान्त करेगा।

लोकरंजन का लक्ष्य भी घोर कुसंग है। प्राय: साधक थोड़ा बहुत समझ लेने पर अथवा थोड़ा बहुत अनुभव कर लेने पर, उसे लोक के सम्मुख गाता फिरता है, एवं धीरे-धीरे यह अभिमान का रूप धारण कर लेता है, जिसके परिणाम-स्वरूप साधक की वास्तविक निधि, दीनता छिन जाती है एवं

हँसी–हँसी से ही लोकरञ्जन की बुद्धि परिपक्व हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि अपने दुष्कर्मों का भी स्मरण करते हुए यदि साधक की आँख में दो बूँद आँसू निकल आता है तब वह स्वाभिमान के कारण लोक के समक्ष अपने को महान् भक्त प्रकट करने के अभिप्राय से झूठमूठ का ही इतना शोरगुल मचाता है मानो उसे गोपी–विरह ही प्राप्त हो गया हो, जिसके परिणाम–स्वरूप दो हानियाँ होती हैं। एक तो मिथ्याभिमान बढ़ता है, दूसरे लोकरंजन की बुद्धि होने के कारण वह प्रायश्चित्त का आँसू भी छिन जाता है। अतएव साधक को लोकरंजनरूपी महाव्याधि से बचना चाहिये। साधक को तो अपनी साधना, विशेषकर अनुभव आदि, अत्यन्त ही गुप्त रखना चाहिए। केवल अपने सद्गुरु से ही कहना चाहिये। अपने आप भी उन अनुभवों का चिन्तन करना चाहिए, किन्तु वहाँ भी सावधानी यह रखनी चाहिये कि यह सब अनुभव महापुरुष की कृपा से ही प्राप्त हुआ है, मेरी क्या सामर्थ्य है।

किसी नास्तिक को भी देखकर मिथ्याभिमान न करना चाहिये कि यह तो कुछ नहीं जानता, मैं तो बहुत आगे बढ़ चुका हूँ।

मैंने अपने चौदह वर्ष के भारतीय पर्यटन में अनेकानेक ऐसे उदाहरण देखे हैं कि जो कल तक घोर नास्तिक थे, वे ही आज इतने आगे बढ़ गये कि बड़े–बड़े साधकों के भी कान काट लिये। यह सब विशेषकर पूर्व–जन्म के संस्कारों के द्वारा ही हो जाता है। तुम किसी के संस्कारों को क्या जानो! अतएव, सभी जीव गुप्त या प्रकट रूप से भगवत्कृपापात्र हैं ', ऐसा समझकर किसी को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये, किन्तु इतना अवश्य है कि संग उन्हीं का करना चाहिये, जिनके द्वारा हमारी साधना में वृद्धि हो। वर्तमान काल में साधक को यदि उच्च अवस्थाओं के भगवद्रहस्य समझ में न आवें तो उसे अनुभवगम्य समझकर शब्दों द्वारा समझने का प्रयत्न न करना

चाहिये। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि '**खग जाने खग ही की भाषा**' के अनुसार महापुरुष ही महापुरुष की बोली समझ सकता है। '**भगवद्-रसिक रसिक की बातें, रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना**'। शास्त्रों में तो सर्वत्र ही अध्ययन तक में अधिकारित्व-निरूपण किया गया है। देखो, रामायण पढ़ने का अधिकारी—

जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन कर साथ।
तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥

अर्थात् जो पूर्ण श्रद्धायुक्त न हो, एवं महापुरुषों का वरदहस्त सिर पर न हो, तथा जिसको रघुनाथ प्रिय न लगते हों, उसके लिये यह रामायण अगम्य है। अब जरा सोचो कि ये तीनों ही अधिकारित्व की वस्तुएँ कितनी महत्त्वपूर्ण हैं। आगे चलकर उन अनधिकारियों को रामायण सुनाने तक का निषेध है। कारण यह है कि यद्यपि रिवाल्वर से शत्रु का नाश होता है, तथापि सरकार के द्वारा अधिकारी को ही दी जाती है। यदि वही रिवाल्वर डाकू या पागल को दे दी जाय तो उससे महान् हानि हो जाती है। गीता के पढ़ने के भी अधिकारी निम्नलिखित हैं—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।

(गीता 18-67)

अर्थात् गीताकार ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि जो भक्त न हो, उसे गीता मत सुनाना। देखो, भागवत ग्रन्थ पढ़ने का अधिकारी कौन है—

मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः पिबत भागवतं रसमालयम्।

(भाग. माहात्म्य 6-80)

अर्थात् भावुक रसिक लोग ही इस रस को पियें। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना तथा यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अनधिकारी अनधिकार चेष्टापूर्वक

किसी तत्त्व को नहीं पा सकता।

अपने गुरु के बताये हुए मार्ग के सिवाय अन्य किसी मार्ग विषयक उपदेश सुनना, पढ़ना आदि भी कुसंग है, भले ही वह मार्ग महापुरुष-निर्दिष्ट ही क्यों न हो। कारण यह है कि साधक विविध प्रकार के मार्गों को सुनकर कभी इधर जाएगा, कभी उधर जाएगा। परिणामस्वरूप '**इतो भ्रष्टोस्ततो भ्रष्टः**' के अनुसार, न इधर का रहेगा न उधर का रहेगा। मान लो, तुम भक्ति मार्ग की साधना कर रहे हो, कोई ज्ञानमार्गीय महापुरुष ज्ञान-मार्ग का उपदेश कर रहा है। तुम उसे सुनोगे तथा सोचने लग जाओगे कि अरे! यह तो कुछ और ही कहता है। बस, दिमाग में कूड़ा भरने लग जायगा। तुम्हारी लघु बुद्धि की यह सामर्थ्य नहीं है कि वास्तविक तत्त्व पर पहुँच सके। इसी प्रकार अपने मार्ग में भी उपासना के अनेकानेक ढंग हैं, जो कि साधकों की रुचि एवं विश्वास पर निर्भर रहते हैं। तुम दूसरी साधना को सुनकर सोचोगे कि अरे! यह बड़ी अच्छी साधना होगी, क्योंकि मेरी साधना से तो अभी तक भगवत्प्राप्ति नहीं हुई। कदाचित् उस साधना के प्रति यह दुर्भाव पैदा हो गया कि उसकी साधना सही नहीं है, तब तो और भी अपराध कमा बैठोगे। अतएव अपने गुरु के ही बताये मार्ग का निरन्तर चिंतन, मनन एवं परिपालन करना चाहिये तथा अन्य मार्गावलम्बी साधकों अथवा अपने मार्ग के अन्यान्य प्रणाली-युक्तसाधकों की साधना पर दुर्भाव न करना चाहिये। यह समझ लेना चाहिये कि सभी की साधनाएं ठीक हैं। जिसके लिये जो अनुकूल होती है, वह वही करता है। हमें इस उधेड़बुन से क्या मतलब।

किसी महापुरुष या साधक का अपमान करना भी घोर कुसंग है। साधकगण बहुधा अपने आपको तथा अपने महापुरुष को ही सत्य समझते हैं, शेष साधकों एवं महापुरुषों में दुर्भावना-पूर्ण निर्णय देते हैं। यह महान् भूल है

इससे नामापराध हो जायगा, जिसके परिणामस्वरूप अपना महापुरुष तथा अपना इष्टदेव भी प्रसन्न न हो सकेगा; क्योंकि समस्त महापुरुष तथा भगवान् परस्पर एक ही हैं, यह मैंने पूर्व में ही विस्तारपूर्वक समझा दिया है। यदि किसी अन्य महापुरुष से तुम्हारी साधना के अनुकूल लाभ प्राप्त होता है तो उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिये। किन्तु, इसमें बड़ी सावधानी की आवश्यता है। अन्यथा, कहीं यदि महापुरुष पर दुर्भावना हो गयी तो 'एक पैसा कमाया एक लाख गँवाया' वाली कहावत सिद्ध हो जायगी।

भगवान् के समस्त नाम, समस्त गुण, समस्त लीला, समस्त धाम, एवं उनके समस्त भक्त परस्पर एक हैं। एक के प्रति भी दुर्भाव करना सभी के प्रति दुर्भाव करना है। समस्त महापुरुष एवं भगवान् के समस्त अवतार भी परस्पर अभिन्न हैं। ऐसा तत्त्वज्ञान सदा के लिये हृदय में अंकित कर लेना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि रामोपासक कृष्णोपासक की तथा वैष्णव शैवों आदि की,सम्प्रदायवाद में पड़कर निन्दादि करते हैं। यह घोर नामापराध है।

हाँ, तुम्हारी निष्ठा एवं रुचि जिस किसी भी अवतार या उनके जिस किसी भी नाम, गुण, लीला, जनादि में हो, उसी में मन-बुद्धि का सम्बन्ध स्थापित करो। किन्तु अन्य को भी उसी का स्वरूप समझो, दुर्भावना न होने पाये।

देखो, अब मैं इस विषय में कुछ विशेष बात समझाता हूँ। राम-कृष्ण की एकता पर ही विचार कर डालो देखो, वे दोनों ही पूर्णतया एवं परस्पर एक हैं। देखो भागवत—

अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेश

(भाग. 2-7-23)

क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।

(भाग. 2-7-26)

अर्थात् भगवान् राम के लिये भागवतकार कहते हैं कि राघवेन्द्र सरकार कलाओं के ईश हैं, एवं कलाओं के साथ अवतरित हुए हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण को भी सितकृष्णकेश-रूप कलाओं से युक्त पूर्णावतार सिद्ध किया है।

कुछ लोग कहते हैं कि भागवत में तो स्पष्ट लिखा है कि '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' अर्थात् और समस्त अवतार तो अंशावतार हैं, किन्तु श्रीकृष्णावतार ही पूर्णावतार है। उन लोगों ने कदाचित् भागवत ही में उपर्युक्त रामावतार की भगवत्ता को नहीं पढ़ा है। फिर जिस प्रकार भागवत कहती है, ठीक उसी प्रकार रामायण भी तो कहती है -'**रामस्तु भगवान् स्वयं**'। इसके अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्तपुराण देखिये—

त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती।
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी॥

अर्थात् हे राधिका जी! तुम्हीं जनकपुर में सीता थीं तथा तुम्हारी ही छायास्वरूप द्रौपदी आदि हैं। रावण ने तुम्हारा ही हरण किया था, एवं तुम्हीं राम की अर्द्धाङ्गिनी थीं। पद्मपुराण कहता है—

पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले॥

(पद्म पुराण)

अर्थात् राम ने ही दण्डकारण्य के मुनियों को वरदान दिया था कि तुम लोगों को मैं कृष्ण बनकर प्रेमरस पिलाऊँगा। वे ही दण्डकारण्य के मुनि

गोकुल में गोपियों के रूप में अवतरित हुए। बहुधा लोग तुलसीदास की मिथ्या ओट लेकर कहते हैं, यथा—

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष बाण लो हाथ॥

अर्थात् तुलसीदास ने श्रीकृष्ण को नमस्कार तक नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि राम एवं कृष्ण पृथक्-पृथक् थे। किन्तु थोड़ा भी विचार करने से यह रहस्य समझ में आ सकता है। जरा सोचो तो, तुलसीदास ने प्रस्ताव रखने के पूर्व ही 'नाथ!' कहकर श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया है। फिर इसके पश्चात् ही कहते हैं कि हे नाथ! धनुष-वाण हाथ में ले लो। अरे बनना क्या है! नट के दोनों ही स्वरूपों में लीलाक्षेत्र में इतनी ही ओट तो है कि श्रीकृष्ण के पास प्रेम-स्वरूपा मुरली है एवं राम के पास मर्यादा-रूप धनुष-बाण है। फिर यह भी सोचो कि यदि तुलसीदास कदाचित् ऐसा भी कहते कि हे कृष्ण! मैं तुमको नमस्कार नहीं करूँगा, जब तक तुम राम नहीं बन जाओगे,तब भी तो विचारणीय हो जाता है कि तुलसी के राम अद्वितीय एवं पूर्ण भगवान् हैं। अद्वितीय, पूर्ण भगवान् बनने की सामर्थ्य, अद्वितीय पूर्ण भगवान् के सिवा अन्य किस में हो सकती है? इससे भी सिद्ध होता है कि राम-कृष्ण केवल लीलाक्षेत्र में ही दो प्रतीत होते हैं। तुलसीदास का अभिप्राय मेरी राय में यह था कि हे नाथ! मैं आपका दास हूँ, प्रेयसी नहीं हूँ। यह वृन्दावन तो कान्तभाव-युक्त आपका अन्तरंग धाम है। दास्य भाव वाला कान्तभाव में नहीं जा सकता। अतएव मेरी लज्जा रखिये एवं धनुष-वाण को लेकर मेरे दास्य भाव को सिद्ध कर दीजिये। फिर तुलसीदास की बात राम के सिवा और कौन मान ही सकता था? तथा औरों से वे कहते ही क्यों? तुलसीदास ने तो यह सिद्ध कर दिया कि श्रीकृष्ण मेरे इष्टदेव हैं, क्योंकि उन्होंने मेरी इच्छा पूर्ण कर दी। पढ़िये विनय पत्रिका (पद 199):—

विरद गरीब निवाज राम को।
ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, कपिपति, जड़, पतंग, पाण्डव, सुदाम को।

इस पद में जड़ शब्द से यमलार्जुन उद्धार, पाण्डव शब्द से अर्जुनादि उद्धार एवं सुदामा उद्धार अपने ही इष्टदेव द्वारा क्यों बता रहे हैं? पढ़ो पद 106 में कुबरी को पवित्र करने का प्रसंग अपने ही इष्टदेव द्वारा—

पांडु सुत, गोपिका, विदुर, कुबरी, सबीर,सुद्ध किये सुद्धता लेस कैसो।

'' ऐसी कौन प्रभु की रीति। गयी मारन पूतना कुच कालकूट लगाय।''

इस पद में पूतना का उद्धार, अपने ही इष्टदेव द्वारा, क्यों बता रहे हैं? इसके अतिरिक्त पढ़ो पद 178, पद 83, पद 217, पद 240, आदि—

इसके अतिरिक्त पढ़ो गर्ग संहिता (अध्याय 4, श्लोक 37)

'द्वापरान्ते करिष्यामि भवतीनां मनोरथम्'

अर्थात् भगवान् राम कहते हैं कि मैं द्वापर में कृष्ण बनकर तुम लोगों की इच्छा पूर्ण करूँगा।

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी राम के पूर्णावतार में चार व्यूह होते हैं। वे चारों व्यूह रामावतार में राम, लक्ष्मण, भरत,शत्रुघ्न एवं कृष्णावतार में क्रमशः श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध थे। यह विषय शास्त्रों में स्पष्ट है।

अरे! यह मैं क्या बकने लगा? तुलसीदास तो महापुरुष थे। उनके विषय में राम, कृष्ण के द्वैत की कल्पना करना भी घोर नामापराध है।

यह तत्त्व तो साधारण विद्वान् भी समझते हैं। अतएव समस्त अवतारों में परस्पर एकता ही समझनी चाहिये। हाँ! जिस अवतार की लीला में अपनी विशेष रुचि हो,उपासना उसी की करनी चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि हम राम के उपासक हैं। श्रीकृष्ण की उपासना तो करना चाहते हैं, इष्ट बदल जाने का भय है। बड़े ही खेद की बात है कि वे लोग इतना भी नहीं समझते कि एक ही पति को कई पोशाक में देखना स्त्री के लिये पाप या व्यभिचार तो नहीं सिद्ध होगा! देखो! भगवान् शंकर से बड़ा कौन राम-भक्त होगा, जो कृष्णावतार में अवतार होते ही नन्द जी के द्वार पर श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ आ धमके तथा महारास में भी पहुँच गये। इतना ही नहीं, रामावतार के समस्त परिकर कृष्णावतार में आये थे। उदाहरणार्थ-लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, क्रमश: बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध बनकर तथा सीता जी राधा बनकर, हनुमान जी युद्ध के समय पताका में रहकर, जामवन्त श्रीकृष्ण से घोर युद्ध कर; जनकपुर की स्त्रियाँ गोपी बनकर एवं शूर्पनखा कुब्जा बनकर, रावण भी शिशुपाल बनकर, इत्यादि समस्त रामावतार के परिकर कृष्णावतार में अवतरित हुए थे। किन्तु यह बात अवश्य है कि कृष्णावतार की प्रेम-लीलाएं विशेष मधुर हैं,जिन्हें रामावतार में राम से भी लोगों ने माँगा था। अतएव, वह कृष्ण-प्रेम-लीला सिद्धान्तत: रामलीला ही है। फिर भी साधक की स्वेच्छा पर निर्भर है। राम की त्रेतावतार की अथवा राम ही की द्वापरावतार की, जिस अवतार की भी लीला साधक को प्रिय हो, उसी का अवलम्बन कर ले। उसके मस्तिष्क का कीड़ा (इष्ट बदलने वाला कीड़ा) आगे चलकर अपने आप झड़ जायेगा। जिसको गहरी प्रेम-मदिरा छाननी हो, उसे कृष्णावतार की रसलीला का ही अवलम्बन करना होगा।

सारांश यह है कि उपर्युक्त समस्त विषयों को समझ कर कुसंग से सावधान रहना चाहिये। वास्तव में, जिस किसी भी प्रकार से भगवान् में मन न लगे वही कुसंग है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि दुर्भावना नास्तिक के प्रति भी न होने पाये। अरे! बड़े-बड़े महापुरुष भी नास्तिक सरीखी बात करते हैं। वास्तव में, शब्द जगत् में तो उच्च कोटि के रसिक एवं उच्च कोटि

की विरहिणी गोपिका कहती है कि उस निष्ठुर का मेरे सामने नाम मत लो। इसी बात को उच्चकोटि का नास्तिक भी अपने शब्दों में कहता है कि मैं भगवान् का नाम तक नहीं सुनना चाहता। अब जरा सोचिये, दोनों के शब्द एक होते हुए भी भावों में कितना अनन्त वैपरीत्य है! अटपटे रसिकों की भाषा बड़ी ही अटपटी होती है। अतएव किसी के प्रति भी यह कहने का अधिकार नहीं है कि अमुक व्यक्ति नास्तिक है। यदि अधिकार भी मान लिया जाय, तब भी साधक को कोई भी लाभ नहीं है, प्रत्युत्त हानि ही है। साधक का एक क्षण का भी कुसंग उसे गिरा देने में पूर्ण समर्थ है तथा साधक के पास ऐसी शक्ति तब तक नहीं आ सकेगी, जिससे कि उस पर कुसंग का प्रभाव ही न पड़े, जब तक साधक का योगक्षेम-वहन-रूप-उत्तरदायित्व भगवान् पर निर्भर नहीं हो जायगा।

मैं तो समझता हूँ कि साधक को भगवान् से विमुख करने वाला सबसे महान् शत्रु कुसंग ही है। अन्यथा, अनन्त बार महापुरुष एवं भगवान् के अवतार लेने पर भी जीव इस प्रकार माया में पड़ा सड़ता रहे, यह कदापि सम्भव नहीं। अतएव साधकों को साधना से भी अधिक दृष्टिकोण कुसंग से बचने पर रखना चाहिये। तुलसीदास के शब्दों में—

बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥

राधे राधे गोबिंद गोबिंद राधे। राधे राधे गोबिंद गोबिंद राधे॥

दैनिक प्रार्थना

श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः

श्री गुरवे नमः श्री गुरवे नमः श्री गुरवे नमः

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

हे परम प्रियतम पूर्णतम पुरुषोत्तम श्री कृष्ण! तुम से विमुख होने के कारण अनादिकाल से हमने अनन्तानन्त दुःख पाये एवं पा रहे हैं। पाप करते करते अन्तःकरण इतना मलिन हो चुका है कि रसिकों द्वारा यह जानने पर भी कि तुम अपनी भुजाओं को पसारे अपनी वात्सल्यमयी-दृष्टि से हमारी प्रतीक्षा कर रहे हो, तुम्हारी शरण में नहीं आ पाता।

हे अशरण शरण! तुम्हारी कृपा के बिना तुम्हें कोई जान भी तो नहीं सकता। ऐसी स्थिति में, हे अकारण करुण! पतितपावन श्रीकृष्ण! तुम अपनी अहैतुकी कृपा से ही हमको अपना लो।

हे करुणा सागर! हम भुक्ति-मुक्ति आदि कुछ नहीं माँगते, हमें तो केवल तुम्हारे निष्काम प्रेम की ही एकमात्र चाह है।

हे नाथ! अपने विरद की ओर देखकर इस अधम को निराश न करो।

हे जीवनधन! अब बहुत हो चुका, अब तो तुम्हारे प्रेम के बिना यह जीवन मृत्यु से भी अधिक भयानक है। अतएव

प्रेमभिक्षां देहि, प्रेमभिक्षां देहि, प्रेमभिक्षां देहि।

साकेत बिहारी श्री राघवेन्द्र सरकार की जय।
वृन्दावन बिहारी श्री यादवेन्द्र सरकार की जय।
श्रीमद्सद्गुरु सरकार की जय।

जय जय श्रीराधे जय जय श्रीराधे जय जय श्रीराधे।
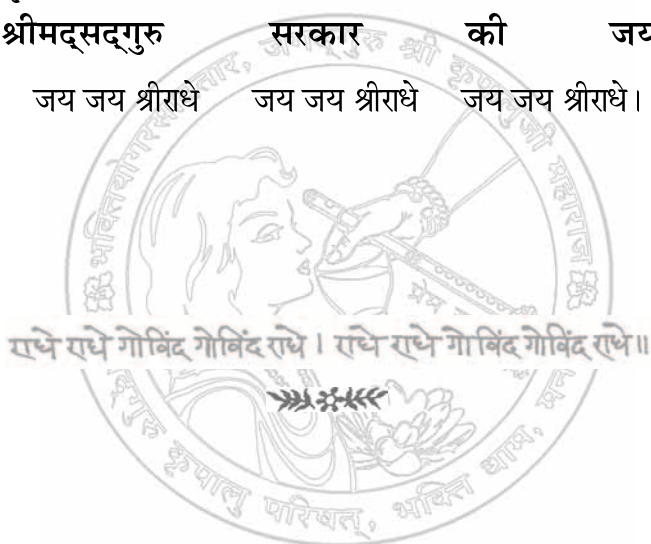
“प्रेम-रस-सिद्धान्त”

पर भारत के प्रख्यात महात्माओं तथा विद्वानों एवं प्राच्यावाँचीन दार्शनिकों द्वारा प्रेषित कतिपय सम्मतियाँ – (सन् 1955)

(**डा० भगवानदास, भारत-रत्न,** शान्ति सदन, सिगरा, बनारस 1)

मैंने श्रीकृपालुदासजी का ग्रंथ **“प्रेम-रस-सिद्धान्त”** नाम का देखा! ......यह ग्रन्थ अत्यन्त रोचक है तथा पढ़ने के लिए लुभाता है। ग्रन्थकार महान् विद्वान् हैं इन्होंने श्रीतुलसीदासजी के समान ‘नाना पुराण निगमागम संमतं यत्’ का संग्रह किया है। वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय तो रत्नत्रय में गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र को ही गिनते हैं किन्तु रामानुजानुयायी चतुर्थ-रत्न ‘भागवत’ को मानते हैं। ठीक भी है क्योंकि भागवत के प्रत्येक श्लोक से भक्ति रस बहता है।

वयं तु न वितृप्यामो ह्युत्तमश्लोकविक्रमे।

यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥

....श्रीकृपालुदासजी ने इन समस्त अंगों एवं विषयों पर विलक्षण प्रकाश डाला है। मुस्लिम सूफियों के ग्रंथों से भी मूल फारसी प्रमाणों का उद्धरण किया है। विशेषकर मौलाना रूमी की ‘मसनवी’ से। ठीक ही है इस्लाम के सभी संप्रदाय रूमी का और उनकी मसनवी का सम्मान करते हैं स्वयं मौलाना का आह्वान है –

मन् जे कुराँ म.ग् ज़् रा वरदाश्तम्,
उस्तु ख़्वाँ पेशे सगाँ अंदा ख़्तम्।

क्यों न हो, परमात्मा के सच्चे खोजी, भक्त, ज्ञानी सब देशों सब समयों, सब जातियों में उत्पन्न हुये हैं और सबने उसे पाया है।

"**प्रेम-रस-सिद्धान्त**" अत्युत्तम अद्वितीय ग्रंथ है। इसका प्रचार दूर-दूर तक हिन्दी-भाषियों में होना चाहिये। ....

(**डा० बलदेव प्रसाद मिश्र,** एम०ए० एल्०एल्०बी०, डी०लिट्०, सिविल लाइन्स, राजनाँदगाँव, म०प्र०)

श्रीपरमहंस कृपालुदासजी लिखित "**प्रेम-रस-सिद्धान्त**" नामक ग्रन्थ का मैंने बड़े प्रेमपूर्वक अवलोकन किया। परमहंसजी न केवल अधिकारी विद्वान् हैं किन्तु भक्तिरस के रसिक भी हैं। अतएव उनका यह सिद्धान्त ग्रन्थ सर्वथा पठनीय और मननीय है। जिज्ञासुओं के लिए इसमें प्रत्येक ज्ञातव्य बातें मिल जायेंगी और साधकों के लिए रस-विशेष की अच्छी जानकारी भी हो सकेगी। मैं इस ग्रन्थ के अधिकाधिक प्रचार का आकांक्षी हूँ। ......

(**श्री कुंजीलाल दुबे,** कौन्सिल स्पीकर, नागपुर म०प्र०)

परमहंस कृपालुदासजी ने "**प्रेम-रस-सिद्धान्त**" के द्वारा भगवत्प्रेम प्राप्त करने का अत्यन्त सुगम मार्ग बतलाया है।

इस युग में प्रत्येक मनुष्य अपने पालन-पोषण के कार्य में ही इतना व्यस्त है कि भगवत्प्राप्ति के लिये ज्ञान-मार्ग अथवा योग-मार्ग का न तो उसे ज्ञान ही है और न पर्याप्त साधन ही उपलब्ध है। सम्भवतः इसी कारण से भारत के

सभी संतों ने अपने ग्रंथों में भक्तिमार्ग के ही व्याख्यान को प्राधान्य दिया है। यदि इस प्रश्न पर दूसरे पहलू से भी सोचा जाय तो आनन्द स्वरूप परमात्मा के रूप की अनुभूति तभी हो सकती है जबकि मनुष्य का अन्तःकरण भगवत्-प्रेम से विभोर हो। जैसा कि परमहंस कृपालुदासजी ने इस पुस्तक में प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक मनुष्य में आस्तिक बुद्धि होती है, चाहे वह उसे पहचाने अथवा न पहचाने और चाहे वह कितना ही अज्ञ क्यों न हो। यदि भक्त परमात्मा की शरण लेता है तो परमात्मा स्वयं उस पर अनुग्रह करते हैं। परमहंस कृपालुदासजी ने ये जो दो बातें बतलाई हैं वे ही भक्ति-मार्ग की आधार स्तम्भ हैं। साथ ही इस पुस्तक में भगवत्-प्राप्ति के लिए मनुष्य को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इसका व्याख्यान इतना स्पष्ट किया गया है कि इस मार्ग का अनुसरण करने के इच्छुक को जो बातें जाननी आवश्यक हैं उन सब बातों का इसमें समावेश किया गया है। इन कारणों से यह एक अनमोल ग्रन्थ हो गया है। और इसे लिखकर परमहंस कृपालुदासजी ने आस्तिक जनता के कल्याण के लिये जो महान् तथा स्तुत्य कार्य किया है उसके लिये उन्हें अनेकानेक धन्यवाद देकर मैं आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ के पाठक अपने आचरण में इसका अनुसरण करेंगे। ....

(**श्री हृदय नारायण पांडेय** ''हृदयेश'' साहित्यालंकार सभापति आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी परिषद्, कानपुर।)

मैंने संत कृपालुदासजी कृत ''**प्रेम-रस-सिद्धान्त**'' नाम्नी पुस्तक का अवलोकन किया, पुस्तक में बड़ी रोचकता के साथ भक्ति, ज्ञान और कर्म का विवेचन किया गया है। भक्ति की महत्ता बड़ी सफलता तथा तर्क शीलता के साथ प्रदर्शित की गई है। यथास्थान शास्त्रीय प्रमाणों तथा समीचीन संदर्भों द्वारा विषय की जटिलता को सुगमता तथा सुन्दरता की ओर सरलता से मोड़

दिया गया है। लेखक महोदय बहुज्ञ, बहुश्रुत होने के अतिरिक्त स्वयं अनुभव सिद्ध रसिक भी हैं, इसी हेतु विवेच्य की गहराई के अतल में पैठकर उन्होंने वास्तविक मर्म को स्पर्श कर सकने में सफलता प्राप्त की है। जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं को उसका रसपान अवश्य करना चाहिए।

(**श्री धनञ्जयदास, काठिया बाबा,** काठिया बाबा का स्थान, वृन्दावन।)

महात्मा कृपालुदास जी का लिखा हुआ ''**प्रेम रस सिद्धान्त**'' नामक पुस्तक को पढ़कर मुझे बहुत ही आनन्द मिला। इस पुस्तक का विषय अत्यन्त गम्भीर है। साधारण सरल भाषा में ब्रह्मतत्त्व, श्रीकृष्णतत्त्व, अवतारतत्त्व आदि का जिस प्रकार से प्रकाश किया है वह अतुलनीय है। इसको पढ़ने से साधारण व्यक्ति से आरंभ करके साधकों तक सबका ही कल्याण होगा, भगवत्तत्व का ज्ञान होगा तथा साधकों को साधना में सहायता मिलेगी।

(**श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी,** संकीर्तन भवन, झूँसी प्रयाग।)

श्री कृपालुदास जी कृत ''**प्रेम रस सिद्धान्त**'' पुस्तक मैंने देखी। प्रेम जैसे गहन विषय को उन्होंने सरल सुबोध भाषा में व्यक्त किया है। .... प्रेम पथ के पथिकों को इस प्रेममयी पुस्तक को प्रेमपूर्वक पढ़ना चाहिए यही मेरी पाठकों से पुनीत प्रार्थना है। भगवान् करें संसार में सभी प्रभुप्रेमी बनें और प्रभु के प्रेमामृत का पान करके कृतार्थ हो जायें।

(**स्वामी शिवानन्द,** आनन्द कुटीर, ऋषिकेश)

''**प्रेम रस सिद्धान्त**'' नामक पुस्तक पढ़ने से 'यथा नामा तथा गुणाः' की

लोकोक्ति ठीक-ठीक चरितार्थ हो जाती है। यह भक्ति और प्रेम का एक अनूठा ग्रन्थ है यों तो यह ग्रन्थ विशेषत: भक्ति मार्ग का है, परन्तु इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान का यथोचित संकलन होने से यह ग्रन्थ तीनों मार्गावलम्बियों के लिए उपयुक्त है। इसमें भाषारूपी भगवती को सुन्दर-सुन्दर संगत शब्दालंकारों से सुसज्जित करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

लेखन-शैली सरल, रोचक व साधारण बुद्धि ग्राह्य है। यत्र-तत्र अनेकानेक शास्त्र ग्रन्थों के उद्धरणों से लेखक के प्रगाढ़ पांडित्य व जानकारी का पता चलता है। पुस्तक में लेखक के अनुभवसिद्ध विचारों का विनिमय होने से पुस्तक की श्रेष्ठता और भी अधिक वास्तविक है।

(**श्री शान्तानन्द सरस्वती,** जगद्गुरु शंकराचार्य, ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम।)

मैंने यह '**प्रेम-रस-सिद्धान्त**' नाम की पुस्तक पढ़ी है। यह भावुक जनों के हृदय-कमल को विकसित एवं प्रेमरस प्रदान करने में विशेष सहायक है। ....

(**दार्शनिकसार्वभौम स्वामी श्री वासुदेवाचार्य,** न्यायव्याकरण-वेदान्त-मीमांसाचार्य, दार्शनिक आश्रम, जानकीघाट, अयोध्या।)

.....महात्मा श्रीकृपालुदासजी का '**प्रेम-रस-सिद्धान्त**' नामक ग्रन्थ मैंने देखा। शास्त्रीय सिद्धान्तों की रक्षा करते हुये लेखक ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से अध्यात्मपथपथिकों का महान् उपकार किया है। ग्रन्थ से महात्मा श्री कृपालुदासजी की बहुश्रुतता भी स्पष्ट ही है। ....

(**श्री रामपदार्थदास वेदान्ती,** जानकीघाट, अयोध्या)

सन्त कृपालुदास जी का **'प्रेम-रस-सिद्धान्त'** नामक ग्रन्थ मुझे मिला जिसको पढ़कर महान् प्रसन्नता हुई। समस्त मुख्य विवाद इस ग्रन्थ से सुलझ जाते हैं। समयानुसार ऐसे ग्रन्थ की परमावश्यकता थी। इस ग्रन्थ के सम्पादनकर्ता को अनेक धन्यवाद है कि इस परमोपयोगी तत्त्व को सरल लेखों में पाठकों के सामने रख दिया है ....

(**स्वामी भजनानन्द, परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम,** ऋषिकेश।)

.......श्री कृपालुदासजी ने **'प्रेम-रस-सिद्धान्त'** नामक जो पुस्तक लिखी है वह बड़ी उपादेय है। कृपालुदास जी ने अपना नाम सार्थक किया है। जिस भी विषय को लिखा है उसको विद्वान् से विद्वान् और सर्वसाधारण के समझने में सहज ही आ जाता है। आजकल के बुद्धि-प्रधान लोगों के लिये भी यह पुस्तक अच्छी है। भाषा इतनी सरल है कि पढ़ने से चित्त तृप्त नहीं होता। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि इस पुस्तक का अधिक से अधिक प्रचार हो।

(**दर्शक साधुवेष में एक पथिक,** (जिनके लेख प्रायः 'कल्याण' में निकलते हैं), गोरखपुर)

इस ग्रन्थ को पढ़कर मैंने प्रथम तो यह अनुभव किया कि जिसकी समझ जितनी ही उत्तम होगी उसके लिए यह ग्रन्थ उतना ही अधिक उत्तम, रहस्यपूर्ण प्रतीत होगा। इसमें जितनी गम्भीरता से सत्य का साकार वर्णन करने में सूक्ष्मदर्शी सारावलोकिनीबुद्धि का परिचय मिलता है, उतनी ही सरलता से परमतृप्तिकर भक्तिभावरसग्राही हृदय की विशालता का दर्शन भी होता रहता है। इस अद्वितीय ग्रन्थ के लेखक सन्त में मस्तिष्क और हृदय की विलक्षण एकता है जिस एकता को प्राप्त किये बिना साधक सिद्धि प्राप्त कर ही नहीं पाता।

'भगवन्नाम संकीर्तन में मन को लगाना ही साधना और मन का लग जाना ही सिद्धि है', इत्यादि, ग्रन्थ के इन उपरोक्त वाक्यों से साधक को कितना बल मिलता है, कितनी स्फूर्ति प्राप्त होती है, इसका अनुभव साधक ही कर सकता है। सन्त कृपालुदासजी ने वेदों शास्त्रों को मथकर परमात्मा के अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य और सौन्दर्यनिधि की इस प्रकार झाँकी दिखाई है कि तर्क की सदा के लिये तृप्ति हो जाती है। इस ग्रन्थ में सन्त कृपालुदास का प्रेम से छका हुआ हृदय मिलता है जो नास्तिकों को भी उस दिव्य रस का आस्वादन कराने में संकोच नहीं रखता। विलक्षण है यह ग्रन्थ और विलक्षण है इस ग्रन्थ के रचयिता।......
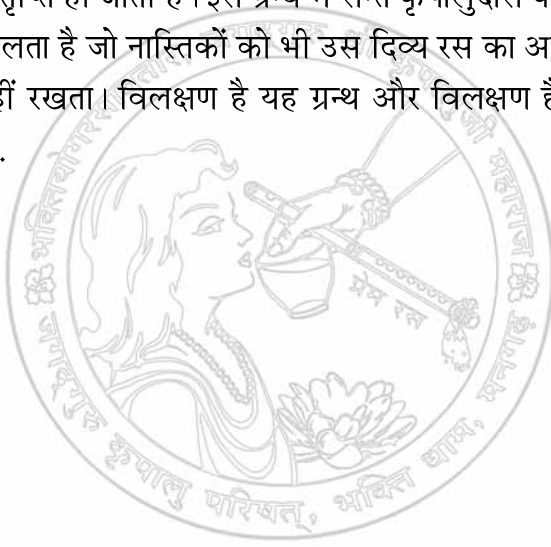
विशेष:-
कृपालु जी महाराज के साहित्य पर अनेक विश्वविद्यालयों में पी.एच.डी. हेतु शोध कार्य चल रहा है। प्रेम रस-मदिरा पर निम्नलिखित शोध प्रबन्ध पी.एच.डी. की डिग्री हेतु लिखे जा चुके हैं।

1. कृपालु दास और उनका काव्य

निर्देशक — *शोधकर्ता*

डा० महावीर सरन जैन — **विष्णु प्रसाद नेमा**

जबलपुर विश्वविद्यालय
जबलपुर
1978

2. कृष्ण काव्य के परिप्रेक्ष्य में श्री कृपालुदास जी के काव्य साहित्य का अनुशीलन

निर्देशक — *शोधकर्त्री*

डा० हरभजनसिंह हंसपाल — **कु० पुष्पलता शुक्ला**

नागपुर विद्यापीठ, नागपुर
अक्टूबर 1995

3. जगद्गुरु श्री कृपालु जी महाराज के साहित्य में संगीत, एक विवेचनात्मक अध्ययन

निर्देशिका — *शोधकर्त्री*

डा० श्रीमती आशा पाण्डेय — **कु० ऋतु रानी राठौर**

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, हरियाणा
फरवरी 2004